राज्यवृक्षस्य नृपति मूल स्कधाश्च मन्त्रिण ।
शाखास्सेनाधिपा सेना पल्लवा कुसुमानि च ।
प्रजा फलानि भूभागा बीज भूमि प्रकल्पिता ॥
(शुक्रनीतिसार ५।१२-१३)

॥ राज्य रूपी वक्ष की जड राजा है, स्कध मन्त्री है, सेनापति शाखाए हैं, सैनिक पत्ते और फूल हैं, तथा प्रजा फल, और भूमि बीज है ॥

लिपि प्रकाशन

॥ भारतीय राजनीति का चरित्र ॥

निर्मूल वृक्ष का फल

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

निर्मूल वृक्ष का फल
॥ भारतीय राजनीति का चरित्र ॥

इस पुस्तक का अंग्रेजी संस्करण 'पावर्टी आफ पावर पोलिटिकल माइंड आफ इंडिया' शीर्षक से प्रकाशित हो रहा है।

मूल्य चालीस रुपये

प्रथम संस्करण सितम्बर १९७८

प्रकाशक
लिपि प्रकाशन
१, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२

मुद्रक शान प्रिंटर्स, शाहदरा दिल्ली ३२

NIRMOOL VRIKSHA KA PHAL
By Dr Laxmi Narain Lal
(A critical study of contemporary Indian politics)
Rs 40 00

धर्मवीर भारती
के लिए

प्रद्विषन्ति परिख्यात राजानमतिखादिनम।
प्रद्विष्टस्य कुत श्रेयो सवृत्तो लभते फलम्।
(महाभारत शातिपव ८७।१६)

।। जो राजा अत्यत अधिक खाना चाहता है, प्रजा उसके विरुद्ध हो जाती है। प्रजा जिससे विद्वेष करे, उसका कल्याण कसे सभव है।।

गत दो-ढाइ दशको से मैं यह बराबर सुनता और देखता रहा हूँ कि—कुछ भी करने चलो, उसमे राजनीति आ जाएगी—कोई भी चीज जो अच्छी खासी चल रही हो, यदि उसे नष्ट करना है, तो उसे राज्य के सुपुर्द कर दो, बस। राज्य और राजनीति, राजनीति और राज्य जैसे मनुष्य और समाज को उसके स्थान से हटाकर उस पर स्वत काबिज हो गए हैं। इस वस्तुस्थिति और सच्चाई के भीतर से जिस दिन मुझे यह प्रश्न अपने आपस प्राप्त हुआ कि, यह जो हमारा वर्तमान राज्य है, राज्यनीति है, यह है क्या चीज ? राज्य के नाम पर जो राजनीति चल रही है, इसका हमारे जीवन से, देश से, समय से क्या रिश्ता है, क्या प्रसग है और क्या अर्थ है ? अगर यह कहना मेरे लिए बडबोलापन न समझा जाए तो मुझे यह कहने की अनुमति दें कि जसे सिद्धार्थ के सामने यह प्रश्न उनके भीतर से उनके सामने आया था कि यह जीवन क्या है, यह जगत क्या है—ठीक उसी प्रकार मेरे सामने मेरे भीतर से यह प्रश्न आया कि यह हमारी राजनीति क्या है ?

यह प्रश्न तब मेरे भीतर अपना पूर्ण स्वरूप नही ले सका था, जब मैं जयप्रकाश का जीवन चरित लिख रहा था या बिहार आदोलन मे जब मैं उनके साथ था। मेरे भीतर इस प्रश्न ने अपना सपूर्ण स्वरूप प्राप्त किया २६ जून १९७५ की सुबह। इस प्रश्न के आमने सामने खडा होकर, इसके साक्षात्कार मे जितना कुछ पढा, सोचा, पाया, खोया, उसे बता पाना कठिन है—शायद असभव है। परतु इस प्रश्न के सदर्भ मे जो पहली बात मेरे हाथ लगी वह यह कि जब तक राज्य समाज के अधीन था, तब तक राजनीति नही राज्यधर्म था परतु जिस समय से राज्य समाज पर हावी हुआ उस क्षण से राजनीति शुरू हुई। जहा जितना अभाव होगा वहा उतनी ही राजनीति होगी। नीति का एकमात्र लक्ष्य है शक्ति हासिल करना। शक्ति का स्रोत और समाज—इनसे धीरे धीरे इनकी शक्ति हथियाकर एक दिन जिस सत्तावादी राज्य का रूप देती है, वहा मनुष्य और समाज

है। विशेषकर आई० आई० टी०, दिल्ली, के समाजशास्त्र के प्राफेसर श्री अमरनाथ पाडे के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हू। उनके सत्सग का ऋण सदा मेरे माथे रहेगा।

नेहरू मेमोरियल म्यूजियम लाइब्रेरी, तीन मूर्ति, नई दिल्ली, मे ही बैठकर मैंने यह काय पूरा किया है। इस लाइब्रेरी के सभी अधिकारियो और काय-कर्त्ताओ के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हू, विशेषकर डा० हरदव शर्मा के प्रति। अपने परिवार और खासकर श्रीमती आरती लाल के प्रेममय सह-योग को स्मरण करता हू जिसके बिना यह काय सभव नही था।

कितने जान-अनजाने लोगो, मित्रो, विद्वानो और मेरे पूवजो और ऋषियो के आशीर्वाद का ही यह फल है। यह अब मेरा नही सबका है—न मम्!

—लक्ष्मीनारायण लाल

अनुक्रम

पहला भाग

दूसरा भाग

निर्मूल वृक्ष का फल

पहला अध्याय

देखना

अपने पूरब के सुदूर गाव से बस्ती कस्बा, बस्ती से इलाहाबाद शहर, फिर दिल्ली, बबई, कलकत्ता, मद्रास महानगरो मे लौटकर फिर जब उन्ही पडावो से अपने गाव जलालपुर पहुचता हू तो पाता हू—इस बीच पूरे पचास वर्ष लग गए। इस लागत से क्या-क्या मिला ? और इस प्राप्ति से क्या-क्या देखा ?

मिला यह कि ज्यो-ज्यो पात चले जाओ, इच्छाए और बढती चली जाती है। अगर इतना ही होता तो भी शुक्र था। मजेदार बात यह कि जो पाया उसे भी पूरा ले नही सका, जो मिला वह महत्त्वहीन हो गया उसी क्षण। जो नही मिला और देख रहा हू कि औरो को मिल गया है, बस, वही चाहिए मुझे, चाहे जो हो जाए।

इस करुण नाटक का मैं ही अकेला पात्र नही हू—सब हैं मेरी ही तरह पात्र। देखा यह कि जो जहा है वहा नही है जहा नही है वही जाना चाहता है।

इसका मूल कारण यह देखा कि यहा दूसरा कुछ है ही नही, सर्वत्र वही एक ही है। तभी सब वही एक, वही समान होना चाहते हैं। सत्य है। पर मेरे इस देश म कितने असख्य लोगो ने कब से आज तक यही बात तो कही है, तरह तरह से कही है। राजनेता, उद्योगपति, विद्वान्, अफसर सबका यही विचार है। फिर भी वही दूसरा होने, और अधिक धनी बनने और अधिक भोगने *के लिए इतनी लालसा ! और वह भी इतनी क्या बढती जाती है ? यह बात* तो समझ म आती है कि इतना मिला और इतना शेष रह गया। पर यह क्या है कि जो मिला वह तो है ही (मतलब मिला ही नही) और मिल जाए, और और और पाने की लालसा उत्तरोत्तर बढती जाए ? लालसा, असतोष, माग, सघर्ष, लडाई, दमन, फिर उस माग की अशत पूर्ति, फिर उससे दुगने वेग की लालसा, माग—एक ओर सतत असतोष बढाना, दूसरी ओर उसस व्यापार करते रहना। मैंने देखा, यही है राजनीति। यह मैं अपनी 'स्वमनीपिका' (न्यायशास्त्र) से नही कह रहा हू—जो जैसा है, जो यथार्थ है, उसे उसी तरह

देखकर कह रहा हू ।

यह राजनीति क्या है ? एक महातत्र (सिस्टम) का कायरूप, माध्यम शक्ति, विधान, व्यवस्था जो हम पर लादी ही नही गई बल्कि प्रजातत्र, लोकतत्र, समाजवाद मानव स्वतत्रता, मानव कल्याण, मानव उन्नति, सामाजिक विकास जैसे भारी भरकम ग्रौर मोहक शब्दो के परम ग्राकर्षक ग्रौर ग्रभेद्य जाल म हमे फास दिया गया ।

यह महातत्र, 'ग्रड सिस्टम' क्या है ? जहा मनुष्य इसके दूसरे छोर पर बल्कि इसके ग्रागे मनुष्य नही है, कोई सामाजिक प्राणी नही है, केवल लेनेवाला या उपभोक्ता है, देनेवाला नही, केवल पानेवाला है। यह महातत्र समस्त विद्या, समस्त शास्त्र सारी कलाग्रो, साहित्य ग्रौर दशन का गुरु है, बाकी सब इसके शिष्य हैं। जो कुछ ग्रब तक हुग्रा है इस शताब्दी मे ग्रौर जितना कुछ ग्राज हो रहा है सब कुछ इसी के इशारे पर, इसी के उद्योग से हो रहा है। यही कर्त्ता है शेष सब उपभोक्ता हैं। यह बहुत बडी मशीन है यत्र है, मनुष्य इसमे केवल एक पुर्जा है। पुर्जा इस मशीन मे ग्रगर ग्रावाज करता है तो उसकी दो ही स्थितिया हो सकती हैं—या तो मशीन की चाल मे पिसकर एक क्षण उसकी ग्रावाज खत्म हो जाएगी, ग्रथवा उस शोर करनेवाले पुर्जे को बदल दिया जाएगा ग्रौर उस बेकार पुर्जे को यह करार दे दिया जाएगा कि इसकी बनावट ही मे कोई दोष है। इसे गला दिया जाए, ग्रौर ग्रगर इसकी धातु ही मे कोई दोष है तो इसे नष्ट कर दिया जाए।

गत बीस-पचीस वर्षों म ग्रपने देश भारतवष के बारे म कुछ विचित्र लेखको की किताबें पढने को मिली—नीरद चौधरी, वी० एस० नायपाल, बुल्फिस्टाइन एरिक एरिक्सन मल्वेन लास्की, ग्रायर कोएस्लर ग्रादि-ग्रादि।

मुझे लगा, ये लेखक नही किसी यत्र स चालित कठपुतले हैं। ये उस ग्रड सिस्टम के लेखक हैं जहा 'नालेज' एक इडस्ट्री' है— नालेज इडस्ट्री !' ज्ञान उद्योग।

तो उस 'ग्रड सिस्टम म राजनीति भी एक इडस्ट्री है। सारा कुछ एक व्यावसायिक उद्योग है, जिसकी बुनियाद व्यक्ति नही, मनुष्य नही इडिविजुग्रल है। इस सन्दर्भ म इडिविजुग्रल क्या है ? 'इडिविजुग्रल ग्रथात् प्रतिस्पर्धी, ग्रसतुष्ट स्वार्थरत ग्रौर ग्रनन्त उपभोक्ता—हर वक्त उस सिस्टम से कुछ न कुछ लेने का लालची भिखारी, या दूसरी ग्रोर ग्रापस म एक-दूसरे की हत्या कर उसकी 'चीज' को हडपनेवाला। लालसा ग्रौर लालसा, माग ग्रौर माग, भय ग्रौर भय हिंसा ग्रौर हिंसा शक्ति ग्रौर शक्ति—यही है उस राजनीतिक संस्कृति का इडिविजुग्रल।

तो यह महातत्र, राजनीति जिसकी ग्रभिव्यक्ति है ग्रौर जिसका साध्य है दूसरे को ग्रपने ग्रधिकार म रखना उसम 'इडिविजुग्रल' का होना [illegible]

है ? इतनी ही बात नही, यह असख्य वर्गों मे बटा है—गाव का व्यक्ति और शहर का व्यक्ति, गरीब व्यक्ति और धनी व्यक्ति, ऊचे वग का, मध्यवग का निम्न वग का व्यक्ति। फिर उच्चवग म इतन वग, मध्यवग मे इतन वग। फिर अलग अलग व्यवसायो मे बटा व्यक्ति—यह उद्योगपति, यह राजनीतिक, यह बुद्धिजीवी यह किसान, यह मजदूर यह दफ्तर का बाबू। मतलब हर इडिविजुअल एक वग है, और हर कोई इस वग सघष का 'मिस्टर अभिमन्यु' है! हर मिस्टर अभिमन्यु एक सिस्टम मे ज म लेता है, उसी म लडता है। उम इस बात का भी भ्रम दिया जाता है कि वह 'सिस्टम' के खिलाफ लड रहा है, वह प्रतिपक्ष मे है, स्वतत्रता समानता उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और यह सोचता हुआ वह एक दिन किसी सडक दुघटना म अस्पताल म या मशीन के पुर्जे की तरह चलते चलते एकाएक समाप्त हो जाता है।

भारतवष मे सन १९४७ के बाद मनुष्य यही इडिविजुअल बनाया जाने लगा। सन १९५२ के बाद वह राजनीतिक बनाया जाने लगा और सन् १९६२ के बाद वह इसान से 'वोटर' हो गया। ऐसा सोचना, निष्कष निकालना और फैसला दे देना यह भी उसी राजनीति की प्रवृत्ति है उसी की देन है—यह भी मैं भारत का साधारण जन देख रहा हू। क्योंकि एक ओर 'इडिविजुअल' को अत्यत महत्त्वपूण और दूसरी ओर उसे अत्यत मूल्यहीन साबित करते रहना यही तो दुहरी चाल है उस 'महातत्र' की नही तो वह किसी दिन रुककर पूछेगा नही कि ऐसा क्या है ? रुकने और प्रश्न करने की स्थिति और अवसर ही न मिले इसमे सहायता दी विज्ञान ने। विज्ञान उस महातत्र का बहुत बडा सहायक है। उसने तरह-तरह की मशीनें बनाई खोजें की युद्ध के सहारक अस्त्र बनाए, हर तरह से मनुष्य और उसके समाज को बाध रखने, अधिकार म कर रखने के खूबसूरत से खूबसूरत उपाय दिए, साथ ही मनुष्य की इच्छाओ को अपार बनाए रखने के लिए उपभोग, और उपभोग के अनत दिखाए और नित नए क्षेत्र खोले। पहले कोई देश बाजार होता था अब इस विज्ञान ने हर व्यक्ति' को बाजार बना दिया। अग्रेजो की ईस्ट इडिया कपनी ने भारतवष को बाजार बनाया, स्वतत्रता के बाद इस देश के हर व्यक्ति को उपभोक्ता बनाना चाहा। अग्रेजों से पहले मुगल राजा, भारतीय नरेश कोई नवाब, कोई शक्तिशाली पुरुष जितना चाहता था ? एक सीमा पर आकर वह अपने ही जीवन म पूछ उठता था—इसके बाद क्या ? क्या है इसके बाद ?

अपने अपने ढग और स्तर म सब अपने इन प्रश्न के उत्तर ढूढ निकालते थे। पर विज्ञान और राजनीति के इस युग म इच्छाए केवल इच्छाए हैं। इच्छाए पैदा की जाती हैं और उनकी पूर्ति के ज्वार मे व्यक्ति इतना व्यस्त

कर दिया जाता है कि वह एक क्षण कहीं रुक ही नहीं सकता। रुकना मृत्यु है। प्रश्न करने की सम्भावना ही मिट जाए यही है लक्ष्य उस महातन्त्र का—विज्ञान जिसका सहायक है राजनीति जिसका परम साधन है।

आधुनिक राजनीति की एक ही प्रकृति है—दूसरे को अपने अधिकार मे रखना। दूसरे' की प्रकृति क्या है? इच्छाओं की पूर्ति, इच्छाओं का भोग नही, केवल पूर्ति। क्योंकि जब तक एक इच्छा पूरी होती है, इस प्रक्रिया मे दूसरी इच्छा स्वत जन्म ले लेती है—भोग का प्रश्न ही नही उठता।

इसलिए दूसरो की इच्छाओं के धरातल से दूसर को अपने अधिकार मे रखने का इसलिए तब एक ही माग है—व्यापार, उद्योग, वाणिज्य। राजनीति का माग व्यापार है, वाणिज्य है, उद्योग है, यह कहना तो बडा अशोभन है। अतएव इस अशोभनीय यथाथ को सुदर चीज स ढकने-सजाने के लिए अग्रेजो ने एक 'चीज़' दी—कहा, यह तो दशन है, जनता का प्रतिनिधित्व। प्रतिनिधित्व की राजनीति। तो सवाल आया प्रतिनिधि कहा से लाया जाए? उत्तर स्पष्ट था, इसे पैदा किया जाए। भारत को नई शिक्षा दी जाए। विशेष अग्रेजी शिक्षा से, प्रेस स अग्रेजी पुस्तको और अग्रेजी विचार और जीवन पद्धति से एक नया वर्गीकरण पता किया जाए—मध्यवग उच्चवग और निम्नवग। उच्चवग प्रतिनिधित्व करे भारत देश का, मध्यवर्ग सरकारी नौकर हो और निम्नवग दोनो वर्गों की सेवा करे।

खुले शब्दो मे भारतवष पर थोपी हुई अपने व्यापारिक स्वार्थों से प्रेरित यही है अग्रेजो की प्रतिनिधित्व की राजनीति। हम प्राय सुनते हैं हमारा प्रतिनिधि कहता है—भाई हम तो प्रजा के सेवक हैं। पर उसे पता नहीं है या शायद पता हो कि वह वस्तुत किसी की गुलामी कर रहा है। किसकी गुलामी? अपनी पार्टी की। सत्ता की गुलामी और अतत अपनी लालसाओ और इच्छाओं की गुलामी।

सन १८३५ मे चाल्स ग्राट ने ईस्ट इडिया कपनी की तरफ मे यहा के बडे बडे पडितो और मुल्लाओं को पकडा और कहा—तुम लोगो के ख्याल से भारतवष का 'विचार' क्या है? पडितो और मुल्लाओं ने बताया। रिपोट मेकाले को दी गई और उसने फसला किया कि अब अपन (अग्रेजी) इंडिया मे विचार मैं पदा करूगा। ऐसा विचार जो अग्रेजी व्यवस्था सिस्टम महातत्र की गुलामी कर सके। मूल म रखी गई अग्रेजी भाषा और इसकी बुनियाद पर दो पौधे रोपे गय—पहला पौधा शिक्षा का दूसरा पौधा विचार का। पहले पौधे से क्लक, बाबू, हाकिम पैदा हुए। दूसरे पौधे से विचारक प्रोफेसर और आई० सी० एस०, पी० सी० एस०, इजीनियस, वज्ञानिक, उद्योगपति, पत्रकार, लेखक, बुद्धिजीवी पैदा हुए।

एक छोटा वृक्ष, एक बडा वक्ष—और दोनो ही निर्मूल।

पहले इस देश को लूटन के लिए अंग्रेजो को तरह तरह के युद्ध और सघष करने पड़े। पर जब एक बार पूरे भारत को अपने अधिकार मे कर लिया तो इसे भीतर बाहर चारो तरफ से हर तरह से लूटने और नष्ट करन के लिए एक पूरी मशीन, एक तत्र पैदा किया। एक ऐसा तत्र जिसस व इस देश पर निरकुश शासन कर सकें और इसे बडे आनन्द से लूट भी सकें।

इस महातत्र की पहली जानकारी स्वामी दयानन्द को हुई और इससे लडने का जो माग उन्होने सोचा उसकी जड यहा तब तक सूख चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा के बावजूद इस महातत्र क दूसरे जानकार गोपालकृष्ण गोखले आए फिर आए गाधी जी। सबका ध्यान उसी शिक्षा पर गया। काशी विद्यापीठ (भगवानदास), गुजरात विद्यापीठ (गाधी), हिंदू विश्वविद्यालय (मालवीय), अलीगढ मुस्लिम युनिवर्सिटी (सर सैय्यद अहमद खा) शातिनिकेतन (टैगोर) अपनी राष्ट्रीय शिक्षा और भारतीय विचार के घरातल पर सबने मिलकर उस अंग्रेजी तत्र मे लडना चाहा पर तब तक वह तत्र इतना बडा महातत्र बन चुका था कि उसकी शक्ति के आगे सब कुछ शक्तिहीन साबित हुआ। आज भारतवष मे *अब भी वही महातत्र कायरत है। बल्कि आज ज्यादा व्यापक और सूक्ष्म रूप* इसन अख्तियार कर लिया है।

आर्थिक ढाचे के साथ ही साथ शिक्षा का ढाचा बदलता है। इन दोनो की सफलता राजनीतिक व्यवस्था मे परिवतन के साथ ही सभव है। और सारा फल निभर है इस बात पर कि मनुष्य के मूल्यो और आदर्शो मे, मतलब उसके हृदय मे बुनियादी परिवतन हो—सत्य की इस सपूणता को गाधी ने समझा क्योकि उन्होने उस महायत्र को उसकी सपूणता और व्यापकता मे देख लिया। इसीलिए उस सपूण महातत्र के खिलाफ सपूण युद्ध लडते हुए सपूण रूप स एक सपूण भारतीय जीवनतत्र की रचना गाधी कर रह थे अपने विचारो से। अपने उन विचारो का अपन जीवन मे जीकर, उनके निजी प्रयोग कर गाधी चले गए। पर अभी शेष है सपूण गाधी का सपूण जीवन व्यवस्था मे प्रयाग।

गाधी का मैंने जितना कुछ दखा पढा है उससे मुझे लगा है कि गाधी चुपचाप इस देश से कह रहा है कि इस महायत्र के खिलाफ लडने और इसकी जगह नई रचना के लिए सपूण क्राति अनिवाय है, पर क्राति की प्रकृति और उसके साधनो मे क्राति कही ज्यादा अनिवाय है।

मैंने दखा है, सन् १६५२ से सन १६६६ और आज भी बार-बार हर अवसर पर उस महातत्र मे बठनवाले प्रतिनिधि ढूढे जाते हैं। लेकिन उनकी तलाश नही की जाती जो इस महातत्र को ही बदल दें। पर यह काम तत्र का नही है—यह आत्मविनाश का काम स्वय तत्र क्यो करे ? यह काम है देखने वालो का। जो एक बार सपूण यथाथ को देख लेता है वह कर्त्ता हो जाता है। पाणिनि ने कर्त्ता की परिभाषा की है—कर्त्ता अर्थात स्वतत्र।

स्वतन्त्र किससे ? भय से । भय, अर्थात अंधकार, भ्रम । भ्रम, अर्थात न देख पाना । न देख सकने के कई उदाहरण हमें प्राप्त हैं। पहला है धर्म का उदाहरण, जब अधर्म अपनी चरमसीमा पर पहुंच जाता है तो धर्म की पुन प्रतिष्ठा के लिए ईश्वर का अवतार होता है । तब पुरानी व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन भगवत कृपा से हो जाता है । यह भारतीय उदाहरण है ।

दूसरा उदाहरण फ्रांस और इगलैंड का है—क्रांति के नाम पर समानता, स्वतन्त्रता और बधुत्व का दर्शन । इसके लिए राज्यक्रांति। और इस क्रांति से जो राजनीति निकली वह यह कि युद्ध करे आम आदमी, साधारण जनता, और उसका लाभ उठाए ऊपर का आदमी । मरे गाव, फायदा उठाए शहर । तबाह हो गरीब, पार्निथामट पर कब्जा हो अमीरो और ताकतवरो का ।

तीसरा उदाहरण है—मार्क्सवादियो का—व्यवस्था मे ही बुनियादी परिवर्तन हो । पूरी व्यवस्था मजदूरो के हाथ म । मैंने देखा है कि मजदूर मशीन चलानेवाला तो होता है, पर उसके नाम पर व्यवस्था चलती है ऊपर के कुछ एक ही दो परम शक्तिशाली व्यक्तियो के हाथो । वर्ष मे एकाध बार यह प्रहसन जरूर खेल दिया जाता है कि सत्ता मजदूर के ही हाथ मे है ।

चौथा दिलचस्प उदाहरण यह है कि सारी क्रांतिया मानसिक असतुलन, विकृति, उन्माद के कारण हैं अत इनसे सावधान रहो—यह अमरिका की देन है ।

क्रांति या परिवर्तन के विषय म ये चारो विचारधाराए चार प्रकार की व्यवस्थाओं से निकली हैं । क्रांति या परिवर्तन के नाम पर एक व्यवस्था के भीतर से केवल दूसरी व्यवस्था आ जाती है । अक्सर होता यह है कि केवल व्यक्ति बदल जाते हैं, व्यवस्था वही रह जाती है ।

पूरी व्यवस्था म ही परिवर्तन हो जाए इसकी पूरी तयारी इस पर विचार और चिंतन गाधी ने किया था, पर अब तक इसका प्रयोग नहीं हुआ । यह उसी महातन्त्र, उसी 'ग्रड सिस्टम' की विजय है जिसके खिलाफ गाधी लडते हुए शहीद हुए ।

व्यवस्था मे ही परिवर्तन हो जाए इसका अकेला उदाहरण माओ ने अपने देश चीन मे प्रस्तुत किया ।

पर हमारे यहा पहले राजधर्म के अतर्गत इस विषय पर बहुत ही गभीरता स विचार किया गया है । व्यवस्था मे परिवर्तन को प्रज्ञा का अवतार कहा है—यह प्रज्ञा का अवतार द्रष्टा, मनीषियो द्वारा इकट्ठा किया गया मधु है । भीष्म ने महाभारत म कहा है कि यह प्रज्ञावतार किसी एक शास्त्र से बोधगम्य नहीं है । इसके लिए सपूर्ण का देखना होगा—प्रज्ञावतार को मैं अपने समय के प्रसग मे 'सकल्प' शब्द देता हू । पहले परिवर्तन का सकल्प हो, फिर अपने देश काल समाज की परिस्थितियो के भीतर से उस यथार्थ को देखना होगा कि इसके पीछे

सत्य क्या है ?

सत्य एक बीज है—जिसमे स उसका वक्ष उगता है। वक्ष उसी बीज का सत्य है, जसे वक्ष का फल उस वक्ष का सत्य है। हमार यहा खड का नाम सत्य नही है। हमार यहा अखड, सपूण ही सत्य है।

इसे देखना होगा जैसे नाटक मे पात्र या चरित्र को देखा जाता है। अब तक मैं नाटक के चरित्र को देखता था—उसके मूल म जाकर उस देखता था और फिर उसे समझन की कोशिश करता था। आज पहली बार मैं व्यवस्था, सिस्टम या तत्र के भीतर पैदा हुई भारतीय राजनीति को एक चरित्र के रूप म दखन चला हू। देखना सदा प्रकाश मे होता है। पर विचित्र अनुभव यह है कि जितना दखा उतना ही प्रकाश है। वही प्रकाश उतना ही प्रकाश मेरा सत्य है।

कहते है कि माओ जब लनिन स मिल और अपन देश चीन म क्राति के लिए उनसे कुछ सहायता मागी तो लेनिन न माओ स कहा—दखो कामरड, अभी तुम्हारे देश म क्राति करन की परिस्थितिया नही पदा हुई हैं। (मतलब पहले चीन म औद्योगिक विकास हो, पूजीवाद का विकास हो फिर प्रजातत्र, फिर क्राति, तब समाजवाद आएगा।) माओ ने लेनिन को दो टूक उत्तर दिया कि यह आप मुझे बताएगे कि मेरे देश म क्राति की परिस्थितिया कब पदा होगी, और तब आप हमारी सहायता करेंगे। कमाल है।

माओ चुपचाप अपने दश लौट गए। अपने नगर म जाकर वह जूते सिलन का काम करन लग, वे अपन लागो के बीच मे रहत, लागो को खासकर बच्चो को पढाते कि देखो समाज कैसे बनता है—इस कौन कस चलाता है मनुष्य क्या है, इसकी ताकत क्या है आदि।

ठीक यही काम गाधी न किया अफ्रीका के अपने अनुभवा के बाद इस दश म। गाधी ने दिखाया कि देखो अग्रेजियत, उसकी सारी व्यवस्था मनुष्य को किस तरह एक आयामी (वन डाइमशनल) बनाती है—सब एक मशीन के पुर्जे है।

बर्ट्रेंड रसेल ने सन १९३० के आसपास इगलड म वहा की पढी लिखी युवा पीढी का अध्ययन कर यह पाया कि चूकि इगलड म सामाजिक आर्थिक, शक्षणिक क्षेत्र मे कुछ खास करने का नही है इसीलिए यहा की युवा पीढी 'सिनिसिज्म' मे इतनी डूब रही है।

आज मैं भी दखता हू कि वतमान भारतवष म चारा तरफ, हर क्षेत्र मे जहा इतना कुछ करन का है वहा हमारी युवा पीढी इस कदर 'सिनिसिज्म' मे क्या डूब रही है ? यह कसा समाज है हमारा, जहा महात्मा गाधी काल माक्स माओ लोहिया, जयप्रकाश सब कुछ मूर्तिपूजक हिन्दूधम मे बदल दिया जाता है।

मैंने अनुभव किया है कि भारतवष का वतमान राजनीतिक सघष मूलत राजतत्र और उपभोक्ता समाज के बीच का आपसी सघष है। यह अभाव से

पैदा हुआ है—हर तरह का अभाव हर क्षेत्र में अभाव से। और मेरा विश्वास है अभाव की पूर्ति कभी नहीं होती जैसे इच्छा की पूर्ति—विशेषकर जब उस अभाव उस इच्छा का नियामक और सचालक कोई तन्त्र हो, व्यवस्था हो, या कोई भी दूसरा हो।

यह उस महातन्त्र जनित राजनीति की साजिश है जो जनता से कहती है—'क्रांति करो' 'परिवर्तन करो'। पर वह यह कभी नहीं चाहती (हालांकि कहेगी, कहती रहती है) कि मनुष्य में, उसके जीवन में, विचारों और उसके भीतर कभी क्रांति हो परिवर्तन हो।

देखिए न, पूंजीवाद ने विकास, कला, दर्शन स्वतन्त्रता, समानता, प्रजातन्त्र के नाम पर जो भयकर शोषण कर रखा है, उसकी कोई और मिसाल है? यह पूंजीवाद की ही देन है बल्कि धोखा है कि इस पूंजीवाद का जवाब केवल बदले से ही सम्भव है।

मैंने देखा है, भूख चाहे वह धन की हो, या शक्ति की या भोग की, मनुष्य की मूल (बीज) प्रवृत्ति नहीं है। यह दरअसल उस व्यवस्था या राजतन्त्र देता है। मिसाल के तौर पर अंग्रेजों से पूर्व भारतवर्ष के गांव की जमीन, खेत धन, पूरे गांव की सम्पत्ति थी। पर अंग्रेजी व्यवस्था ने जब सम्पत्ति पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार देकर भारतीय ग्राम समाज की रीढ़ की हड्डी तोड़ी तभी से गांव के हर व्यक्ति में वह 'भूख' पैदा हुई। अपने परिवार के प्रति ही इतना मोह, सम्पत्ति मोह में ही अपनों से सतत बटने-बांटने की विवशता और अतत स्वय से बट जाने, टूट जाने की चरम परिणति, यह है उस तन्त्र की राजनीति। हमने इस भूख, इच्छा शक्ति के रहस्य को देखा है और इसका नैतिक नाटक भी देखा है।

धर्म, अर्थ और काम अर्थात हमारी आज की भाषा में नियम मूल्य मर्यादा धन सम्पत्ति, और शक्ति—जीवन के यही तीनों आयाम हैं—जीवन का त्रिवर्ग है यही। महाभारत में धर्म बनाम धर्म, धर्म बनाम अर्थ, धर्म बनाम काम के ही सवाल पर संघर्ष छिड़ा। व्यास ने युधिष्ठिर के चरित्र के द्वारा कहा—धर्म के अनुसार अर्थ और काम का पालन परिचालन करो तभी आनंद फल मिलेगा। भीम ने कहा—कतई नहीं, यह गलत है। इच्छा, कामना ही मूल प्रेरणा है सारे कर्मों की। भीम ने उदाहरण दिया—देखो न इच्छा से ही तो पुरुष (प्रीमोडियल मैन) बना। इच्छा बीज से ही तो संसार वृक्ष बना। इच्छा ही है धर्म, अर्थ और काम के पीछे एकमात्र प्रेरक तत्त्व।

बात ठीक है। तो देख लो इच्छा का नाटक। महाभारत का युद्ध हुआ। *परिणाम क्या निकला? प्रश्न और प्रश्न। सब गए शरशय्या पर पड़े भीष्म के* पास। भीष्म ने दिखाया कि जो धर्म अर्थ और काम तीनों पर समान रूप से हर समय सर्वत्र तीनों पर एक साथ बल देकर कर्म करता है मतलब जीता है,

वही है 'सफल'।

आधुनिक युग ने उन्ही तीनो को एक दूसरे से किस कदर कितना अलग कर दिया धम (गाधी), अथ (मार्क्स), काम (फ्रायड)।

जब कि सच्चाई यह है कि तीना एक ही जीवन-सत्य के तीन आयाम है। तीना परस्पर अविभाज्य हैं। ठीक जसे धम, विनान और राजनीति तीनो एक ही जीवन सत्य के तीन पहलू हैं—किसी एक पहलू, तत्व के बगर दूसरा निरथक है, मूल्यहीन है।

मेरे 'देखने' 'कहने' से कोई यह अथ न निकाल ले कि मैं परिवतन' के बल्कि 'क्राति' के खिलाफ हू। और स्पष्ट कर दू—अगर कही कोई भूमिहीन किसान है अभाव मे पडा कही भी कोई गरीब, शोषित प्राणी है तो उसे जिसके पास अतिरिक्त है, ज्यादा है उसमें जबरन छीन लेना है। पर साथ ही मेरा यह कहना है कि छीनते समय सशस्त्र धावा बोलत समय उसे यह अनुभव करना है कि वह जो कर रहा है उसका कर्ता वह स्वय है, ताकि वही उसका भोक्ता बन सके।

अगर वह अपने कम का स्वय कर्त्ता नही है तो यह राजनीति है—बाहर से खूबसूरत पर भीतर स एकदम बदसूरत, धोखेबाज राजनीति—अपने यहा के विविध आदोलना, ट्रेड यूनियन के कर्मों यहा तक कि भूदान जैसे आदोलन मे यही देखने को मिला है।

मैं इन पक्तियो को लिखकर इस सच्चाइ से अपने आपको किसी तरह से भी अलग करने की कोशिश नही कर रहा हू मैं भी समान रूप से इसका हिस्सेदार हू। पर दखने', चलने' से पहले एक बार फिर कहना चाहता हू कि जितना जो कुछ देखा या दिखा मुझे, उतना और वही मरा सत्य है। पर यह नही कहता कि वही सपूण सत्य है। सबका अपना अपना सत्य है, जिसने जितना देखा पाया, उतना उसका सत्य। पर सबसे मिलकर, सबसे जुडकर जरूर एक सपूण सत्य होता होगा इसी आस्था और सकल्प मे उस देखने निकला हू।

दख रहा हू कि सब सत्य को तलाश रह हैं। मतलब कभी सत्य था अपनी मुट्ठी म पर कही खो गया, गिर गया राह म सो सब तलाश रह हैं अपने अपने ढग से, अपने अपने साधना से। हर युग ने अपने-अपने ढग से उपायो से उसे ढूढने का प्रयत्न किया है। पहली तलाश हुइ धम के सहारे। फिर आया विनान। और अब आई राजनीति। एक न दूसरे का अपूण कहा। मतलब दूसरे को अपूण कह बिना अपने आपको सपूण कम साबित किया जाए?

पर यह सच है कि धम, विनान और राजनीति मे एक दूसरे के प्रति विरोध भाव है। यही नही बल्कि धर्म, विज्ञान और राजनीति इन तीनो मे अपना-अपना भी आत्मविरोध है। इसी विरोध आत्मविरोध से असीम सामाजिक अहित हुआ है और निरतर वह अहित बढता जा रहा है। जो चीज, जो बात

विनान म सत्य घोषित हुइ उम धम न कहा यह असत्य है। जो धम ने सत्य कहा, उसे विज्ञान ने असत्य, झूठ साबित कर दिखाया। धम ने जिस श्रद्धा को, विनय और पवित्रता को सत्य वचन, शुभ काय, करुणा, दया, समानता और स्वतन्त्रता का महत्त्वपूण माना, राजनीति न कहा—यह सब भावुकता है, राजनीति मे इसकी कोई गुजाइश नही। राजनीति का लक्ष्य है सत्ता शक्ति हासिल करना चाहे जैसे भी हो।

धम मे 'असत्य' आध्यात्मिक मत्यु है। विनान म असत्य विनाश है और राजनीति मे असत्य के लिए फिलहाल कोई दड नही है। सिफ इतना है कि हर बडी शक्ति, छोटी शक्ति को दबाकर चली जाती है।

हमारे समय की विपत्ति यह है कि हम दो विरोधी रास्तो पर एक साथ चलना चाहते है। चाहत हैं राजनीति भी हो और धम भी हो। धम भी हो और विज्ञान भी हो। यही वह विराध भाव है जिसके अभाव म पहल हमन इतने विशेष कम किए—इतनी विशेष उपलब्धिया हमने प्राप्त की। पर अब जो कुछ भी विशेष करेगा वह राज्य करेगा व्यक्ति अब भीड का एक हिस्सा मात्र है। विनान ने राज्य के लिए जो एक महायत्र बनाया है, उसम हम लाग एक पुर्जा मात्र हैं।

धम और राजनीति म पारस्परिक विरोध विज्ञान और धम के पारस्परिक विरोध से भी बडा है। दुनिया के किस धम म यह लिखा है जो आज किसी भी देश का राजनेता और वहा की राजनीति कर रही है—धाखा तिमम प्रतिद्वन्द्विता, कठोर दमन झूठ का साम्राज्य दूसरा को हानि पहुचाकर अधिकतम लाभ प्राप्त करने का अधिकार और प्राप्त सुविधाओ का एसा उपयोग और प्रदशन कि मनुष्य और मनुष्य के बीच का अतर उत्तरात्तर बढता जाए? यह किस धम को स्वीकार था ' आय धम को ? हिंदू धम का ? ईसाई धम को ? मुसलमान धम को ? नही, यह किसी भी धम को स्वीकाय नही था। पर आज सारा ईसाई धम, हिंदू धम, मुसलमान धम उसी राजसत्ता की कृपा और सरक्षण म न जाने कैसे जी रहा है और अपने आपको धार्मिक कह रहा है।

मैंने देखा है इस भयकर झूठ विश्वासघात म हमारे समय की आग बुझ रही है। मुझे आज की राजनीतिक व्यवस्था ने यह खाखला अधिकार तो दे दिया है कि मैं व्यवस्था के विरुद्ध अपने विचार प्रकट करू, पर उसके गलत कामो मे हस्तक्षेप न करू। यह सच्चाई एक ओर तो हम निरा बातूनी बना रही है, दूसरी ओर हममे अपराध भाव और पलायन का भाव भर रही है।

स्पष्ट है जो भी धम अथवा दशन आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल हागा वह विनान की नजरो म केवल पाखड और दभ बनकर रह जाएगा। और जो धम विनान राजनीति के प्रतिकूल होगा वह राजनीति की नजरो म एक एसी बेमतलब वाहियात चीज होगी जिसे जल्दी से जल्दी खत्म कर दिया जाना

चाहिए।

मैं स्वाथवश यह कहने को विवश हुआ हू कि यदि हम मानव प्रगति का दृढ आधार सुरक्षित रखना चाहते हैं तो धम, विज्ञान और राजनीति के बीच की समस्त विसगति को देखकर उसका अत किया जाना चाहिए, जिसस व्यक्ति को पुन मानव की प्रतिष्ठा मिल सके।

सयाग या मनुष्य के भाग्य से भारत मे एक धममूलक दशन और जीवन व्यवस्था अब भी प्रस्तुत है जो असाधारण रूप से विज्ञान के और मूल्यनिष्ठ राजनीति के अनुकूल है। उस धममूलक दशन और जीवन व्यवस्था स एक नीतिशास्त्र विकसित हुआ है जो न्यायपूण, मानवीय और सामाजिक है, जिसमे व्यक्ति कल्याण सर्वोपरि है। हमारा बुनियादी धम, दशन, शुद्ध रूप स सामाजिक, वज्ञानिक और मानवीय है। यह कतई आध्यात्मिक नही है।

वेदात का परमात्मा (ईश्वर नही) मनुष्य की कल्पना द्वारा उत्प न अथवा मानवरूप आरोपित परमात्मा नही है। यह प्रकृति विज्ञान तथा भौतिक शास्त्र की विकास सबधी और आणविक शक्ति की सचाइया के बहुत नजदीक है।

आज हमे कितने भी राजनीतिक अधिकार क्या न मिल जाए और वे अधिकार कितने भी महान क्या न हो, पर वे तब तक प्रभावहीन और निरथक है जब तक उसके लिए आतरिक रूप म कानून और नियम का काम करनेवाली अपनी निजी सस्कृति न हो। सास्कृतिक नियत्रण के बिना केवल भौतिक अधिकार का अत व्यापक भ्रष्टाचार, हिंसा और भयकर असतोष मे होना अनिवाय है।

गीता, उपनिषद, बौद्ध धम शुद्ध रूप से मानवशास्त्र, नीतिशास्त्र ह जिसका आधार ही है मानव कल्याण। गीता बताती है कि स्वधम, अपने नियत कर्मों को करना सच्चे अथ मे परमात्मा की उपासना करने से तनिक भी कम नही है।

आज की अधिकतर राजनीति, और उसका शासन तत्र राजतत्र, केवल शक्ति, भय और दड पर आधारित है। इसमे से मनुष्य नही पशु पदा होगा। अगर हम चाहते हैं कि राजनीति मे स मनुष्य पदा हो तो राजनीति मे से राजतत्र नही प्रजातत्र नही, लोकतत्र को उदय देना होगा और लोकतत्र के उदय के लिए धमपरक जीवन का निर्माण करना होगा जिससे कम और कतव्य-पालन म ही आनन्द होता है। कम स्वधम से जुडकर सामा य से विशेष हो जाता है।

उपनिषद, वेदात भारत की मूल सस्कृति है। हमारी जिन्दगी इसी बुनियाद पर खडी है (उपनिषदो की मूल दृष्टि) कि मनुष्य इद्रिय सुख, सपत्ति तथा ससार के पदार्थों से अथवा वेदो द्वारा नियत यज्ञादि कर्मों स स्वर्गादिक बडे सुख प्राप्त कर लेने पर भी, स्थायी सुख नही प्राप्त कर सकता। सुख केवल से, मुक्ति केवल ज्ञान से, तथा ज्ञान कर्म और भोग को स्वय देखने से प्राप्त हो

सकता है।

यहा 'दखने का अथ है सशय का पूण निवारण, यही है सत्य की पूण अनुभूति। स्वय को (आत्मा) देखन के लिए बुद्धि और जिनासा पर्याप्त नही है। जीवन की साधुता और पवित्रता आवश्यक है। आखें होते हुए भी हम देख नही पाते इसका कारण अज्ञान नही है हमारी इच्छाए और आसक्तिया है। पर यह भी बडी विचित्र बात है—इन्ही इच्छाओ कामनाओ और आसक्तिया के भोग के माध्यम से हम सत्य का 'देख' पाते हैं।

मैंने खुद देखा है, साक्षी रूप मे मुझे यह गवाही देनी पड रही है वरना मुझे क्या पडी थी इस विषय को लू।

पर मम की बात यह है कि वह भोग जब कत्ता रूप मे मैं स्वय करता हू तभी देखना सभव है, अन्यथा वह भोग नही बहना है। जो वह रहा है, वह देख नही सकता, क्योकि वहा कोई कत्ता नही है—बहना क्रिया नही है, प्रतिक्रिया है।

छादोग्य उपनिषद मे वही एक प्रश्न पूछा गया है कि यह जगत क्या शून्य से ही उत्पन्न हुआ है? उद्दालक ऋषि ने उत्तर दिया—नही, यह नही हो सकता। शून्य म शून्य ही निकल सकता है। असत मे सत कैस पैदा हो सकता है? इसलिए हमे मानना ही पडेगा कि प्रारभ मे, आदि म चिन्मय परमात्मा ही था। चलो, उसका नाम रख लो सत। तो उस सत ने अभिव्यक्ति की इच्छा की और वह प्रकाश, जल तथा अन्य जीवधारियो के रूप मे परिणत हो गया। वही सत तब स अब तक और अब भी बहुगुणित और विस्तृत हो रहा है।

श्वतकेतु न अपने पिता उद्दालक से पूछा—कमाल है इतना विराट विशाल विश्व और जगत इतनी सरल शैलि स कैसे पैदा हो सकता है?

उद्दालक ने कहा—बेटे, उस बरगद वक्ष का एक फल ले आओ।

—यह लीजिए।

—फोडो इस।

—फोड दिया।

—इसके अदर तुम्हे क्या दिखाई दिया?

—छोटे छोटे ढेर सारे बीज।

—अच्छा, एक बीज को फोडो।

—फोड दिया।

—क्या दिखाई पडा?

—कुछ नही शून्य।

ऋषि न कहा—इस छोटे स बीज की जिस अणिमा का तुम नही दख सके उसी म इस विशाल वक्ष का अस्तित्व था।

धम, विनान और राजनीति का परस्पर विरोधभाव, और उस विरोध

भाव के कारण जा सामाजिक-वैयक्तिक ग्रहित हो रहा है, उस रोकन के लिए धम का नीतिशास्त्र महत्त्वपूण है। उस नीतिशास्त्र का ग्राधार है ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा का सबध। जीवात्मा ग्रौर परमात्मा का सबध समझ लने पर हमम विभिन्न प्राणियो के बीच भि नता का भाव नही रह जाता। भिन्नता के भाव से मुक्त होना जानकारी प्राप्त करन की क्रिया नही है, वरन ग्रवस्था का परिवतन है—जैसे नीद से जग जाना। उपनिषद यही तो कहता है—उठो जागो, उठो।

मतलब नीद स जगकर देखो कि तुम क्या इस कदर हस रहे थ रो रह थे। देखो कारण पकडो ग्रौर मुक्त हा जाग्रो, जिसकी वजह से तुम्ह कभी इस कदर हसना पडता है ग्रौर इस कदर रोना पडता है। क्योंकि य दोना ग्रवस्थाए मनुष्य की नही हैं। य दोनो ग्रवस्थाए ता किसी की प्रतिक्रिया है। जागो, देखो इम। निद्रा स जागना सरल है। परतु सासारिक जीवन की घोर निद्रा (न देख पाना) से जागना सरल नही है। इसके लिए सबस पहले जागने की इच्छा हृदय म व्याकुलता उत्पन कर दे। फिर निरनर सतक रहा जाए। वह सतकता वसी, जसी कि रस्सी पर खेल दिखानवाल नट की होती है। एक बार रस्सी पर ग्रपना तौल साध लेन के बाद वह उस पर सो नही सकता।

भेदभाव के जगत म फिर जा पडन स ग्रपनी रक्षा करन के लिए ग्रपन ऊपर सदा चौकसी रखना ग्रावश्यक है—यही तो धार्मिक, वैज्ञानिक ग्रौर राजनीतिक महात्मा गाधी न किया था—ग्रौर यही तो है वदात का, बौद्ध धम का मानव नीतिशास्त्र। धम का कम विधान यही तो है। हम स्वाथ स प्रेरित होकर ग्रस्थायी सुखो को खोजते ग्रौर उन्हें प्राप्त करने के लिए ग्रनेक उपाय करत है उन्ह पाकर हम खुश हो जाते हैं, खोकर हम दुखी हा जाते है। पर ग्रगर हम यह दख लें कि मेर दुख ग्रौर सुख का कारण कही ग्रयत्र है वह कुछ ग्रौर ही है जो मुझे इस तरह ग्रस्थायी तौर पर दुखी सुखी बना रहा है ता हम राजनीति से ऊपर उठकर ग्रपन ग्रामने सामने ग्रा खडे होगे—ग्रौर वहा तब न काई दुख हागा न सुख। वहा तब केवल होना होगा, बनना नही पडेगा। वहा मैं खुद होऊगा ग्रपना कत्ता।

कर्ता जो सचेत है हर क्षण जगा है। सब कुछ जा करता भोगता हुग्रा देख रहा है। उसके लिए सब कुछ ग्रपना है क्योंकि कुछ भी ता ग्रपना नही है—यही ता वह देख रहा है।

यह देखना धम, विज्ञान ग्रौर राजनीति म समान रूप से क्या मूलाधार नही? धम विज्ञान दोनो इसी देखन पर टिका है। पर भारतीय राजनीति ग्रब तक निराधार है। यह सोचती है कि यह शक्ति पर टिकी हाती है। पर शक्ति किस चीज पर टिकती है? शक्ति कही नही टिकती वह हर क्षण बहती है, दौडती है भागती है जो इसे पकडकर रख लेना चाहता है वह विनष्ट

कर खड़ा हो जाए तो क्या होगा ? वृक्ष कहे कि मैं अपने फल को अपने से अलग नहीं होने दूंगा, तो क्या होगा ?

सड़े फल का बीज नष्ट हो जाता है। सूखे फल का बीज सूख जाता है। असली स्वस्थ बीज पूरी तरह पके हुए रसमय फल के भीतर ही तैयार होता है। वही बीज फिर पृथ्वी में जाकर नया वृक्ष जनता है।

राजनीति में जनता का असली अर्थ यही है। राजनीतिक पुरुष की फलासक्ति जब संपूर्ण होती है तो उसके कर्म बीज को जनता अपने खेतों में (जीवन में) बोती है कृषक जनक हो जाता है और उसकी धरती से सीता जैसी शक्ति निकलती है।

सीता एक शक्ति थी—वह राम की थी न रावण की। पर जिस क्षण शक्ति को कोई एक हथियाकर रख लेना चाहता है उसी क्षण से नंगी राजनीति, शक्ति की राजनीति शुरू होती है। फिर उस राजनीतिक संघर्ष में कोई किसी को अपने स्वार्थ में धर्म का सहारा लेकर वनवास देता है कोई किसी की बहन के नाक-कान काटता है कोई बदले में उसकी पत्नी का उठा ले जाता है। युद्ध होते हैं। जल जाता है सब। शक्ति विवश होकर राजनीति के दोनों दलों पक्ष और प्रतिपक्ष में असंतुष्ट होकर फिर उसी धरती में समा जाती है जहां से निकली थी।

शक्ति उस पृथ्वी में पड़ी पड़ी फिर किसी ऐसे जनक किसान की प्रतीक्षा कर रही है अब तक कर रही है, जो उसे जन्म ही न दे केवल बाहर ही न लाये वरन् उसकी रक्षा करता रहे, ताकि वह किसी एक राम के हाथ में न पड़े। शक्ति तो समान रूप से सबकी है—जितनी राम की, उतनी ही रावण की। रावण को रावण इसीलिए बनना पड़ा क्योंकि राम ने उसकी समानता छीन ली। जन्मसिद्ध अधिकार है सबका, जो कुछ यहां है वह सबका है, सब समान है क्योंकि सब ईश्वर है। यह सत्य धर्म है।

राजनीति को इसी अर्थ में धार्मिक होना होगा—राजनीति का धार्मिक होने से मतलब है राजनीति मानवीय धरातल पर वैज्ञानिक होगी। अगर राजनीति का धर्म और विज्ञान से सहयोग नहीं है तो अकेली, नंगी राजनीति केवल हिंसा है, आत्मघात है विनाश है। शक्ति हमारे यहां दैवी विभूति मानी गई है। और शक्ति प्राप्त करना ही राजनीति का लक्ष्य है। पर वर्तमान राजनीति शक्ति को दैवी विभूति नहीं मानती। क्योंकि यह 'बाहर' पर टिकी होती है। तभी इस राजनीतिक शक्ति के साथ उसी अनुपात में भय जुड़ा रहता है।

पर यह सच है जहां भय है वहां शक्ति नहीं है। वहां केवल अहंकार है। शक्ति हमेशा नैतिक, आत्मिक होती है। तभी इसे दैवी विभूति माना गया। शक्ति को 'ब्रह्म की कला' कहा गया। ब्रह्म का जो 'डाइनमिक' रूप है

वह शक्ति और 'काल' इन्ही दो स्वरूपों में देखा गया है।

इस शक्ति का इस्तेमाल केवल लोक-कल्याण के लिए हो अन्यथा यह जला डालेगी, जिसके पास है उसी का सहार कर डालेगी। इसी के उदाहरण म हमारी तमाम पुराण कथाए हैं। शक्ति का इस्तेमाल लोक कल्याण के लिए हो, इसीलिए राजधर्म, अर्थनीति, राजनीति पैदा की गई।

पर जब 'धर्म' और 'नीति' गायब हो जाती है और केवल 'राज' मतलब केवल शक्ति' रह जाती है, तो एक भयकर चुनौती समाज देश और समय के सामने आती है।

वह चुनौती आज सामने है।

इस चुनौती से आख मूदन और भागने का एक उदाहरण है— सर्वोदयी, गाधीवादी और कुछ हद तक समाजवादी, जो कही इसी शक्ति से डरते हैं। जसे मानते हैं कि शक्ति के स्पर्श मात्र से वे भ्रष्ट, बदनाम और पतित हो जाएग।

जो सुपात्र है, वह शक्ति को छून से डरे, जो कुपात्र है, वह शक्ति को दबोचकर रावण की तरह भाग जाए, तो ऐसी विषम स्थिति म शक्ति का क्या हो ? वह कहा जाए ? रावण से उस सीता शक्ति को वापस लेन म राम रावण युद्ध हुआ था राम के पक्ष म सारा 'लोक' था, रावण के पक्ष म सारा 'राज' और अत मे जीत राम की हुई और शक्ति वापस ले आई गई अयोध्या।

'शक्ति स्वय कुछ नही करती, जैसा होगा कर्त्ता, शक्ति वही क्रिया करेगी, जसा होगा पात्र शक्ति उसी पात्रानुसार रूप धारण करेगी। शक्ति से दूर रहना, सयास लेना या शक्ति को दबोच लेने के प्रयत्न म रहना ये दोनो प्रतिवाद हैं। ये दोनो प्रतिक्रियाए हैं जिसके मूल म भय है, आत्मविश्वास की कमी है और निश्चित रूप से 'शक्ति' की प्रकृति, मर्यादा उसकी ताकत और स्वभाव के प्रति नासमझी है।

व्यास और गाधी ने खूब समझा और देखा है शक्ति को। इस समझ से एक ओर निकला है व्यास का राजधर्म और गाधी की 'सावजनिक राजनीति'। राजधर्म के उत्कृष्ट उदाहरण हैं राजा जनक, विदेह, पर महात्मा गाधी की राजनीति के सामान्य राजपुरुष तक का अभी तक कोई उदाहरण नही है।

राजधर्म के उत्कृष्ट उदाहरण राजा जनक और उनकी शक्ति उनकी बेटी है सीता। यह उन्हे तब मिली है जब वह खेत जोत रहे थे, साधारण किसान की तरह।

जनक धर्म, ज्ञान और कर्म तीनो के अनन्य उदाहरण हैं। इन तीनो का समन्वय था उनके व्यक्तित्व मे तभी उन्हें राजर्षि की उपाधि मिली।

वर्तमान राजनीति मे नीति कहा गई ? शक्ति का व्यवहार कैसे हो, इसे कैसे आत्महित, परहित मे प्रयोग किया जाए ? इसीलिए धर्म' या 'नीति की

अनिवार्यता हुई। पर आज राजनीति मे 'नीति' नही है, केवल 'राज' है तो इसके दो मतलब हो सकते हैं—इस 'राज' मे 'शक्ति' नही है या इस राज मे शक्ति है, जो बह रही है, जैसे टूटे पात्र से जल बह रहा हो। शक्ति का कोई वाहन नहीं है, शक्ति का कोई कर्त्ता पुरुष नही है। शक्ति अकेली है, शिव-विहीन है।

शक्ति की भूख राजनीति है। शक्ति पाकर भी शक्ति की दरिद्रता, अभाव और भय मे जो है, वही है आधुनिक या वर्तमान राजनीति—जहा धर्म नही केवल भय है, तभी शक्ति की इतनी भूख है। शक्ति हीन है, तभी शक्तिशाली दिखने, बनने की इतनी विवशता है।

दूसरा अध्याय

फल

गाव म मेरे घर के सामने मैदान म ग्राम की बगिया म एक वृक्ष था ग्राम का। बिल्कुल हरा भरा, पूरा, सुदर और स्वस्थ। मैं तब करीब सात वष का था। उस पेड के नीचे बैठा खेल रहा था। मेरी दादी जी दौडी हुई आई और मुझे उस वक्ष के नीचे स खीचती हुई बोली—खबरदार इस वक्ष के नीचे कभी मत खेलना। यह असगुन है, अभागा पेड है। इसम फल नही आता।

जिसम फल नही वह अभागा असगुन वृक्ष। उसके नीचे कोई नहीं जाता। उसकी हरी भरी छाया म कोई नहीं बैठता यह कैसी बात है! पर इस पर पछी तो बठते है। यह कितना छायादार है। पर छाया स क्या, अगर फल नही तो सब निष्फल। मैं दूर से ही उस ग्राम के सुदर वक्ष का निहारता और सोचता रह जाता, यह कैसी अजीब बात है। फल नहीं तो जस यह ग्राम का वक्ष ही नही।

तब मैं दस साल का हुआ और देखा उस पेड म बौर आये ह, और वह पेड एक दिन ग्राम के फलो से भर गया। बहुत सारे लोग आये उस पेड के नीचे और उसके फलो का देखकर प्रसन्न हो गए।

अब तक उस वक्ष का कोई मालिक नहीं था अब सारा गाव उसका मालिक हो गया। जो आता, डडा मारकर फल तोड ले जाता। बच्चे जवान उस पर चढे रहते और दिन भर उस पर डडा ईट पत्थर स मार पडती। मार के जवाब म अब वह फल देता। बडा ही मीठा फल। फल आने स अब उसका अभागापन दूर हो गया। अब वह सगुन वक्ष हो गया।

तब फल आने से वह इतना पिटा इतना तोडा और लूटा गया कि अगले दो वर्षों तक उसमे फिर फल नही लगे। तब वह फिर वही अभागा हो गया। जब तीसरे वष फिर उसमें फल आए तो वह फिर सुभागा हो गया।

इस घटना से मेरे किशोर हृदय पर बडी गहरी छाप पडी। तब से मैं बराबर सोचने लगा कि वृक्ष अपने आपम कुछ नहीं है। उसका सारा मूल्य उसके फल म है। यह कैसा स्वाथ है? पर उस वक्ष का भी तो अपना स्वाथ

है। तो स्वाथ ही फल है।

जब बडा हुआ पढ लिखकर और जीवन का थोडा अनुभव पाकर वयस्क हुआ तो सोचने लगा—यह फल क्या है?

फल मान नतीजा, परिणाम। उस वक्ष का अपना नतीजा और परिणाम तो यह था कि फल आते ही उसे पीटा जाता। उसे इतनी चोट मिलती। पर यह तो परिणाम था उस फल का। फल क्या है? जो जिसका श्रेष्ठतम है, वह दूसरो को दे। छाया, उसकी हरी हरी पत्तिया, उसकी लकडी यह क्या उसका फल नही है? वह वक्ष, उसका अपना निराला अस्तित्व यह क्या उसका फल नही है? नही, फल वह है जो उसमे फलित हो, उसके भीतर से बाहर आ लगे। और लोग उसका उपभोग कर सकें। पर उस फल के प्रसग मे उस वक्ष का भोग क्या है? उसे क्या मिला अपने उस फल से?

वक्ष और फल के इस प्रश्न पर सोचते सोचते अपने जीवन समाज, राजनीति, अथनीति को देखते देखते मुझे एक बडी चीज हाथ लगी। ऐसी चीज जो हमारे जीवन चरित्र और हमारी सस्कृति की बुनियाद है। इससे अचानक मुझे अपने भारतीय चरित्र और उसके जीवन दशन का रहस्य प्राप्त हुआ।

जब किसी वक्ष मे फूल खिल उठता है तब लगता है जैसे वह फूल ही वृक्ष का एकमात्र लक्ष्य हो। लेकिन यह बात उस फूल मे छिपी रहती है कि वह फूल दरअसल फल लगने का एक उपलक्ष्य मात्र है। फिर भी वह फूल अपने वतमान के गौरव मे आनदित रहता है—भविष्य उसे डराता नही। और फूल से एक दिन फल लगने पर उस फल को देखकर लगता है जैसे वही अतिम लक्ष्य हो वक्ष का। पर नही, वहा भी यह बात छिपी रहती है कि फल अपने गभ मे भावी वृक्ष का बीज पका रहा है। वक्ष को, फल और फल को परिश्रम कहा करना पडता है? वह तो आनद है सौंदय है पराप्रकृति है जिसमे वह सहज ही अपनी भूमिका अदा कर रहा है। वृक्ष अपना स्वधम पूरा कर रहा है।

फल मे जब रस भर जाता है और उसका गूदा रस मे पककर तैयार हो जाता है तब वह पका हुआ फल एक दिन अपने आप वृक्ष से अलग होकर पथ्वी पर चू पडता है—अपने बीज को फिर उसी पृथ्वी मे दे देने के लिए ताकि एक नया वक्ष उग सके। बीज, वक्ष, फूल और फल और अत मे फिर वही बीज, यह है वत्त और रचना गति जो सगीत की तरह अबाध गति से चल रहा है। सम से चलकर, आरोह अवरोह और फिर उसी सम पर लौट आना। इस गति मे कही भी बाधा पडी तो जीवन सगीत अधूरा—सगीत हुआ ही नही। भारतीय सगीत तो वह है जो बार बार सम पर लौट आए फिर आगे सगीत होने के लिए।

कच्चा आम जोर से डठल की टहनी को पकडे रहता है। लेकिन प्रतिदिन वह कच्चा आम पक रहा है और उसी मात्रा मे डठल ढीला पड रहा है।

गुठली गदे से अलग हो रही है। सारा फल वक्ष से अलग हा रहा है। और एक दिन पेड के बधन से आम पूरी तरह आजाद होगा। इसी मे उसकी सफलता है। पड से चिपके, लग रहने मे वह सड जाएगा। फिर उसका बीज भी नष्ट हो जाएगा।

राजनीति म, सत्ता म, कुर्सी और पद से चिपके रहनेवाला अतत क्या होता है ? उसमे से क्या फल निकलना है ? सब कुछ तो निष्फल हा जाता है।

जीवन के सनातन सत्य के खिलाफ फल ही केवल सफलता हो जाए और सब कुछ उसी फल पर आकर रुक जाए इससे बडी विकृति और क्या होगी।

पके फल मे जहा एक ओर डठल कमजोर और गूदा मुलायम होता है वहा दूसरी ओर गुठली (बीज) सख्त हाकर नये प्राण नये मजन की पूजी प्राप्त करती है। इसी तरह हमारे भीतर भी क्षय और निर्माण की क्रियाए साथ-साथ चलती रहती हैं। हमारे जीवन मे भी बाहर के ह्रास के साथ आतरिक वद्धि होती है। किंतु आतरिक जीवन मे मनुष्य की वही इच्छा बहुत प्रबल रहती है, इसीलिए मनुष्य को अपनी सहज चरम परिणति के लिए, जीवन सगीत पूरा हो जाए इसके लिए साधना करनी पडती है। वक्ष को उस साधना की जरूरत नही होती क्योंकि उसकी अपनी कोई इच्छा नही है। वह जो है, वही है, उतना ही है। पर मनुष्य, मनुष्य के अलावा अपनी तमाम इच्छाओं का दास है—सत्ता की इच्छा, पद और प्रतिरिक्त शक्ति की भूख। यह इच्छा, यह भूख ही उसे केवल फल पर चिपक जाने के लिए विवश करती है।

सारा प्रयत्न फल प्राप्ति के लिए, पर फल प्राप्त करते ही उसे पकड रखने की कामना हमे अतत निष्फल और असफल बनाकर छोड देती है।

हमारे कम का सारा लक्ष्य जिस दिन इसी फल पर आकर टिक गया, उसी क्षण से सत्ता और शक्ति की निमम राजनीति हमारे जीवन मे शुरू हुई। चूकि सब कुछ उसी सफलता पर रुक गया इसीलिए फल की होड मे, और फल को पकड रखने के प्रयत्न मे कम का सारा फल डाल से चिपके चिपके सडन लगा है। और भविष्य का कम बीज, जीवन बीज सकट मे है नष्ट हान को है।

हम देखते है राजनीति के लोगों को—दात गिर रह है, शरीर साथ छोड रहा है सारी इंद्रिया जवाब दे रही हैं जीवन अपनी यात्रा के अतिम पडाव पर पहुच रहा है फिर भी जीजान स अपन पद से सत्ता से बुरी तरह चिपके हुए हैं। क्षणभर के लिए उगलिया ढीली नही होने देत। यहा तक कि जीवन की आखिरी घडिया इसी दुश्चिता मे बीतती हैं कि मत्यु के बाद भी उन्ही की इच्छा सफल हो। इसी का परिणाम यह है कि राजनीति मे जो कुछ भी मिला उसे प्राप्त नही किया, जो नहीं मिला उसी के लिए हर क्षण तडपत रहे।

तभी ठीक एक शिशु जैसा चरित्र है राजनीतिक का। जो देखा दूसरे के हाथ म, उसी के लिए मचल पड। जो हाथ मे आया, हर क्षण भयभीत कि

कोई आकर छीन न ले। जो हाथ से चला गया, हर वक्त उसी के लिए रोना, जिसके हाथ में चला गया, उससे आजीवन शत्रुता। जिसने जरा भी धक्का दे दिया उससे रूठ जाना और बच्चो की तरह मुह फुलाए रखना और हर क्षण इस ताक मे रहना कि मौका मिले कि बदला चुकाया जाए।

यहा फल के माने लाभ, वैश्य वत्ति, व्यापारी सस्कार। जो यह नही जानना चाहता कि त्याग द्वारा ही लाभ सभव है। पूरी तरह पक्कर वक्ष का फल जब वृक्ष को त्याग देता है तभी उसका लाभ है, क्योकि तभी उसमे बीज की पूजी सुरक्षित है। टहनी से लगे हुए फल के बीज म सजन असभव है। क्योकि तब तक वह कच्चा है जब तक टहनी से बधा है। जिस दिन वह बधन को, मोह को त्याग देता है उसी दिन उसका काम पूरा हो जाता है पृथ्वी को नया बीज देकर, अपने वतमान से एक नये वतमान का श्रीगणेश करके।

फल गिरेंगे तभी नय पेड होगे। शिशु को मा के गभ का आश्रय छोडकर धरती पर आना पडता है। पृथ्वी पर आकर उसका शरीर, मस्तिष्क बढता है अन्यथा वह विकलाग हो जाता है। मा के नाडी बधन को त्यागकर वह जगत के बधन मे आता है और अपने कर्मों से पककर एक दिन पथ्वी और जगत के नाडी बधन को तोडकर वह मृत्यु के सामने खडा होता है और अनत लोक मे उसका नया जन्म होता है। इस तरह शरीर से समाज मे, समाज से निखिल मे और निखिल से आत्मा मे मानव की परिणति होती है।

हम वक्ष के फल की बात कर रहे थे। आप कहगे वृक्ष और मनुष्य की क्या तुलना। मनुष्य के सामने वक्ष जड है। प्रकृति के हाथो यन्त्रवत चलता हुआ वह मात्र एक जीवित पदाथ है। रोशनी, हवा और खाद्यरस से ही यन्त्रवत् चलनवाला। पर मनुष्य म इन प्राकृतिक तत्त्वो के अलावा 'मन और 'इच्छा' एक विशेष वस्तु और भी है। इसके योग से हमारे प्राणो, कर्मों और व्यवहारो मे एक और उपसग बढ गया है। मतलब भोजन की प्राकृतिक उत्तेजनाओ के साथ हमम खाने का आनन्द आ जाता है। खाना उचित न मिला, मनोनुकूल न हुआ तो दुख हो जाता है। मनोनुकूल फल न मिला तो निराशा बढ जाती है। प्रकृति के साथ मनुष्य मे एक मानसिक सबध भी आ जुडा है। इससे मनुष्य के प्रकृति यन्त्र की साधना कठिन और जटिल हो जाती है। इस क्रम म इस तरह ज्यो ज्यो मनुष्य अपने कम के विकास मे राजनीति—एक अतिरिक्त चतुराई ले आया, त्यो त्यो क्रिया मे जो एक आनन्द तत्त्व है उसे हम आवश्यकता की सीमा से बाहर खीचकर ले आए। तरह-तरह की शक्ति के दबाव और बाह्य उपायो और साधनो स हम फल और लाभ को दातो से पकडकर बठने लगे। परिणाम यह हुआ कि इच्छा जब एक बार अपनी स्वाभाविक सीमाओ और मर्यादाओ को तोडकर बाहर आ जाती है तो फिर उसके रुकने का कोई कारण ही नही रह जाता। तब वह केवल 'और चाहिए 'और और की रट

गुटली गूदे से अलग हो रही है। सारा फल वृक्ष से अलग हो रहा है। और एक दिन पेड के बंधन से आम पूरी तरह आजाद होगा। इसी म उसकी सफलता ह। पेड से चिपके, लगे रहने मे वह सड जाएगा। फिर उसका बीज भी नष्ट हो जाएगा।

राजनीति म, सत्ता मे कुर्सी और पद से चिपके रहनेवाला अनत क्या होता है? उसमे से क्या फल निकलता है? सब कुछ तो निष्फल हो जाता है।

जीवन के सनातन सत्य के खिलाफ फल ही केवल सफलता हो जाए और सब कुछ उसी फल पर आकर रुक जाए इसस बडी विकृति और क्या होगी।

पके फल मे जहा एक और डठल कमजोर और गूदा मुलायम होता है वहा दूसरी ओर गुठली (बीज) सख्त होकर नये प्राण, नय सजन की पूजी प्राप्त करती है। इसी तरह हमारे भीतर भी क्षय और निर्माण की क्रियाए साथ-साथ चलती रहती हैं। हमारे जीवन मे भी बाहर के ह्रास के साथ आतरिक वृद्धि होती है। किंतु आतरिक जीवन मे मनुष्य की वही इच्छा ब,त प्रबल रहती है, इसीलिए मनुष्य को अपनी सहज चरम परिणति के लिए, जीवन सगीत पूरा हा जाए इसके लिए साधना करनी पडती है। वृक्ष को उस साधना की जरूरत नही होती क्योंकि उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं है। वह जो है, वही है, उतना ही है। पर मनुष्य, मनुष्य के अलावा अपनी तमाम इच्छाओं का दास है—सत्ता की इच्छा, पद और अतिरिक्त शक्ति की भूख। यह इच्छा, यह भूख ही उसे केवल फल पर चिपक जान के लिए विवश करती है।

सारा प्रयत्न फल प्राप्ति के लिए, पर फल प्राप्त करत ही उसे पकड रखन की कामना हमे अतत निष्फल और असफल बनाकर छोड देती है।

हमारे कम का सारा लक्ष्य जिस दिन इसी फल पर आकर टिक गया उसी क्षण से सत्ता और शक्ति की निमम राजनीति हमार जीवन मे शुरू हुई। चूकि सब कुछ उसी सफलता पर रुक गया, इसीलिए फल की होड मे, और फल को पकड रखने के प्रयत्न मे कम का सारा फल डाल से चिपके चिपके सडने लगा है। और भविष्य का कम बीज, जीवन बीज सकट मे है नष्ट होने का है।

हम देखत है राजनीति के लोगो को—दात गिर रह हैं, शरीर साथ छोड रहा है सारी इद्रिया जवाब दे रही हैं जीवन अपनी यात्रा के अतिम पडाव पर पहुच रहा है फिर भी जीजान से अपने पद से, सत्ता से बुरी तरह चिपके हुए है। क्षणभर के लिए उगलिया ढीली नही होने दत। यहा तक कि जीवन की आखिरी घडिया इसी दुश्चिता मे बीतती हैं कि मत्यु के बाद भी उन्ही की इच्छा सफल हो। इसी का परिणाम यह है कि राजनीति मे जो कुछ भी मिला उस प्राप्त नही किया जो नही मिला उसी के लिए हर क्षण तडपते रहे।

तभी ठीक एक शिशु जैसा चरित्र है राजनीतिक का। जो देखा दूसरे के हाथ मे उसी के लिए मचल पडे। जो हाथ मे आया, हर क्षण भयभीत कि

कोई आकर छीन न ले। जो हाथ से चला गया, हर वक्त उसी के लिए रोना, जिसके हाथ में चला गया, उससे आजीवन शत्रुता। जिसने जरा भी धक्का दे दिया उससे रूठ जाना और बच्चो की तरह मुह फुलाए रखना और हर क्षण इस ताक में रहना कि मौका मिले कि बदला चुकाया जाए।

यहा फल के माने लाभ वश्य वृत्ति, व्यापारी सस्कार। जो यह नही जानना चाहता कि त्याग द्वारा ही लाभ सभव है। पूरी तरह पककर वृक्ष का फल जब वृक्ष को त्याग देता है तभी उसका लाभ है क्योकि तभी उसमे बीज की पूजी सुरक्षित है। टहनी से लगे हुए फल के बीज मे सजन असभव है। क्योकि तब तक वह कच्चा है जब तक टहनी से बधा है। जिस दिन वह बधन को, माह को त्याग देता है उसी दिन उसका काम पूरा हो जाता है पृथ्वी को नया बीज देकर, अपने वतमान से एक नये वतमान का श्रीगणेश करके।

फल गिरेंगे तभी नये पड होगे। शिशु को मा के गभ का आश्रय छोडकर धरती पर आना पडता है। पृथ्वी पर आकर उसका शरीर, मस्तिष्क बढता है अन्यथा वह विकलाग हो जाता है। मा के नाडी बधन को त्यागकर वह जगत् के बधन म आता है और अपने कर्मो स पककर एक दिन पृथ्वी और जगत के नाडी बधन को तोडकर वह मत्यु के सामने खडा होता है और अतत लोक मे उसका नया ज म होता है। इस तरह शरीर से समाज म, समाज स निखिल मे और निखिल से आत्मा मे मानव की परिणति होती है।

हम वृक्ष के फल की बात कर रह थे। आप कहेंगे वृक्ष और मनुष्य की क्या तुलना। मनुष्य के सामने वृक्ष जड है। प्रकृति के हाथो यत्रवत् चलता हुआ वह मात्र एक जीवित पदाथ है। रोशनी, हवा और खाद्यरस से ही यत्रवत् चलनेवाला। पर मनुष्य मे इन प्राकृतिक तत्त्वो के अलावा 'मन' और 'इच्छा' एक विशेष वस्तु और भी है। इसके योग से हमारे प्राणो, कर्मो और व्यवहारो मे एक और उपसग बढ गया है। मतलब भोजन की प्राकृतिक उत्तेजनाओ के साथ हमम खाने का आनन्द आ जाता है। खाना उचित न मिला, मनोनुकूल न हुआ तो दुख हो जाता है। मनोनुकूल फल न मिला तो निराशा बढ जाती है। प्रकृति के साथ मनुष्य म एक मानसिक सबध भी आ जुडा है। इससे मनुष्य के प्रकृति यत्र की साधना कठिन और जटिल हो जाती है। इस क्रम मे इस तरह ज्यो ज्यो मनुष्य अपने कम के विकास मे राजनीति—एक अतिरिक्त चतुराई ले आया, त्यो त्यो क्रिया मे जो एक आनन्द तत्त्व है उसे हम आवश्यकता की सीमा से बाहर खीचकर ले आए। तरह-तरह की शक्ति के दबाव और बाह्य उपायो और साधनों स हम फल और लाभ को दातो से पकडकर बठने लगे। परिणाम यह हुआ कि इच्छा जब एक बार अपनी स्वाभाविक सीमाओ और मर्यादाओ को तोडकर बाहर आ जाती है तो फिर उसके रुकने का कोई कारण ही नही रह जाता। तब वह केवल 'और चाहिए' 'और और' की रट

लगाते हुए आगे बढती चली जाती है। यही है हमारे वर्तमान राजनीतिक चरित्र की त्रासदी।

अपनी इच्छा शक्ति का दूसरो की इच्छा शक्ति से सामजस्य ही सर्वोच्च आनद का आधार है। अपनी इच्छा को विश्व इच्छा के साथ एक सुर ताल मे बाधना ही हमारी सस्कृति, साधना और शिक्षा का चरम लक्ष्य है। भारतीय राजनीति मे गाधी का समूचा चरित्र और व्यवहार इसी दिशा मे एक महत्व पूर्ण प्रयास था। उन्होने इस क्षेत्र मे आकर यह अनुभव किया कि राजनीतिक इच्छा शक्ति को सामाजिक नैतिक सीमा और मर्यादा मे बाधा न गया तो हमारा चचल मन, शक्तिभोगी स्वभाव पग पग पर हमे ठोकर देगा। हमारा सारा राजनीतिक ज्ञान लक्ष्यहीन देशप्रेम कलुषित, कर्म व्यर्थ और सारा प्रयत्न दिशाहीन हो जाएगा। हम आत्मकेंद्रित इच्छाओ और शक्ति की मरीचिका के पीछे दौडते रह जाएगे।

इसीलिए गाधी के अनुसार ब्रह्मचर्य पालन से इच्छाओ को उचित सीमाओ मे सयमित करने का अभ्यास जीवन के प्रथम भाग मे ही आवश्यक है। ऐसे अभ्यास से विश्व प्रकृति के साथ हमारी मन प्रकृति का सामजस्य बढता चलेगा। बाद मे हम अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार उसी स्वर ताल मे कोई भी कर्म करें राग गाए, तो उससे सत्य, मगल और आनद के मूल स्वरो को कोई आघात नही पहुचेगा।

कर्म, विशेषकर राजनीति जैसा मगल कर्म तभी सहज और सुख साध्य होता है जब प्रवृत्ति को सयम के साथ चलाने की तैयारी हो। और उसी हालत मे राजनीतिक कर्म कल्याण का आधार बन जाता है। तभी राजनीतिक कर्म का बधन उसे नही जकडता। यथासमय, फल पकते ही उसका बधन अनायास ही ढीला पड जाता है और कर्म अपनी स्वाभाविक परिसमाप्ति पर पहुच जाता है।

जो ऐसा नही कर पाता और शक्ति सत्ता के फल को मुट्ठी मे बाधे जकडे बैठा रहना चाहता है और जिस दिन उसके हाथ से वह फल कोई छीन ले जाता है (यही राजनीति का खेल है) तो वह अपने आपको दीन, अनाथ, अभागा मानने लगता है और शेष जीवन तडपता रहता है। पहले फल के लिए तडपना फल मिल जाने के बाद फल कोई छीन न ले जाए, भयभीत रहना और फल जब हाथ से चला जाए तो शोक मे डूब जाना यही क्या जीवन है?

जिस तरह डाला पर फल लाने के लिए वृक्ष की जडो और तने को सचेष्ट होना पडता है उसी तरह से मनुष्य को फल के प्रति प्रयत्न और उद्यम तो आवश्यक है पर फल गिरेगा एक दिन, यही उसकी चरम परिणति है इसके लिए बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक तैयारी भी उतनी ही आवश्यक है।

आज हमारे देश समाज का सचालन राजनीतिक शक्ति से हो रहा है

हमारे ऊपर राजनेता हैं। देश का आदर्श ऊपरी भाग में ही उज्ज्वल रूप से आलोकित होता है। उसी से हम प्रकाश पाते हैं। जब घर में दीप जलता है तो बत्ती का केवल अग्र भाग ही जलता है, और हम कह उठते हैं—दीया जल रहा है। समाज और देश का वह अग्र भाग (राजनीतिक) जिस कर्म भावना को अंगीकृत करता है और प्रत्यक्ष जीवन की परिधि में लाता है उसी से सारा देश समाज आलोकित हो उठता है। अपने को दीए की तरह जलाकर यही काम महात्मा गांधी ने किया था और सारा देश उस प्रकाश में तब आलोकित हो उठा था।

गांधी के राजनीतिक चरित्र का वह प्रकाश था—अनासक्त भाव। निरंतर कर्म करते रहे परंतु अपने को उसके बंधन में नहीं बंधने दिया। उनका सारा जीवन इस सच्चाई का जीता-जागता सबूत है कि समस्त प्रकृति आत्मा के लिए है, आत्मा प्रकृति के लिए नहीं। प्रकृति के अस्तित्व का प्रयोजन है कि हम अनुभव हों, ज्ञान हों, ताकि अंतत हम मुक्त हो सकें।

पर हो रहा है उल्टा। हम अपने को प्रकृति में ही मिला दे रहे हैं। प्रकृति का ही 'अहम्' मानकर हम प्रकृति में आसक्त हैं। इसीलिए हमारा हर काम हमें बंधन में डाल देता है जिसके कारण हम मुक्त भाव में कार्य न करके दास की तरह कार्य करते हैं। हर कार्य हमारे लिए नौकरी है। हर कार्य हमारे लिए राजनीति है। तभी यहां राजनीति नौकरी है और नौकरी राजनीति है।

कर्म का मूल रहस्य यह है कि जो भी काम हम करें वह स्वामी, कर्त्ता, स्वामी के रूप में करें, नौकर या दास के रूप में नहीं। पर स्वामी से तात्पर्य स्वार्थमय, अहंकारमय नहीं स्वामी से मतलब है प्रेममय।

जो स्वाधीन है, वही प्रेममय होगा।

आम के वृक्ष में जो फल लगा है, रसमय होते हुए पक जाना और पककर डाल से अलग हो जाना यही तो स्वाधीनता है वृक्ष का फल के प्रति और फल का वृक्ष के प्रति और पककर डाल से छूट जाना फल का प्रेम है।

राजनीति में यही प्रक्रिया अधूरी रह जाती है। जिस राजनीति में स्वाधीनता नहीं, वहां केवल भय है तभी इतना अहंकार है। तभी वहां फल कच्चा रह जाता है। कच्चे फल को अगर स्वाधीनता न दी जाए पकने के लिए, तो कच्चा फल या तो सूख जाएगा या सड़ जाएगा। ऐसा फल कभी भी स्वत डाल से अलग नहीं होगा। वह तब तक डाल में (कुर्सी या सत्ता से, दल से) अलग नहीं होगा जब तक उसे जबरन अलग न कर दिया जाए। तोड़ न दिया जाए बल से। तो कच्ची राजनीति के ऐसे कच्चे फल में बीज कहां? इसीलिए अगर बीज ठीक है तो उससे वृक्ष उगेगा ही, वृक्ष ठीक है, तो फल आएगा ही। अच्छा वृक्ष कभी निकम्मा फल नहीं देगा। और निकम्मा वृक्ष कभी अच्छा फल नहीं देगा। हर एक वृक्ष अपने फल से पहचाना जाता है।

सत, ज्ञान और प्रेम—क्रमश धम, विज्ञान और राजनीति है। ये तीनों परस्पर सबद्ध हैं। ये एक ही मे तीन हैं। जहा एक रहेगा वहा शेष दोनों अवश्य रहेगे। यह आदश की बात है।

आज राजनीति अगर धम और विज्ञान विहीन है, तभी इतनी नगी और अकेली है। तभी इसमे इतनी हिंसा है।

अगर राजनीति के फल को पकने देना है तो इसमे धम का प्रकाश और ज्ञान का जल अनिवाय है।

धम, विज्ञान, राजनीति परम सत्ता के ही तीन पक्ष क्यो नही हैं? हैं।

मेरे लिए यही सत चित् आनद है। इसके अलावा और क्या है सच्चिदानद?

मुझे इस जगत मे जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह उसी परम सत्ता का सापेक्ष रूप है सत। जो सासारिक वस्तुविषयक ज्ञान है वही है चिद-विज्ञान। और मुझमे जो प्रेम है, स्वाधीनता का बोध जो है, वही है आनद तत्त्व। यही है राजनीति मेरी। पर राजनीति साधन है, वक्ष है, इसका साध्य वही फल है—सफलता। पर वह सफलता क्या है? स्वफल, स्वराज्य। अगर यह नही है तो पेड अभागा है, चाहे जितना बडा हो वह वक्ष, चाहे जितना छायादार हो।

जो निष्फल है वह न धम है, न विज्ञान न राजनीति। सफल वही है जो उस कम वृक्ष से पककर स्वत मुक्त हो जाए। स्वतत्र, मुक्त, आत्मजयी—शरीरजयी से आत्मजयी।

हर फल दान है। धम का फल, ज्ञान का फल, राजनीति का फल—केवल दान है। अगर यह दान नहीं है तो धम, ज्ञान और राजनीति से बडा कगाल, दरिद्र, भिखारी और कोई नही।

कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद पाचो पाडवो ने एक बडा भारी यज्ञ किया। उसमे बहुत सारा दान दिया गया। सब आश्चयचकित थे उस यज्ञ की सफलता पर। यज्ञ समाप्त होने पर वहा एक नेवला आया जिसका आधा शरीर सुनहला और शेष आधा भूरा। वह नेवला उस यज्ञभूमि की मिट्टी पर लोटने लगा। थोडी देर बाद उसने दर्शकों से कहा—तुम सब झूठे हो। यह कोई यज्ञ नही, यह आडबर है दिखावा है। सुनो, एक छोटे से गाव मे एक निधन आदमी रहता था। एक बार भयकर अकाल पडा। कई दिनों भूखे रहने के बाद एक दिन कहीं से थोडा सा आटा लेकर उससे चार रोटिया बनी उसके घर मे। वह आदमी, उसकी पत्नी, उसका बेटा, उसकी बहू—ये चारो जैसे खाने बैठे, कोई एक और भूखा आदमी वहा आया। आदमी ने अपनी रोटी दे दी, फिर भी वह भूख से तडपता रहा। उसकी पत्नी ने अपना हिस्सा दे दिया। और इस तरह सब ने अपनी अपनी रोटी उसे दे दी। वह भूखा तृप्त होकर चला गया। ये चारो रात को

भूख से मर गए। सुबह मैं उधर से गुजरा। वहा उस आदमी के घर जमीन पर आटे के कुछ कण इधर उधर बिखरे थे, मैंने उन पर लोट लगाई, तो मेरा आधा शरीर सुनहरा हो गया। उस समय से मैं ससार भर मे घूम रहा हू कि कही उसी तरह कोई और जगह मिल जाए, जहा लोटकर अपना शेष शरीर भी सुनहरा कर लू।

दान का यह भाव कर्मयोग से ही सभव है। नही तो सारा कर्तव्य केवल दुख है—कर्तव्य का पालन शायद ही कभी मधुर होता हो! कर्तव्य चक्र तभी हल्का और आसानी से चलता है जब उसके पहियो मे प्रेम की चिकनाई लगी होती है। अन्यथा कर्तव्य एक अविराम घर्षण मात्र है।

प्रेम से जो कर्तव्य किया गया वही कर्म हो जाता है। और हर कर्म का फल निश्चित है। प्रकृति बडी सावधानी से हमारे कर्मों के अनुसार उचित कर्मफल का विधान करती है।

यह भी एक बडी विचित्र बात है कर्म के अनुसार बिना फल उत्पन्न किए कोई भी कर्म नष्ट नही हो सकता। प्रकृति की कोई भी शक्ति उसे फल उत्पन्न करने से नही रोक सकती।

पर यह सत्य है कि ऐसा कोई भी कर्म नही है, जो एक ही समय मे शुभ और अशुभ, अच्छा और बुरा दोनो फल न उत्पन्न करे।

राजनीति यही कर्म है। और हम चाहे जितना भी प्रयत्न क्यो न करें, हमसे ऐसा कोई कर्म नही हो सकता जो पूर्णत शुभ हो। सपूर्णत अच्छा हो। क्योकि हर कर्म मे हिंसा है। बिना दूसरो को हानि पहुचाए हम सास तक नही ले सकते। हम चाहे निरतर कार्य करते रहे परतु कर्मफलो मे शुभ और अशुभ के अच्छे और बुरे का अपरिहार्य साहचर्य का अत नही होगा।

फिर भी यह कर्म क्यो ?

जितना मैं जान सका हू, अर्थात देख सका हू—कर्म इसीलिए कि इससे मैं अपने आपको देख पाता हू। अपने को देखने की प्रक्रिया मे मैं धीरे धीरे दूसरे को भी देखने लगता हू। कर्म करते करते एक दिन ऐसा आएगा कि 'मैं' की जगह 'तुम' दिखेगा। राजनीतिक कर्म मे यही महात्मा गाधी को मिला था—आत्मत्याग, अनासक्ति।

यह सपूर्ण आत्मत्याग ही सारी नैतिकता की नीव है।

हममे दो वृत्तिया हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति मान किसी चीज की ओर प्रवर्तन, गमन जाना, बढना—मतलब 'हमारा यह ससार', 'यह मैं', यह मेरा चारो ओर से जो कुछ मिले, उसे ले लेना और सबको अपने एक केंद्र मे (मैं) एकत्र करते जाना।

पर जब यह वृत्ति घटने लगती है (जब उस चीज से निवर्तन लौटना शुरू होता है) मतलब जब निवृत्ति का उदय होता है तभी नैतिकता और धर्म का

प्रारंभ होता है। कम का यही फल है—यह न बुरा है, न अच्छा, केवल फल है, केवल फल। यह है बस—इसकी किसी से कोई तुलना नहीं।

हमारे धम का मम ही यह है कि कम और भाग से पहले अपने अहंभाव को नष्ट करो फिर समस्त जगत को आत्मस्वरूप देखोगे।

हमारे यहा जो वृद्ध होकर मरता है तो कितनी खशी मनाई जाती है। यहा वद्ध का अथ है यह स्वाथ भाव कि यह ससार केवल हमारे ही भोग के लिए बना है—इसकी मत्यु। पर यह मौत केवल सपूण भोग से ही सभव है—तभी वद्ध की मत्यु पर इतनी खुशी हम मनाते है।

श्री रामकृष्ण परमहस कहा करते थे—इस जगत और जीवन के प्रति वही भावना रखो जो एक बच्चे के प्रति धाय की होती है। वह बच्चे को ऐसा प्यार करती है सेवा करती है जैसे उसी का बच्चा हो, पर जैसे ही वह काम छोडकर अलग होती है अपना बोरिया बिस्तरा उठाकर चल देती है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अब उस बच्चे से उसका कोई लगाव नहीं।

परमहस ने कई जगह कहा है और यह बिल्कुल सत्य है, मैंने अनुभव से देखा है जितनी बडी दुबलता होगी उतनी बडी साधुता, सबलता का रूप वह धारण कर लेती है। यह सोचना कि मेरे ऊपर कोई निभर है (मैं ही देश, समाज, परिवार का हित कर सकता हू) अत्यत दुबलता का चिह्न है। यह अहकार ही समस्त आसक्ति की जड है और इस आसक्ति से ही समस्त दुखो की उत्पत्ति होती है।

भारतवष मे व्यास नामक एक पुरुष हुए हैं जो समस्त ज्ञान के बावजूद सफल काम न हो सके, पर तु उनके पुत्र शुकदेव ज म से ही सिद्ध थे। व्यास देव ने अपने पुत्र को यथाशक्ति शिक्षा देने के बाद राजा जनक (विदह) के पास भेज दिया। विदह अर्थात शरीर से पृथक। राजा जनक ने शुकदेव को अपने राजमहल म रखा। सारे विलासो के बीच शुकदेव पर कोई असर नहीं। एक दिन राजा ने शुकदेव के हाथ मे दूध से भरा हुआ एक प्याला दिया और कहा—इसे लेकर दरबार की सात बार परिक्रमा करो, पर देखो, एक बूद भी दूध न गिरे। शुकदेव ने राज दरबार के समस्त विलासो के बीच सातो परिक्रमाए पूरी कर लो दूध की एक बूद भी न गिरी। तब राजा जनक ने कहा—बेटे तुमने तो सत्य को जान लिया है अपने घर जाओ। जिसने स्वय पर अधिकार प्राप्त कर लिया है उसके ऊपर बाहर की कोई चीज अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। यही है स्वराज्य। यही है राजधम, राजनीति का लक्ष्य। यही स्वराज्य लक्ष्य था व्यास शुकदेव, जनक, बुद्ध, राम कृष्ण परमहस, विवेकान द और महात्मा गाधी का। स्वराज्य फल है कम का। स्वराज्य फल है धम का, स्वराज्य लक्ष्य है राजनीति का। स्वराज्य माने मुक्ति।

तीसरा अध्याय

बीज हम

हम आर्य। आर्य माने श्रेष्ठ नहीं विराट नहीं, महान नहीं (अपने आपको एसा कोई भी मानता है) आर्य माने, जसा कि उसके कम और व्यवहार से प्रकट है, एक एसी मनुष्य जाति जो जीवन के प्रति सदा जागरूक रही। उसके लिए जीवन विकल्प नही था, जीवन उसके लिए केवल सकल्प था—जिसमे अनुशासन था प्रगति का वेग था और अनुभूति स प्राप्त अतद ष्टियुक्त श्रेयात्मक चिंतन का स्पदन था। वे पूण भौतिक दृष्टि से जीवनभागी थे। उन्होन यह भोगकर पाया कि इस भव म सुख है, आनद है, पर साथ ही दुख है, भूख है प्यास है, शोक, मोह और भय है। पर इसी भोग से ही उन्होने यह पाया कि इसे भोगकर ही इससे मुक्त हुआ जा सकता है।

कम भोग, ज्ञान—तीनो एक साथ ह। एक के बाद दूसरा नही। तीनो एक साथ। पर इसकी गति म जो परम लक्ष्य था, साध्य था, वह था मुक्ति भाव। मुक्ति और जीवन, जीवन और मुक्ति, भाग और वैराग्य वैराग्य और जीवन—यह था वत्ताकार जीवन। जीवन जो कही एक क्षण के लिए भी रुकता नहीं थमता नही।

समझने के लिए हम अपनी जाति को एक विराट शरीर मानें जिसकी कल्पना ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'पुरुष सूक्त' मे है तो उस विराट् शरीर का छोटा-छोटा अश (व्यक्ति) बराबर नष्ट होता रहता है और नया-नया अश (व्यक्ति) हर वक्त पैदा होता रहता है—जैसा कि पूरी सष्टि म हर क्षण हो रहा है—यह निर्माण और विनाश, जन्म और सहार इतने सतुलित ढग से होता है कि उस विराट शरीर (जाति) की स्थिति मे कोई सकट ही नही उत्पन्न हो रहा। यह हुई उस शरीर के भौतिक, पार्थिव अस्तित्व की बात। जिस तरह व्यक्ति का शरीर प्राणा के कारण जीवित है उसी तरह उस विराट शरीर (जाति) के प्राण हैं कुछ बुनियादी गुण जो उसके शरीर के प्रत्येक अग (व्यक्ति) म उसे सदा हर क्षण मिलत रहत हैं। 'व्यक्ति' माने 'व्यनक्ति इति व्यक्ति' जो व्यापक तत्त्व को प्रकाशित, प्रकट, व्यक्त करे वह 'व्यक्ति' है। यहा व्यक्ति

समष्टि का प्रतिपक्ष नहीं, विरोध नहीं, बल्कि समष्टि की अभिव्यक्ति का मूल माध्यम है। अभिव्यक्ति है तभी तो वह व्यक्ति है।

इस व्यक्ति का बुनियादी गुण है। और वह गुण है यह जीवन भाव, यह जीवन सकल्प—'हे तेजस्वी ईश्वर, सम्पत्ति के लिए उत्तम मार्ग से ले जाओ। तू सब कर्मों को जानता है। हमें पापों, कुटिलताओं से युद्ध करने की प्रेरणा दे।' हम यह नहीं कहते कि हमारी कुटिलता और पापों को आप ही, अपनी ओर से नष्ट कर दीजिए। नहीं, हम स्वय अपनी बुराइयों से लड़ें। द्वद्व, सघर्ष को ही हमने बल माना।

हमने जीवन अनुभव से यह जाना कि हम साधन स्वीकार करने से पतन होता है। और यह भी अनुभव किया कि उत्तम मार्ग पर चलने के प्रयास में दो प्रमुख बाधाए हमारे सामने आती हैं—कुटिलता और पाप। और इन कुप्रवत्तियों का, हम खुद सघर्ष कर, भोग कर, नाश करें। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का केवल यही सकल्पात्मक अभिप्राय है कि हम सतत सजग रहकर अपनी प्रवत्तियों को देखें। देखना प्रकाश में ही सभव है।

कर्मप्रधान जीवन ही हमारा जीवन था। इस प्रसग में हमें इस रहस्य का भी पता था कि कर्म की शक्ति अजेय होती है, यदि उसका उपयोग श्रद्धा, निष्ठा योग्यता, उत्साह और अनासक्त भाव से किया जाए। जीवन का महत्त्व इसी में है कि उसका प्रत्येक क्षण जिया जाए—यही था हमारा उत्तम कर्म का प्रतीक। जो जिया नहीं गया वही था अधकार हमारे लिए। क्योंकि जो जिया नहीं गया वह तो अप्रकाशित रह गया। अतीत के अधकार में चला गया।

स्वय से लेकर मानवमात्र के कल्याण की कामना से जो कर्म किया जाता है वही था हमारा 'योग'। योगयुक्त होकर कर्मरत होने का अर्थ होता है 'स्व' से 'पर' के भेदभाव से ऊपर उठकर कर्म करना, जो मेरे लिए और सबके लिए हितकर हो और सबको अपने भीतर समेटकर शुभ की प्राप्ति में सहायक हो।

यजुर्वेद में हमने कहा कि जो सभी प्राणियों को अपने भीतर देखता है और सब प्राणियों में अपने को पाता है, वह किसी प्रकार के सशय से ग्रस्त नहीं होता। जीवन वहीं भयत्रस्त होता है जहा हमारे विचार सकीर्ण और हेय होते हैं। भय से हीनता का सचार होता है और उस हीनता में भय तब अनेकरूप गुना बढ़ता है जो स्वभावत और अंतत जीवन की निर्मलता को दूषित कर देता है। तभी हमने कहा—आपके लिए और सबके लिए अभय हो।

अथर्ववेद में हमने गाया—पीछे से और आगे से, ऊपर से और नीचे से हम सभी निर्भय रहें। मित्र से अमित्र से, ज्ञात और अज्ञात पदार्थ से हम सभी अभय रहें। रात और दिन में भी अभय रहें। सभी दिशाओं में रहनेवाले सारे जीवन हमारे मित्र बनकर रहें।

कठोपनिषद में हमने माना है साक्षी होकर कि परम ऐश्वर्य का वरण तभी

सभव है जब हम सदा जागरूक रहे ।

सृष्टि के प्रारभ म एक ही 'सत्' था। फिर उस एक बीज से यह अनत विश्वब्रह्माड कैसे पैदा हो गया ? वही 'सत हम है—निर्माण का अशेष बल धारण करनेवाली चित् शक्ति 'सत' है। तभी हमने माना कि मनुष्य मे जो अश जन्मरहित है उसे तेजस्वी करो। हमारा जो ज मरहित अश है, वही तो 'सत है जिसमे से यह सारा विश्व प्रकट हुआ। यही 'सत' हमारे भीतर रचना-शक्ति के रूप म है। यही है वह देखनेवाला, स्पश करनेवाला, सुननेवाला, सूघनेवाला, चखनेवाला, सकल्प करनेवाला, कर्त्ता और ज्ञानी जीव पुरुष।

हमारे यहा सत' और ज्ञान दो नही हैं। एक ही है। यही कारण है कि जीवन के सबध म हमने जो ज्ञान पाया और शब्दो मे, वाणी मे उसे प्रकाशित किया, वह ज्ञान सत' के अलावा और कुछ नही है।

यह जीवन प्रवाह तब से आरभ हुआ जब एकमात्र आत्मा था। ऐतरय (१/१) और योगवाशिष्ट(४/३६/१६)के अनुसार ब्रह्म जगत इस प्रकार अपने स्पदनो मे प्रकट होता है जैसे प्रकाश अपनी किरणो म, जल अपने कणो म।

जीवन धारा बह रही है। बहती रहेगी, आप उसका इस्तेमाल करें या न करें वह आपकी प्रतीक्षा मे रुकेगी नही। वह जा रही है उस अतिम अवस्था की ओर जो सष्टि के आरभ के पूव मे थी। यह जीवन रहस्य हम जानते थे, तभी हमने स्व, परिवार, समाज तक जीवन का गठन इतने ठोस धरातल पर किया था। गठन केवल स्थापित के लिए नही, प्राणवान बन रहने के लिए।

यही कारण है कि हमने तब निर्वाण या शू य मे विलीन होने की कभी कामना नही की। हमने कामना की अदीन भाव से, अपन भीतर और बाहर की शक्तिया से शक्तिवान बनकर कम से कम सौ वप तक या उसस भी अधिक वर्षो तक जीए। रह नही, जीए। कवल अथहीन जीवन के लिए नही, अदीन भाव स स्वय तो जीवित रहना चाहत ही थे, साथ ही कामना थी कि हमारी सतान भी वीर हो और हम अपन पूण जीवन को प्रस नतापूवक भोगें। जीवन का प्रत्येक क्षण, हमारे पराक्रम से प्रभावित हो। एक भी क्षण बिना हमारे कम और भोग के अछता न खिसक जाए। सब कुछ पुन प्राप्त हो सकता है, पर खोया हुआ, अभुक्त क्षण फिर कभी नही प्राप्त हो सकता।

हम आय पूण सजगता से जीवन के प्रत्यक क्षण के कर्त्ता और भोक्ता थे, तभी ज्ञानी थे।

हमारा आचार व्यवहार तब क्या था, कैसा था ? जीवन और आचार, जीवन और धम, जीवन और व्यवहार दो अलग अलग चीजें नही थी। दोना ही एक था। यही वजह है कि आर्यों न हिन्दुओ की तरह आचार, व्यवहार कभी भी अपने ऊपर नही लादा। लादा तो वही जाता है जो विजातीय होता है। और हर लादी हुई चीज हमे बोझ की तरह थकाती है। थोडा सा बहाना मिला नही

कि हमने उसे अपने ऊपर से दूर किया। इसका कारण यह था कि आर्य 'स्वभाव' में रहते थे। गुण हों या अवगुण सबको अपना आहार चाहिए। गुण अवगुण तो आहार के लिए खुद कहीं आते जाते नहीं, वे जिस पर लदे, ओढ़े हुए रहते हैं उन्हें जाना पड़ता है आहार के लिए।

पर जो अपने स्वभाव में रहता है वह तो मस्त है। वह आत्मसमर्पित है। आर्य स्वभाव से ही सदाचारी, आचारनिष्ठ थे क्योंकि उन्होंने आचार के पक्ष में आत्मसमर्पण कर दिया था। 'आचार के पक्ष में आत्मसमर्पण करने का अर्थ हुआ ईश्वर को आत्मसमर्पण कर देना। ठीक इसके विपरीत दुराचार के पक्ष में आत्मसमर्पण करने का अर्थ हुआ विकृति का आत्मसमर्पण कर देना जो क्षर है, माया है, अविद्या है। आर्यों ने सारे रहस्य को भली भांति समझकर हृदयंगम करके आचार को अपने ऊपर लादा नहीं। शुद्ध हृदय से अपने को आचार के चरणों पर न्यौछावर कर दिया—वे आचारवान नहीं बने, साक्षात आचार ही बन गए। यही कारण है कि उनका नाम आर्य (श्रेष्ठ) पड़ गया और जिस भूमि को उन्होंने पवित्र किया, वह आर्यावर्त का गौरव पाकर पूजी गई।'[1]

गौरव पाना क्या होता है? जितना जैसे जिया जाता है उतना ही उसका गौरव है। गौरव जीवन है। जीवन अखंड है—यह कहीं भी किसी स्तर से बंटा हुआ नहीं है। जो जिसका जैसा स्वभाव है, वह पूर्णरूप से स्वतंत्र वही जीए, यही है जीवन का गौरव।

आर्यों का जीवन समाज यही गौरव का था। वहां कोई ऊंच नीच नहीं था, शूद्र अशूद्र नहीं था।

जाति नहीं थी। गुण और कर्म के भेद से चार वर्णों—चार मुख्य कार्यों—

ज्ञान

रक्षा

प्रबंध व्यापार

सेवा

की व्यवस्था का कार्यक्षेत्र था। मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार इन चारों कार्यों में से अपना कार्य करता था। इन कार्यों के अनुसार क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र होते थे। शूद्र का अर्थ किसी भी तरह एक दूसरे से अवमानता या लघुता का न था। एक ही राजा के चार पुत्र अपने स्वभाव गुण और कर्म के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते थे। और चारों का मान समान था। वैदिक आर्यों में जो वर्णव्यवस्था थी (वर्णाश्रमिक और मनोवैज्ञानिक) उसमें कहीं भी एक-दूसरे के बीच विभाजक तत्त्व नहीं थे। मूल वैदिक काल में सब आर्य थे, ब्राह्मणादि वर्णों में विभक्त नहीं हुए थे। यहां तक कि सभी सब

[1] आर्य जीवन दर्शन—पं० मोहनलाल महतो वियोगी पृष्ठ ३६

काम करते थे। काय के अनुसार भी वण विभाजन नहीं होता था। पर जैसे जैसे राजतंत्र मे विकास हुआ, और जब ऋषि परम्परा क्षीण हुई और उसके स्थान पर पुरोहित परम्परा का यज्ञभूमि से उदय हुआ तो शुद्ध वणव्यवस्था मे विकार आना शुरू हुआ।

हम जब तक उस ऋषि युग मे रहे हम हीनता और विकारो से मुक्त थे। निश्चय ही हमारे ऋषियो ने धम का साक्षात्कार वणभेद, जातिभेद या वणभेद के रूप मे नही किया होगा। उनका धम विशुद्ध मानव धम था—जोडने का धम, तोडने का नही। आय जीवन सगम दष्टि का था। इस दृष्टि से वैदिक ऋषियो ने एसी शक्ति को प्राप्त किया जो व्यष्टि एव समष्टि के समस्त कायकलाप की सूत्रधारिणी है। ऋग्वद मे इसी को 'राष्ट्री तथा सगमनो' कहा गया।

इस युग मे कम और स्वभाव के अनुसार वणव्यवस्था थी, जिसका एक ही धम था—कम। मानव कल्याण कामना से कम, एक दूसरे के लिए जीवित रहने का कम। कम ही हमारा सुख था। अमतत्व हमारी उपलब्धि थी। परम तजस्वी होकर अपना कम जीवन व्यतीत करना हमारा लक्ष्य था।

हिन्दू व्यवस्था से पहले जब तक हम आय थे—अपनी मिट्टी से उगे और अपनी जडो पर खडे हुए उस वृक्षकी तरह—तब तक हमारा यह अनुभव था कि पूर्वावस्था की ओर प्रतिगमन होने से हमारा पतन होता है और यदि गति विकास की ओर हो तो हम आगे बढते है। यही है उच्चतर जीवन की ओर जाना।

पर इसके लिए हम कुछ बुनियादी साधनाए करते थे। अवचेतन मन के विशाल सागर मे निमग्न क्रियाओ को नियत्रण मे लाओ—उपनिषदो मे स्पदित इस साधना का आह्वान हमारे वतमान युग मे विवकानन्द ने किया। सचमुच यही था हमारी जीवन साधना का पहला चरण, पहला अग प्रथम सोपान। हमारे सामाजिक कल्याण के लिए इसकी नितान्त आवश्यकता है।

इसके बाद है दूसरा चरण, साधना का दूसरा अग—जो हमे मुक्ति की ओर ले जाता है। अपने मन का देखना, अपने अभावो, चोटो और भयो को देखना, जिसके कारण हममे इतना मन है। मन माने अभाव, इच्छाए, भय और अभाव माने राजनीति।

जहा अधकार है वही है मन। मन ही अधकार है। उस अधकार मे प्रकाश लाना, जो पीछे है, उसे साफ कर देना इस योग्य हो जाना कि उस अधकार को चीरता हुआ आगे निकल जाए। चेतन मे अतिचेतन हो जाना यही है व्यक्ति से पुरुष बन जाना। तब सारा रहस्य अपने आप खुलने लगता है और हमारी असली यात्रा शुरू होती है।

क्या कभी ऐसा हुआ है कि हमे वह चीज न मिली हो, जिसे हमने हृदय से चाहा ? ऐसा कभी हो ही नही सकता। क्योकि आवश्यकता ही, वासना ही, इच्छा ही शरीर का निर्माण करती है। वह प्रकाश ही है जिसने हमारे सिर मे

मानो दो छेद कर दिए हो, जिनका नाम श्राख है। वह ध्वनि ही है जिसन हमारे कानो का निर्माण किया।

हमारी सारी इद्रिया हमारी उत्कट इच्छाओ, वासनाओ की साक्षी हैं—उपकरण है। इन इद्रियो से इच्छापूर्ति की जाती है। पर बात है स्वय कर्त्ता बनकर इद्रियो द्वारा इच्छा की पूर्ति। अगर हम कर्त्ता नही हैं तो इद्रिया केवल प्रकृति हैं। कर्त्ता मैं ही हो सकता हू। इद्रिया मेरी हैं। अगर इच्छापूर्ति के कम मे मैं कर्त्ता नही हू तो वह कम है ही नही। वह केवल इद्रिया का भाव है प्रकृति है। इससे इच्छापूर्ति का सवाल ही नही उठता। इद्रिया केवल बहती हैं और बहना केवल नाश है निष्फल है क्योकि वहा कर्त्ता नही है।

वेदात का जो आत्मन है, आत्मा है जो उपनिषदो का वह यही कर्त्ता पुरुष है। वह इच्छा की पूर्ति मे कम करता है—और उस इच्छा की पूर्ति मे कर्त्ता, भोक्ता होते हुए इस ज्ञान को सहज ही प्राप्त होता है कि इच्छा की पूर्ति ही नही हो सकती। इच्छा मेरे भीतर है और इच्छा की पूर्ति बाहर है दूसरे पर निभर है, फिर इसकी पूर्ति कैसे सभव है ?

पर हमने इसे जाना कर्त्ता और भोक्ता होकर। इसी को हमने कहा—

'भोगो योगायते सम्यक' भोग ही पूरा योग हो जाता है। और जब हम कर्त्ता होकर भोग नही कर पाते तो हमारी इद्रिया ही उपभोग करती हैं। उपभोग माने बहना। आप्तकाम आत्मकाम अकाम रूप शोकान्तरम्।

बृहदारण्यक उपनिषद मे कहा है—हमने इच्छा की पूर्ति मे ही अपने आपको पाया। जो इच्छाओ के बधन मे बधा है वह क्या कैसे कर सकेगा सेवा प्रेम या कोई भी काम ? जिसने कामनापूर्ति का रहस्य पा लिया है, उसी ने अपने आपको चाहा है। वही 'अकामरूप' है। वही शोक दुख से परे है।

यह बात बुद्धि से नही कही गई। बुद्धि तो अप्रामाणिक है वह भी एक इद्रिय है।

इच्छा की पूर्ति मे उत्तन विशाल, गहन और सपूर्ण कम की प्रक्रिया से हमने पाया कि यह मैं और वह दूसरा—जिसे पाने के लिए मैंने इतना सघष श्रम, परिश्रम, यश किया वह दूसरा दूसरा है ही नही। सबमे वही आत्मन है। वह दूसरा मैं ही हू। मुझे भ्रम हो गया था कि वह दूसरा है।

यह ज्ञान, यह अनुभूति कि सब कुछ एक है (बिना अनुभव के नहीं, केवल बात कर, बुद्धि से सोचकर नही, पूर्ण रूप से कर्त्ता होकर पूर्णत भोगकर) यही है हमारा वेदान्त—जहा सारे ज्ञान का अत होकर 'मुक्ति' प्रसग है। और तब हम यह देखने लगते हैं कि एक परमाणु से लेकर मनुष्य तक जड तत्त्व के अचेतन प्राणहीन कण से लेकर इस पृथ्वी की सर्वोच्च सत्ता—मानवात्मा तक, जो कुछ इस विश्व मे है वे सब मुक्ति के लिए सघष कर रहे हैं। यह सारा विश्व मुक्ति के लिए सघष का ही परिणाम है। हर मिश्रण मे प्रत्येक अणु दूसरे परमाणुओ

से स्वतंत्र होकर अपने पथ पर जाने की कोशिश मे है, पर दूसरा उसे पकडे और बाधे हुए है। प्रत्येक वस्तु मे अनत विस्तार की प्रवत्ति है।

हमारा सारा धम इसी मुक्ति के लिए है। अचेतन से चेतन, चेतन से आत्मचेतन, और आत्मचेतन स आत्ममुक्त। बधकर ही मुक्त। गुणातीत।

वेदात धम का सबस उदात्त तत्त्व यह कि मुक्ति के इस लक्ष्य पर हम भिन्न भिन्न मार्गो से समान रूप से पहुच सकते हैं। जैसा जिसका स्वभाव हो—कममाग, भक्तिमाग, योगमाग और ज्ञानमाग। हम पहुच सकते हैं। कैसे ? कम द्वारा। यह कम क्या है ?

ससार के प्रति उपकार करने का क्या अथ है ? क्या हम सचमुच ससार का कोई उपकार कर सकते है ? निरपेक्ष अथ मे 'नही', सापेक्ष दष्टि स 'हा'। क्योकि सच्चाई यह है कि ससार के प्रति ऐसा कोई भी उपकार नही किया जा सकता जा चिरस्थायी हो। यदि ऐसा कभी सभव हाता तो यह ससार इस रूप मे कभी न रहता जैसा मात्र हम इसे देख रह हैं। हम किसी मनुष्य की भूख थोडे समय के लिए भल ही शात कर लें, परतु बाद मे वह फिर भूखा हो जाएगा। सुख और दुख के इस अनादि ज्वर का कोई भी सदा के लिए उपचार नही कर सकता। अगर दवाइया स अन्य उपचारो से शरीर का दुख गायब हो जाएगा, तो वही दुख रूप बदलकर जब भीतर मन मे बुद्धि मे बैठ जाएगा तो उसकी दवा कौन करेगा ?

हमारे ऋषियो ने, महापुरुषो न देखा कि यह जगत जैसा है, वैसा क्या है ? उन्होने पाया—सतुलन नष्ट हो जाने के कारण। समता का अभाव केवल वैषम्यभाव के कारण ऐसा है यह जगत—सवत्र विरोध, प्रतियोगिता और प्रतिद्वद्विता। देखने से पता चलता है यह असहज है, असभव है। स्थिर जल का हिला दें तो पाएग कि प्रत्येक जलबिदु फिर से अपनी आदि अवस्था, स्थिर, शात को प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

पर यह कटु सत्य है कि पूण निरपेक्ष समता, समस्त प्रतिद्वद्वी शक्तियो का पूण सतुलन इस ससार मे कभी नही हो सकता। उस अवस्था को प्राप्त करने के पूव ही सारा ससार किसी भी प्रकार के जीवन के लिए सवथा अयोग्य बन जाएगा और वहा कोई प्राणी न रहेगा।

ससार का यह कमचक्र प्रकृति की एक भीषण यत्ररचना है। इसम हाथ पडा नही कि हम फसे और गए। यह प्रचड शक्तिशाली कर्मचक्र यत्र हम सभी को खीचे ल जा रहा है, इससे बाहर निकलने के केवल दो ही उपाय हैं—यह यत्र चलता रहे और हम इससे दूर रह। मतलब, बिना भोगे अपनी समस्त वासनाओ को त्याग दें, यह असभव है।

दूसरा रास्ता है हम इस ससार के कमक्षेत्र मे कूद पडें और कम का रहस्य जान लें। यही है कमयोग, जिसे देखा है हमारे समय में अपने अपने ढग से

विवेकानंद ने, तिलक ने, गांधी ने, टैगोर और अरविंद ने। अपने निराले ढंग से जयप्रकाश ने भी यही देखने का सार्थक प्रयत्न किया है।

कर्मयोगी का कथन है कि किसी कार्य में यदि थोड़ी सी भी स्वार्थपरता है तो वह हमें मुक्त करने के बदले हमारे पैरों में एक और बेड़ी डाल देता है। अतएव एक ही उपाय है फल के प्रति अनासक्त हो जाना, पर क्या यह संभव है ?

केवल एक ही उदाहरण है गौतम बुद्ध का। बुद्ध को छोड़कर संसार के अन्य सभी महापुरुषों की निःस्वार्थ कर्म प्रवृत्ति के पीछे कोई न कोई बाह्य उद्देश्य अवश्य था। एकमात्र उनके अपवाद को छोड़कर संसार के अन्य सभी महापुरुष दो श्रेणियों में आते हैं—एक तो वे जो अपने को संसार में अवतीर्ण भगवान का अवतार मानते हैं, दूसरे वे जो अपने को ईश्वर का दूत या सेवक मानते हैं। ये दोनों वस्तुतः अपने कार्यों की प्रेरणा शक्ति बाहर से लेते हैं। उनकी वाणी कितनी ही आध्यात्मिक क्यों न हो, वे बाहर से ही पुरस्कार, फल की आशा करते हैं। पर एकमात्र बुद्ध ही हैं जिन्होंने कहा 'मैं ईश्वर के बारे में तुम्हारे मत मतांतरों को जानने की परवाह नहीं करता। आत्मा के बारे में विभिन्न सूक्ष्म मतों पर बहस करने से क्या लाभ ? भला करो और भले बनो, बस यही तुम्हें निर्वाण की ओर अथवा जो कुछ भी सत्य है उसकी ओर ले जाएगा।'

बुद्ध के कार्यों के पीछे व्यक्तिगत उद्देश्य का लवलेश भी नहीं था, और उन्होंने जितना कार्य किया है वह आश्चर्यजनक है। इतना उन्नत दर्शन, इतनी व्यापक सहानुभूति, महाकरुणा फिर भी अपने लिए कोई दावा नहीं किया।

हमारी अपनी भारतीय संस्कृति और कर्मसाधना का परम बुनियादी तत्त्व है—सर्वत्र, सबमें भगवद्भाव यही है वह मूल भाव जिसका संकेत ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र में अभिव्यक्त हुआ है। ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत।—जो कुछ भी इस संसार में है वह परमात्मा से ओतप्रोत है। यही है वह सनातन सत्य जिसका उद्घोष वेद से लेकर श्री अरविन्द और गांधी तक महान रूप में हुआ है।

हमारे संपूर्ण जीवन में यह सत्य हमारे आचार और विचार को अनुशासित करता रहा है। वर्ण और आश्रम का आधार भी यही है। समाज का विकास वर्ण द्वारा और व्यक्ति का विकास आश्रम द्वारा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—गुण और कर्मों के ही आधार पर हुआ है, और ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास भी व्यक्ति के विकास के ही सूचक हैं। सभी वर्णों और सभी आश्रमों का समाज के प्रति देश के प्रति एक दायित्व है जिसे पूरा करने में ही उनकी सार्थकता है। उसमें सब समान हैं। सबकी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यही अर्थ का धर्म और काम का मार्ग अनुशासित करता है। और इन चारों से पर हमने मोक्ष को परमतम पुरुषार्थ माना। हमने यह

प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि जिस तरह नियम मे आनद है उसी तरह कम मे ही आत्मा की मुक्ति है। अपने आपमे आत्मा प्रकाशित नही हो सकती, इसीलिए वह बाह्य नियम चाहती है। तभी आत्मा मुक्ति के लिए बाह्य कम की ओर जाती है। मानव आत्मा कम द्वारा ही अपने भीतर से अपने आपको मुक्त करती है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य इच्छापूवक कभी कम न करता।

मनुष्य जितना काम करता है उसी मात्रा मे अपने भीतरी अदृश्य को दृश्य बनाता है। अपने विविध कर्मो मे, राष्ट्र और समाज मे अपने आपको अलग-अलग दिशाओं मे देख पाता है। *यह देख पाना ही हमारी मुक्ति है।*

जिन्होंने आत्मा को पूण रूप मे जाना, उस ही उन्होने आत्मबोध कहा। पर आत्मबोध बुद्धि की, मनन चितन की वस्तु नही थी। कम के भीतर से, प्रत्यक्ष जीवन स जिन्हें आत्मबोध हुआ उन्होने कभी विह्वल होकर यह नहीं कहा कि जीवन दुखमय है और कम केवल बधन है। वे लोग उन दुबल फूलो की तरह नही थे जो फल लगने से पहले ही डठल से अलग हो जाते है। जीवन के डठल को उन्होने बडे जोर से पकडा था और कहा था—जब तक फल नही लगता हम कदापि इसे नही छोडेंगे। क्योकि उन्हे पता था फल पूरी तरह से पक जाने के बाद रस के भार से अपने आप ही डठल छोड देगा। समस्त सघर्षों के बीच आत्मा के माहात्म्य को उत्तरोत्तर उदघाटित करते हुए उन्होने अपने आपको देखा और विजयी वीर की तरह ससार पथ पर सिर उठाकर अग्रसर होते रहे। विश्व जगत मे निरतर बनने-बिगडने के बीच जिस आनद की लीला चल रही है, उसी के नृत्य का छद उनकी जीवन लीला के साथ ताल-ताल, सुर सुर मे मिला हुआ था। उनके आन द के साथ सूय प्रकाश का आनन्द, मुक्त वायु का आन द सुर मिलाकर जीवन को भीतर बाहर से अमृतमय बनाता था। यहा तब हमारे जीवन के प्रत्यक क्षेत्र म आत्म और परमात्म का सुर बज उठा था। युद्ध मे, वाणिज्य मे, साहित्य और शिल्प मे, धर्माजन मे सवत्र वही सुर। उस समय हमारे सारे कम और व्यवहार मे मोक्ष और मुक्ति का भाव था। समस्त भारतीय समाज मैत्रेयी की तरह कह रहा था—'येनाह नामृता स्यामि-मह तेन कुर्याम।

यही है हमारी वह चेतना भूमि, बुनियाद, जीवन आधार जिस पर खडे होकर अपने वतमान मे पूण वतमान होकर दयानद, विवेकानद, राजा राममोहन राय, तिलक, अरविंद महात्मा गाधी ने आधुनिक भारत की चरित्र रचना करनी चाही है।

पर इस बुनियाद और वतमान के बीच जो समय, जीवन और यथाथ घटित हुआ उसे देखना होगा तभी हम से हमारे वतमान का, हमारे चरित्र का सही साक्षात्कार हो सकेगा।

चौथा अध्याय

वृक्ष हम लोग

हम लोग हिंदू नही, भारतीय। बीज रूप म हम आय, आय' गुणवाची नाम हमारा। बाहरी लोगो ने हम लोगा को 'हिंदू' कहा। पर हिंदू कहने स हमारा जा बुनियादी भारतीय रूप है, वह पूणत अभिव्यक्त नही होता। क्योकि इस भारतीय चरित्र की बुनियाद ही है सब वर्णो, सप्रदायो, धर्मो, सस्कृतियो, जातिया को समनी कर, मिलाकर एक भारतीय जाति बना देना, अनेक धर्मो अनक सस्कृतियो को मिलकर एक भारतीय धम और एक भारतीय सस्कृति तैयार कर देना। अर्थात नीग्रो, ओस्ट्रिक, द्राविड और आय, कम से कम ये चार जातिया और सस्कृतिया थी, जिनके परस्पर मिलन और मिश्रण स एक महाजाति पैदा हुई जिसे बाहरी लोगा ने हिंदू' जाति कहा, पर वज्ञानिक रूप से जो 'भारतीय है। (सबसे पहले अलबरुनी ने, ग्यारहवी सदी मे हम 'हिंदू कहा।) भारतीय, यही वह वृक्ष है यही अब तक हम लोग हैं, जिसका बीज 'आय था। उस बीज से उगकर वह पौधा उपनिपदो के धरातल तक आया। बौद्ध, जन और *गुप्त साम्राज्य के भागवत धम तक आकर वह पौधा पूरा एक वक्ष हो* गया। दूर-दूर तक फला हुआ बौद्धिक और कलात्मक, पत्र-पुष्पो स भरा हुआ यह वक्ष हो गया। पूरे आत्मविश्वास से अपनी जडो पर खडा यह वक्ष अपनी उच्चतम सस्कृति पर गव करता है।

उत्तरी और पश्चिमी भारत म उन दिनो शुग, कण्व, यूनानी, शक और कुषाण राजा राज कर रहे थे तथा दक्षिण मे सातवाहनो का राज्य था। भारतीयो की बुनियादी विशेषता है कि जब जब इस देश मे विदेशी जातिया नस्लो और सस्कृतियो के लोग आ बसते हैं, तब तब उसके भीतर से प्रगति का ज्वार उठने लगता है। और जब यह प्रगति ज्वार उठना बद हो जाता है, तब यह शक्ति-हीन होता है। यूनानी, शक और कुषाण लोग विदेशी थे किंतु भारत आकर व भारतीय हो गए।

मौर्यो के पतन से लेकर गुप्तो के उत्थान का समय ही इस भारतीय वक्ष का वह समय है। यही वह काल है जब आय से हम लोग बदलकर 'भारतीय'

तथा वैदिक धम परिवर्तित अथवा परिपक्व होकर भागवत धम (हिंदू धम) हो जाता है। यही वह काल है जब रामायण और महाभारत का अंतिम रूप बनकर तैयार हो जाता है। जब स्मृतिया लिखी जाती हैं, आरम्भ के पुराण रचे जाते है और दशन की अनेक शाखाओ का विकास होता है। आर्यों ने आर्येतर सस्कृतियो को अपनी सस्कृति मे पचाने का जो अभियान शुरू किया था, वह इसी काल म आकर पूरा हुआ। ब्राह्मण जिस गुह्य ज्ञान को उतने दिनो से जनता से छिपाए हुए थे, वह महाकाव्यो और पुराणो द्वारा इसी काल मे जनसाधारण के लिए सुलभ हुए।

यह सब तो हुआ, वृक्ष पर मूल्यवान फल भी लगे, पर इस वृक्ष म तभी बीमारी भी लग गई। बीज से वृक्ष होते होते वृक्ष म रोग लग गया।

आयुर्वेद म रोग के चार अग (विभाग) बताए गए हैं—रोग निदान, औषधि और आरोग्य। ठीक इसी धरातल पर वैदिक परपरा से लेकर बुद्ध तक विद्या के चार अग बने—दु ख, निदान माग और मोक्ष। ठीक इसी प्रकाश मे धम के भी चार अग विकसित हुए—दशन, पुराण, कम और फल।

बीज ही विवेक है। भाषा के स्तर पर बीज ही दृष्टि है। अभिव्यक्ति के स्तर पर इसे ही 'उपाय कौशल' कहा गया। लेकिन सच्चाई यह है कि दृष्टि (बीज) से उपाय तक आने तक इसमे अतर या विकार आ जाता है। अभिव्यक्ति स्तर से, बीज से, वृक्ष (कम) तक आते आते कही कुछ स्वभावत अशुद्ध, विकृत हो जाता है। इसीलिए हमारे ऋषि-मुनि शब्द और कम की शुद्धि निरतर करते रहे हैं।

मनु ने कहा है—'धम की शुद्धि हमेशा समय समय पर आवश्यक है'। मतलब बीज को समय के साथ देखते रहना जमीन और जलवायु के साथ परीक्षण करते रहना परम आवश्यक है। इसके लिए देखनेवाले परीक्षण करनेवाले म सिद्ध, मुनि, विद्वान—य तीनो अग एक ही मे अनिवाय है। हमारे यहा कपिल मुनि ऐसे ही एक अन्यतम उदाहरण है जिनम सिद्ध, मुनि और विद्वान ये तीनो आयाम एक ही व्यक्ति मे समान रूप से है।

पर इस वृक्ष अवस्था म आकर ये तीनो अग ही एक दूसरे से अलग नही हुए, वरन जो सिद्ध अग था, वह तात्रिक हो गया, जो मुनि था वह जगलवासी सन्यासी हो गया और जो विद्वान था वह शास्त्रीय, कमकाडी हो गया। धम से दशन अलग, दशन से कम अलग, कम से व्यवहार अलग, इस एकागिता से धम का सर्वांगीण रूप नष्ट हो गया।

इस अलगाव से पहली बार भारतीय चरित्र मे तीन विसगतिया, तीन विरोधाभास मन, वाणी और कम मे यह त्रि आयामी सकट उपस्थित हुआ। मनु का यह कथन 'सत्यपूत वदेतवाच मन पूत समाचरेत'—सत्य से पवित्र वचन कहना, विवेक से पवित्र आचरण करना—यह ध्वस्त हो गया। इन्ही विसगतियो

से कम ने कमकाड का रूप धारण किया और व्यवहार ने आडम्बर का रूप लिया।

भारतीय चरित्र भारतीय संस्कृति म यह रोग चौथी शताब्दी मे प्रकट हुआ। इसी रोग के लक्षण थे—वर्ण स जाति का घेरा, फल को कम से अलग करना, और इसके लिए फल देनेवाले ईश्वर, भगवान (भागवत धर्म) की कल्पना करना।

हमारे बीज मे, आर्य जीवन म ईश्वरवाद नही था, वहा आत्मा है, ब्रह्म है। बिना कम के फल की कल्पना वहा नही है। जो बुरा है, अशुद्ध है उसके बुरे फल स अशुद्ध परिणाम से छुट्टी मिल जाए, इस अनिवार्यता का वहा झुठलाया नही गया है। पर अब यहा बुरे कम का बुरा फल हमे न मिले, इसकी रोक के लिए हमने ईश्वर का ला खडा किया। अपने कम का दायित्व दूसरे पर। जो अच्छा फल है, मीठा फल है वह हमारा, जो बुरा फल है वह दूसरो का। यही स तुलना शुरु होती है—अच्छे और बुरे म, नीच और ऊच मे, दुख और सुख म।

पर यह रोग अचानक नही आया। बीज से वृक्ष बनने तक की प्रक्रिया म, बाह्य आक्रमणकारियो स हमारे जितने युद्ध हुए, तरह तरह के युद्ध हुए अपने देश के भीतर जितने परस्पर संघर्ष हुए, लडाइया हुईं, भारत का सास्कृतिक क्षितिज जितना विशाल और विस्तृत हुआ, ईरान, चीन, यूनान और मध्य एशिय से हमारा जितना सबध बढा, इन सब कठिनाइयो और तूफानो का स्वाभाविक असर उस बढते हुए पौधे पर पडना था।

शुग, सातवाहन, शक, कुषाण, चेरा और चोल के समय म (२०० ई० पू० से सन् ३००) जा इतना बडा व्यापारी समाज पैदा हुआ, जिनका व्यापार ग्रीक, रोम, चीन, मिस्र मेसोपोटामिया, मध्य एशिया तक फैला था, उसका मानसिक, नैतिक प्रभाव भी इस पौधे पर अनिवार्यत पडना ही था।

जीवन गति और विविध संस्कृतियो के एक बहुत बडे सैलाब का सामना करना पडा उस बढते हुए वृक्ष का। उस सैलाब, उस बाढ का अनुभव बुद्ध को बहुत पहले ही हो गया था तभी तो उन्होने कहा— आत्मद्वीपो भव। अर्थात इस बहाव मे, जल प्रवाह मे स्वय द्वीप हो जाओ। बहो मत। अपने द्वीप की जमीन पर पैर रखकर खडे हो जाओ। अर्थात मन और भावनाओ की लहरो मे मत बहो मन को देखो और आत्मन हो जाओ, कर्ता हो जाओ।

वृक्ष होता हुआ वह भारतीय पौधा बेहद सुनहला था (स्वर्ण युग) दूर दिगतो तक फैलती हुई उसकी बौद्धिक और कलात्मक शाखाओ पर, उसके सुदरतम अति सुगधित पुष्पो और अनन्य रसमय दिव्य फलो पर किस बाहरी देश की लोलुप दृष्टि न पडी होगी।

फल और दृष्टि की, फल और कम की उसी विसंगति से हम लोगो म

कमजोरी और ह्रास के चिह्न दिखाई देने लगे। पश्चिमोत्तर से गोरे हूणो के दल के दल आते यद्यपि हम उन्हे मार भगाते रहे फिर भी उनका आना जारी रहता और क्रमश वे उत्तरी भारत मे जम गए। इस प्रसग को जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' मे बहुत ही गभीरता से उठाया है—'आधी सदी तक वह (हूण) उत्तरी हिंदुस्तान मे शासन भी करते हैं लेकिन इसके बाद अतिम गुप्त सम्राट, मध्य हिंदुस्तान के एक शासक, यशोवर्धन के साथ मिलकर बडी कोशिश से उन्हे देश मे निकाल बाहर करता है। इस लबे सघर्ष के कारण हिंदुस्तान राजनीतिक दृष्टि से तथा लडाई की शक्ति की दृष्टि से भी कमजोर पड गया, और हूणो के बहुत सख्या मे सारे उत्तरी हिंदुस्तान मे बस जाने ने क्रमश लोगो मे एक भीतरी परिवर्तन भी पैदा कर दिया। जिस तरह और विदेशो मे आनवाले यहा समाविष्ट हो चुके थे उसी तरह यह भी कर लिए गए, लेकिन इनकी छाप बनी रही और भारतीय आर्यजातियो के प्राचीन आदर्श दुर्बल पड गए। हूणो के जो पुराने वर्णन मिलते है, वे उनकी हद दर्जे की कठोरता और बर्बरता के व्यवहारो से भरे हुए हैं, और इस तरह के युद्ध और शासन के व्यवहार भारतीय आदर्शो से बिल्कुल विपरीत हैं।"[1]

सातवी सदी मे हर्ष के समय मे राजनीतिक और सास्कृतिक दोनो तरह की पुनर्जागृति होती है। नवी सदी मे गुजरात का मिहिरभोज छोटे छोटे राज्यो को एक मे मिलाकर उत्तरी और मध्य भारत मे एक केंद्रीय राज्य स्थापित करता है। इसके बाद फिर ग्यारहवी सदी के आरभ मे एक दूसरा राजा भोज एक पराक्रमी रूप मे हमारे सामने आता है और उज्जयिनी फिर एक बडी राजधानी बनती है। परतु इन कुछ महत्वपूर्ण फलो के बावजूद हम देखते हैं कि हम लोगो मे भीतर कमजोरी बैठ गई जो न केवल राजनीतिक प्रतिष्ठा को बल्कि रचनात्मक तत्त्व को ही मद करने लगी।

क्या थी वह कमजोरी ? वह रोग क्या है जो हमारे वृक्ष मे लगा और जिस रोग के बाहरी लक्षण थे—वर्ण से जाति पाति कर्म से कर्मकाड ज्ञान से शास्त्रार्थ, कर्म और फल के बीच मे ईश्वरवाद, विस्तार से सकोच, शौर्य से भय।

हमारे ऋषि मानते थे कि किसी भी सम्प्रदाय मे जन्म लेना तो ठीक है पर उसमे मरना ठीक नही है। शत्रुओ से, आधी, बाढ, तूफान से रक्षा के लिए पौधे के चारो ओर सुरक्षा के उपाय आवश्यक हैं। पर जब पौधा वृक्ष हो जाता है तो सुरक्षा की वही वस्तुए वृक्ष के गले मे, उसके पूरे शरीर मे, उसके भीतर तक धसकर उसे ही मारने लगती हैं।

तभी ऋषियो ने कहा कि जिस सप्रदाय मे जन्म लेना उसमे ही मरना नही।

१ डिस्कवरी आफ इंडिया जवाहरलाल नेहरू पृष्ठ २३२

अपने सुरक्षा के घेरो को स्वत त्यागकर विकसित हो जाना ही धम है। मत लब धम मे सदा विकास होना अनिवाय है। यहा सब कुछ हर क्षण बदल रहा है। बुद्ध ने सबसे बडी बात सारे धम और दशन का सार यही तो कहा था—'एहि पस्सिक धम्म'। आओ और देखो—यही धम है। देखो, यहा हर क्षण सब कुछ बदल रहा है—यहा तक कि सत्य भी परिवतनशील है। देखता कौन है ? मैं देखता हू, कर्त्ता देखता है। देखने से ही सकल्प बनता है पर देखने के लिए बल्कि देखने के माग मे, उसके पहले चरण म बुद्धि की तक की, अर्थात विकल्प की जरूरत पडती है।

चौथी सदी (ईस्वी) मे दिङ्नाग ने विकल्प की प्रकृति के बारे मे, जब विकल्प का जाल चारो तरफ फैलना शुरू हुआ था, कहा था—शब्द की योनि विकल्प है, विकल्प की योनि शब्द मे है। (विकल्प योनय शब्दा विकल्प शब्दयोनय)।

विकल्प का काय है—बुद्धि का चिराग जलाकर छाटना, अलग करना, यह नही, यह नही—यह है विकल्प की प्रकृति। अर्थात विकल्प निषेधात्मक तत्व है। विकल्प जहा समाप्त होता है वहीं से सकल्प शुरू होता है। पर यह तभी सभव है जब देखनेवाला स्वय कर्त्ता हो। कर्त्ता वह है जो स्वधम जानता हो। मतलब देखनेवाले और वस्तु के बीच, कर्त्ता और देखन के बीच कोई पदा न हो। पर्दा माने विकल्प, मन, अहकार बुद्धि, निषेध। पर जहा सब कुछ विकल्प पर ही आकर थम जाए विकल्प ही जहा सारे शास्त्रो का मूलाधार बन जाए—यही है वह रोग। इस रोग की शुरुआत बुद्ध के समय मे ही हो गयी थी, तभी तो बुद्ध ने कहा—जिनकी केवल शून्यता दष्टि है, वे असाध्य (रोगी) हैं। ठीक से न समझी हुई शून्यता, साधारण लोगो का विनाश कर देती है। असिद्ध विद्या वही प्रतिक्रिया करती है जैसे साप का ठीक से न पकडा जाए तो उलटकर वह डस लेगा।

भारतीय जीवन मे जबसे विकल्प का राज हुआ, तभी से शुरू हुई शास्त्र रचना, विधि और प्रतिरोध। धमशास्त्र बना। तत्र मत्र दीक्षा, अनुष्ठान गुह्य साधनाए शुरू हुइ। जादू टोना वामपथ, मीमासा का शब्दजाल, शास्त्रजाल, कमकाड का जाल, विकल्प की असख्य दृश्य अदृश्य दीवारें हमारी आखो के सामने उभर गइ। इसका फल यह हुआ कि ब्राह्मण ने अवमूल्यन किया ज्ञान का, विद्या का, क्षत्रिय ने नष्ट किया न्याय को वैश्य ने नष्ट किया औदाय को और शूद्र न नष्ट किया सेवा को।

बौद्धिक साहस, विद्या दष्टि के स्थान पर कठोर तकशास्त्र, धमशास्त्र आने लगा। विद्या, धम अथशास्त्र, कला-साहित्य स पूरित विशाल सास्कृतिक वक्ष पर कटटरता, अधविश्वास विसगतियो का तुषार पडन लगा। सारा समाज जातियो, वर्णों सम्प्रदायो धमशास्त्र के लग घेरो मे परस्पर छिन भिन्न होने

लगा। एक दूसरे से अलग थलग रहने की प्रवत्ति पूरे समाज की रचनात्मक शक्ति को खोखला करने लगी।

भय ने, बाहरी आक्रमणकारियों यवनों के भय ने तथा भीतर अपने अस्तित्व के भय ने व्यक्ति की स्वतन्त्र क्रियात्मक स्फूर्ति, उल्लास और साहस को कुंठित कर दिया। सब कुछ जैसे अपनी-अपनी सीमा में बंधकर रुकता ठप्प होता चला गया। एक से दूसरे का पारस्परिक संबंध जैसे टूटता चला गया। वर्ण व्यवस्था जो पहले गत्यात्मक थी, स्वतन्त्र थी, अब जाति व्यवस्था के उदय और तदनुसार धर्मशास्त्र के कारण रूढ़ हो गई। क्षत्रिय का काम देश की रक्षा में परंपरा निर्वाह के नाम पर मात्र लड़ाई करना रह गया। इस काम में दूसरों की या तो रुचि न रह गई या उनके लिए धर्म से वह सहज काम निषिद्ध करार दे दिया गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय वाणिज्य व्यापार, शिल्प तथा कारीगरी करनेवालों को नीची निगाह से देखने लगे। सब कुछ ऊंच नीच, अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ, शास्त्र अशास्त्र में बंटकर बिखरने लगा।

चौथी सदी से लेकर यवनों के आने तक भारतवर्ष ने ऊपर-ऊपर कितनी भी उन्नति क्यों न की हो, पर भीतर ही भीतर सारा समाज रुग्ण होता गया। वेदांत में केवल ब्रह्म ही सत्य था और शेष माया थी। वही माया अब इस चरण में आकर पाखंड के लिए खुली जमीन बन गई। यहां जो मूल्य है, आदर्श है वह तो अब ईश्वर हो गया और जो सत्ता तथा शक्ति है वही माया है। अर्थात् जो पारमार्थिक है वह तो वेदांत है, पर जो व्यावहारिक है, वह जीवन है। और जीवन है भी और नहीं भी है। धर्म दर्शन की इस भारतीय अवधारणा से जितना झूठ, जितना पाखंड और कर्मकांड निकला, उससे हमारी बुनियादी जीवन व्यवस्था ही टूटने लगी। इसी घोर भारतीय लोक संकट को देखकर सातवीं सदी में नालंदा के आचार्य धर्मकीर्ति (बौद्ध नैयायिक) ने कहा 'हा धिग् व्यापक तम ओह धिक्कार है इस घोर अंधकार को।

वह घोर अंधकार क्या था ? जड़ता का अंधकार। और उस व्यापक जड़ता के धर्मकीर्ति ने पांच[1] लक्षण बताये

१ वेदवचन को स्वतः प्रमाण मानना।
२ किसी ईश्वर का इस लोक का कर्ता मानना।
३ स्नानादि में ही धर्म की इच्छा रखना।
४ जात पात में लिप्त रहना।
५ पाप के नाश के लिए आत्मसंताप करना।

जड़ता के इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति और समाज को धर्मकीर्ति ने 'ध्वस्त-

१ वेद प्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिङ्गानि जाड्ये ॥

प्रना' कहा। जडता के ये पाचो लक्षण उस समय के पूरे समाज और धम म थे। पहले लक्षण मे मीमासक आते हैं, दूसरे लक्षण मे भक्त या भागवतधर्मी, तीसरे मे कमकाडी, चौथे मे धमशास्त्री और पाचवें मे जनी।

कमवाद और ईश्वरवाद की इस विसगति, इस जडता को आचाय वसुबधु ने चौथी सदी मे ही देखकर कहा था अपने 'अभिधम कोष म—'कमसिद्धा त और ईश्वरवाद इनम से किसी एक को ही स्वीकार किया जा सकता है।' दोनो एक साथ सभव ही नही है—दोनो का परस्पर विरोध है।

ध्वस्त होती हुई प्रज्ञा से स्थित प्रना, फिर से बुनियाद या मूल पर स्थित करने का प्रयास पहली सदी म नागार्जुन ने किया और चौथी सदी म वसुबधु ने, सातवी सदी मे धमकीर्ति ने आठवी मे शकराचाय न—पर आठवी से आगे चौदहवी सदी तक केवल शास्त्रीय परम्परा का जड राज्य रहा। फिर इस घोर जडता के खिलाफ कबीर, नानक तुलसी सत ज्ञानेश्वर की वाणी ने विद्रोह किया। आधुनिक काल म उसी जडता के विरुद्ध रामकृष्ण, विवेकानद, अरविंद और महात्मा गांधी के कम साक्षी हुए।

मुझे लगता है, हमारी भारतीय सस्कृति म जब जब राजशक्ति रोगी हुई है तब-तब लोकशक्ति ने उदित होकर उसका निदान और उपचार किया है। जब-जब ब्राह्मण शक्ति अर्थात शास्त्र शक्ति निबल हुई है तब-तब गर ब्राह्मण परपरा श्रमण शक्ति ने आकर देश और समाज को नष्ट होने से बचाया है। बुद्ध, नागाजुन से लेकर महात्मा गाधी, जयप्रकाश तक राजशक्ति के खिलाफ लोकशक्ति का यह अबाध सघष—एक महत्त्वपूण उदाहरण है हमारी भारतीय मनीषा का।

यह सच है कि वण व्यवस्था से जब जाति व्यवस्था बनी, कम और फल के बीच जब भागवत धम लाया गया, तो उसके पीछे निश्चित कारण थे और उस समय इसकी बडी अथवत्ता थी। पर हर चीज, हर विचार हर व्यवस्था एक समय, एक स्थान से चलकर जब दूसरे समय, स्थान पर पहुचती है तो उसका सारा अथ, सारा सन्दभ और प्रसग सवथा बदल जाता है। अर्थात जो जाति व्यवस्था और कमफल विश्वास तब मगलकारी था यही कालातर म शोषण, उत्पीडन और आत्मविनाश का साधन और कारण बना। पर इस बदले कौन ?

जातिवाद से शास्त्रवाद और शास्त्रवाद स कमफलवाद के उदय स धीरे-धीरे हम लोगो के जीवन म यह बात घर कर गई कि जो जीवन हम जी रहे हैं, वह गलत है। हम जो जीवन जीना चाहिए और जो सही है वह शास्त्रो म दिया हुआ है। इसका फल यह हुआ कि जीवन का नियामक तथा जीवन को बनाने और बदलनेवाली शक्ति अब इसान नही है वरन् शास्त्र है और शास्त्र म बताए गए ईश्वर के अवतार—देवी देवता ही हमारे रक्षक हैं। इसस हमारा सारा आत्मविश्वास धीरे धीरे टूटने लगा।

तब यह बहुत बडी बात थी जब हिन्दू धम ने आर्यों का, द्रविडो को और पूव की ओरगगा की घाटी म आ भटकी मगोल जातियो को, हिमालय पर से आक्रमण करनवाल पार्थियन, सीथियन और हूणो को अपने अक मे खीच कर उन्हें अपना बना लिया। अपना बनान की प्रक्रिया म उन्हें यह छूट दी कि व आय धम म रहते हुए भी अपने पुरान धर्मों की विधियां और परपराओ को बनाये रखें। पर ज्यो-ज्यो कला कौशलो, व्यापारो की सख्या बढी और परस्पर जटिलताए उभरी, त्यो-त्यो धधो और पेशो के आधार पर अलग अलग जातियो का विकास हो गया। और जब आर्यों न दखा कि उनके यहा अनेक जातियो और रगो के अनेक कबीलो और श्रेणियोवाली जनसख्या विद्यमान है और य लोग विभिन्न देवताओ और भूत प्रेतो की पूजा करते हैं अपनी रहन सहन की आदतो पर चलते हैं तो उन्होने (हमने) चौतरफे वर्गीकरण को अपनाकर उन सबको एक ही समष्टि मे विधिवत स्थापित कर देने का प्रयत्न किया। तब यह एक ऐसा वर्गीकरण था जो सामाजिक तथ्यो और मनोविज्ञान पर आधारित था—और इसके पीछे हमारा वही विश्वास था कि सबमे उसी एक ब्रह्म का वास है, हम सब समान हैं। जीवन का लक्ष्य स्वकम द्वारा जाति सीमा स ऊपर उठ जाता है। पर यह बात केवल विचारो तक, शास्त्रो मे रह गई, जीवन एक बार जो जातिभेद म बटा, वह उत्तरोत्तर छोटा, असुन्दर और अनाकषक होता चला गया। हम लोग जीवन स भागने लग। एक वग भागकर अपने अन्दर छिपने लगा। दूसरा वग बाहर—जगलो मे, आडबरो और झूठो मे शरण ढूढने लगा।

पर जिसका 'स्व और 'आत्म से, स्वय से, कोई सबध ही न हो वह एक ओर अपने भीतर के अधकार मे भटकेगा, दूसरी ओर बाहर के वहत ससार के साथ उसका योग ही असभव है। ऐसा व्यक्ति या समाज न कुछ दे पाता है, न ले पाता है। वह अपन आपम ही अवरुद्ध हो जाता है। वह बाहर स पृथक और भीतर स टट जाता है।

कम के साथ साथ सतत प्रश्नकर्ता बने रहना और सतत कर्मों और आचरणो द्वारा प्रश्नो के उत्तर दत रहना—इसी सतत जीवित प्रक्रिया स हमारा चित्त बनता है। ऐसा चित्त ही बाहर की शक्ति को आत्मसात करता ह, और स्वभावत तभी आतरिक भेद विभेद दूर हो जात है। यह व्यक्ति-चित्त से लेकर समाज चित्त और लोक चित्त तक सत्य सिद्ध है।

बीज रूप म ऐसा ही चित्त था हमारा और अदृश्य रूप मे (वक्ष म बीज अदृश्य हो जाता ह।) अब तक हमारा वही चित्त है जिसके दशन कभी-कभार हमे हो जाते हैं। उस चित्त मे हमे यह कहने की क्षमता थी सब लोग आए, सब दिशाओं से आए, विश्व के लोग सुनें। क्या ? 'मैं जानता हू, जो जानता हू वह सारे विश्व का आमन्त्रित करके सुनाने योग्य है।'

वह चित्त इतना असीम आत्मविश्वास देता है। वह चित्त प्रश्न करने से

चिंतन और मनन से अर्थात 'देखन' से बनता है। हम लोगो न जब से धम और अध्यात्म के अलावा जीवन के प्रति प्रश्न करना छोड दिया, भारतवष मे जिस दिन से उसके मनोलाक मे चिंता की महानदी सूख गई, उस दिन से हम लोग, यह देश जड और सकीण हो गया। जब चित्त की सतत, नित्य बहती हुई जीवन धारा सूख जाती है तब उस धारा के नीचे जो पत्थर, रोडे पथ बन पडे रहत थे वे अब ऊपर आकर रास्ता रोक लेत है।

जब तक वृक्ष के पत्ते हरे भरे हैं तब तक जो भी हवा आती है उसे वे खेलते हुए लेते हैं और वक्ष के तने से उसका सगीत और उसकी गति, गुजरती हुई जडा तक पहुच जाती है। पर सूखे पत्ता मे हवा नहीं रुकती। हवा लगते ही पत्ते झर जाते है। हवा बिना वृक्ष को स्पश किए चली जाती है।

तो सूखी धारा के वे ककड-पत्थर सूखे वक्ष की सूखी हुई पत्तियो का वह अपार अबार—यही है वह अथहीन शास्त्र, पुराण मूर्ति पूजन, निष्फल आचार पुज आनुष्ठानिक निरर्थकता और विचारहीन लोक व्यवहार—जहा से आग चलने का सारा रास्ता ही रुक जाता है। यही है हम लोगो का वह भारतीय मानस जब यवनो से हम पराजित हुए।

उस पराजय से सारा कुछ स्थिर हो गया। आत्मरक्षा का केवल एक ही उपाय शेष रह गया। इस कदर हम लाग भयभीत हो गए कि हर चीज को, जीवन के हर तत्त्व को शास्त्र के सीखचो म बद कर दिया। तेरहवी सदी तक बद होते सिकुडते और झुकते चले जाने की प्रक्रिया पूरी हो गई। उसी का सबूत है मनुस्मति, विनानश्वर स्मति, मिताक्षर। आगे सत्रहवी सदी मे इसी का साक्ष्य है भटटोजी दीक्षित का 'सिद्धात कौमुदी' जहा सारा बल कर्त्ता, कम और क्रिया से हटाकर शेष अन्य कारका पर दे दिया गया। जब कि पहले पाणिनि का सारा बल कर्त्ता, कम और त्रिया पर था।

तेरहवी सदी तक आते आते हम लोगो के उस चित्त विनाश और चारित्रिक पतन के अन्य सबूत हैं—सत्यनारायण व्रत कथा और अभिनवगुप्त का तत्रवाद।

यवनो को भी अपन भीतर स्वीकार कर हम लोगो के चरित्र म एक गुणात्मक अतर आया—परदे का। दूसरे कही हमे देख न लें, इस भय न हम अधेरे म जा छिपने का विवश किया और वही से पनपा हुआ ढोग और पाखड ही हमारा धम हो गया। क्रिया से हम प्रतिक्रिया के जगत मे आए।

हम अपनी जड से ही न टूट जाए, इसलिए जब भी तेज आधी और भयकर तूफान आया, हमारा यह वक्ष उसी अनुपात मे अपनी रक्षा के लिए जमीन पर झुकता और गिरता चला गया।

यह वक्ष इस तरह अपनी जड मे तो नही टूटा, पर इसकी डाला पर, टहनिया और पत्तो पर असख्य आधिया और तूफानो के कारण जो इतनी मिटटी इतना मलबा, इतनी गध, इतना कूडा-कबाड, कचरा, पत्थर, रेत, बालू

आकर पट गया कि इस पर से इतना बोझ, दबाव कूड़ा-कचरा हटाकर फिर से इसे उठाने का काम कठिन हुआ।

पर इसका प्रयत्न रुका नहीं। जीवन मूल्य और धार्मिक स्तरों से इस वक्ष की सफाई करने और इसे उठाने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न कबीर नानक, नामदेव, तुकाराम ने किया, तुलसीदास ने किया।

मुगल बादशाहो तक आते-आते हिंदू मुसलमानो के योग से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे एक नई समन्वयात्मक सभ्यता का विकास शुरू हुआ—मेरी दृष्टि से यह सभ्यता न हिंदू थी, न मुसलमान, न वैष्णव न बौद्ध बल्कि जो शुद्ध भारतीय थी। शुद्ध भारतीय—मतलब सब को अपना बना लेना स्वीकार कर लेना, फिर भी सबको अपनी निजी (धार्मिक सामाजिक) स्वतंत्रता दिये रहना। यह भारतीय सभ्यता तभी तो इतनी बेमिसाल चटक, बहुरंगी है, क्योंकि इसमे अलग अलग न जाने कितनी सभ्यताओ का योग और संयोग है। यही है 'संगमनी'।

इसलाम भारत मे आकर भारतीय रंग मे रंग उठने से नहीं बच सका। हिन्दू धर्म और इसलाम धर्म दोनो ने एक दूसरे के गुण दोष लिए—क्योंकि अंततः दोनो को एक ही भारतीय सभ्यता मे मिलकर रहना था।

सारी हवाओ आंधी तूफानो को अपने आपमे समाहित करना और इस प्रक्रिया मे फिर एक बार कूड़े कबाड़ मिट्टी पत्थर के मलबे को अपने ऊपर से भाड़कर खडा हो जाना हमारे इस वक्ष की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। हर बडी आंधी तूफान मे यह वक्ष बार बार खडा हुआ है और हर अंधड, बाढ़ तथा अकाल मे यह जड से टूट न जाए, इसलिए जमीन पर लेट गया है और यहा तक कि आत्मरक्षा मे इसने अपने आपको पतित होने दिया है।

कितना आश्चर्यजनक, विचित्र है यह भारतीय वक्ष, जिसे बुद्धि से जान पाना असंभव है।

इस भारतीय वृक्ष पर सोलहवी सदी के मध्य मे अकबर नामक एक फल आया।

अकबर इस भारतीय वक्ष का ऐसा मूर्तिमान फल था जिसकी फल प्रक्रिया अकबर के सैकडो साल पहले से भारत मे चल रही थी और जो अकबर के बाद आज तक अबाध गति से चल रही है।

इस फल का रस था 'उदारता' और इस फल का बीज वही था—वही आदि बीज—'देखन' और 'खोजने' या प्रश्न करने की महान प्रवृत्ति।

पर अकबर के बाद धीरे धीरे इस वक्ष पर हिंदू और इसलाम की पुरानी संकीर्ण पतनो मुखी प्रवृत्तियो ने फिर से आघात करना शुरू किया। इस चोट और अपराध भाव का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है—औरंगजेब।

भारतीय वक्ष की जो मूल प्रकृति विकसित हुई वह है—हर चीज को छिपाना, ढककर रखना, दूसरे की नजरो से बचाकर रखना, और सदा पाप, भय

मे रहना। (बीज रूप मे 'हम' यह नहीं हैं। बहुत घुले हुए पारदर्शी हैं हम।)

इस भारतीय प्रकृति का अत्यत शोकपूर्ण शिकार औरगजेब हुआ।

औरगजेब प्रेमी था। और साथ ही इस प्रेम को पाप और गुनाह भी समझता था। इसीलिए अपने को दड देने के लिए वह इतने देवालयो के विनाश मे लगा रहा।

इसके बाद मनुष्य मनुष्य म, खडित शक्ति से खडित मनोकामनाओ के बीच जो सघर्ष शुरू हुए उससे परस्पर सबध विच्छेद की प्रक्रिया बडी तेजी से पूरी होने लगी। विकल्प जाल के भीतर से हम लोगो म एक ओर अहकार अपनी चरम सीमा पर पहुचने लगा, दूसरी ओर मन और भावुकता के छिछले बधे जल म के स्वार्थ भाव अत्यत प्रबल होने लगा। मन का राज्य हो, भावुकता भरा अतम हो, स्वार्थमय जीवन हो तो यह अवस्था निद्रा की होती है, जहा विवेक बुद्धि की सारी खिडकिया अपने आप बद हो जाती है। फिर जैसे स्वप्न मे मनुष्य अकर्त्ता होकर व्यवहार करता है, ठीक उसी तरह अर्थहीन आचार-व्यवहार के जाल म भारतवर्ष आत्मबदी होने लगा।

अपने प्रति अपना ही परिचय देने म हम लोग असमर्थ हुए। हम अपनी वाणी खो चुके थ। सब कुछ जसे वाणिज्य और व्यापार हो चला था। हम लोग अपने-अपने घरो, धर्मो, सप्रदायो, किलो और झोपडियो म दुबके हुए अपमान दुर्बलता और हीनग्रथि से भरे हुए थे। हम लोगो की ऐसी मन स्थिति और चरित्र के सामने व्यापार और वाणिज्य की आड म अग्रेज आए। व्यापार की आड म साम्राज्यवादी राजनीति की ऐसी कुचक्री शक्ति के साथ, जिसका उस समय तक हम लोगो को अपने हजारो साल के इतिहास मे कभी पाला नहीं पडा था।

अजब कपट भेष मे अग्रेज हमारे द्वार पर आए। हमारे घरो की सारी खिडकिया, सारे दरवाजे बद थे और हम लोग आत्मरक्षा के लिए जातपात शास्त्र, विधि, सिद्धि, आचार, मत्र के घेरो म बधे चुपचाप बैठे थे अपने अपने स्वर्ण भडार पर हाथ रखे। दरवाजे पर जब अग्रेजो की आहट हुई तो हमने अपनी परम्परानुसार समझा कोई अतिथि आया है, जो या तो हमारे घर का अग हो जाएगा या प्रसाद लेकर चला जाएगा। पर हम तब तक इतने भयभीत हो चुके थे कि अपने सम्मान की रक्षा करते हुए उससे कहते कि भाई जरा रुको हम दरवाजा खोलते हैं पर हमारी वाणी तब तक मर चुकी थी इसलिए हम दरवाजे की एक पतली सुराख (स्वार्थ) से उस जसे ही देखने को हुए उसने हमारे स्वर्ण भडार का दरवाजा तोडकर दस्यु के रूप मे घर म प्रवेश किया।

राज्य और शासन की आड म हमारा सब कुछ लूटकर इग्लड ले जाया जाने लगा। भारत देश नही एक बाजार होने लगा, जहा से कच्चा माल ले जाया जाता, फिर उससे पक्का माल बनाकर हमी को बेचा जाता। हम पैदा

करनेवाले, रचनेवाले, बनानेवाले नही रहे हम केवल उपभोक्ता होने के लिए विवश किए जाने लगे।

वक्ष उस दिन कोई फूल फल नही दे रहा था। सारा वृक्ष जगली लताम्रो, विषमय घासो, हिंस्र जीव जतुम्रो और सक्रामक रोग फैलानेवाले कीट पतगो से पटा पडा था। ऐसे ही दुर्दिन के समय राममोहन राय आए उस वक्ष को बधन और रोगमुक्त करने।

उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्ध मे वह तेज हवा चली मोह मुक्त बुद्धि की। हमारी नीद टूटी। हमने देखना शुरू किया वृक्ष म फूल आए हैं। उन पुष्पो की गरिमा, पवित्रता और सौंदय अपनी आखो मे भरकर हम बहुत दिनो बाद मानव के मिलन तीथ की ओर चले।

तब उस वक्ष मे फल लगा ब्रह्म समाज का, आय समाज का और भारत की आजादी के सग्राम का।

जा बीज अदृश्य हो गया था, उसे ढूढा जान लगा। जो बुनियाद थी हमारी, और जहा से हम खिसकत खिसकते दूर हट गए थे—'स्व' 'राज्य की बुनियाद, उसी पर पुन स्थापित होने का सकल्प जगा हम लोगो म।

अधता, मूखता, अहकार और स्वाथ, जिनसे मनुष्य का मनुष्य से विच्छेद हो जाता है, इस गहरे अधकार के खिलाफ जो मनुष्य मानव ऐक्य का युद्ध लडता है वही हैं हम।

हजारो वर्षों की काल धारा मे यहा इस वक्ष पर जितनी अनेक जातिया, सस्कृतिया एकत्र हुई हैं, उन्हें एक वक्ष के रूप म देखना ही है—वही है वक्ष—यही देखना 'स्वराज्य' है।

'बीज' जब धरती के अधकार को तोडकर अकुर के रूप मे पहली बार प्रकाशित हुआ था, तब उसके दुधमुहे स्वर से यह गान फूटा था—एक होकर चलेंगे, एक होकर बोलेंगे, सब के हृदय को एक जानेंगे।

कितना दुरूह, कठिन और साधनामय है यह गान।

पर और कोई सगीत भी नही है।

यही सगीत बुद्ध ने गाया, यही सगीत मध्ययुग के उस घोर अधकार मे सतो ने गाया और यही सगीत राममोहन राय और गाधी ने गाया।

बुद-बुद मिली सिंधु है जुदा जुदा मरु भाय।

जाको मारन जाइए सोई फिरि मारै, जाको तारन जाइए सोई फिर तारै।

पाचवा अध्याय

बीज और फल राजधर्म

फल म बीज, बीज स फल। बीज, पौधा, वृक्ष सब गतिमान है उसी फल की ओर। मव परिक्रमा कर रहे हैं उसी शक्ति, सत्ता की ओर। और सब उसी फल के माध्यम हैं, निमित्त ह, जिसका नाम है मुक्ति, स्वराज्य या मोक्ष। फल भी माध्यम है यहा। सत्ता या शक्ति भी साधन है उसी एक साध्य का, जिसका नाम स्वराज्य या मुक्ति है। इस बीज से जो फल निकला है उसी का नाम है राजधम। अर्थात बीज की बुनियाद की राजनीति है राजधम।

महाभारत म युधिष्ठिर के प्रश्न क उत्तर म भीष्म न कहा है कि सतयुग मे कोई शासन प्रणाली नही थी, कोई राजा नही था, धम से ही सब अपना-अपना कतव्य करते थे। धीरे धीरे लोग मोहग्रस्त एव लोभी हो गए। तब समाज मे पतन और बिलराव देखकर देवताओ ने ब्रह्मा के पास जाकर सब कुछ बताया। ब्रह्मा न पहले राजशास्त्र एव दडनीति की रचना की, बाद मे विष्णु की सहायता स एक राजा का निर्माण किया। उस आदिराजा का नाम पृथु था। एक दूसरे उपाख्यान के अनुसार इसी तरह पहले राजा मनु हुए। इस प्रकार व्यक्तिगत कर्तव्य एव धमपालन मे शिथिलता आते ही राजा अनिवाय होता है। और यह राजा कैसा हो, उसका राज्य कसा हो, उसका धम क्या हो, इसी का नाम है राजधर्म। कृष्ण अजुन से कहते हैं कि नरो मे मैं ही नराधिप हू। अर्थात राजा, मनुष्यत्व के पूण विकास का साक्षात स्वरूप है।

महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ मे श्रेष्ठ अध्य के अधिकारी भगवान श्रीकृष्ण थे। राजा अपने श्रम का फल भगवान को समर्पित कर, यह है भीष्म के राजधम का मूल। भीष्म और विदुर दानो के अनुसार राजा भगवान (श्रेष्ठतम मूल्यो) का प्रतिनिधि होता है। उसे राजकोप की रक्षा जनसाधारण के लिए करनी पडती है। राजा जितेंद्रिय बन, राजकाप का धन राजा के भोग के लिए नहा होना। राज्य के मगल क लिए है सारी अथव्यवस्था।

भारतीय राजधम के विकास म क्रमश इतने चरण हैं शुक्र, वृहस्पति मनु भीष्म और कौटिल्य। यह ध्यान देने की बात है कि अथ, काम, धम और

मोक्ष—इन चारो फलो मे राजधम के अनुसार पहले अथ पर ही सवाधिक बल दिया गया है। अथ के अन्तगत कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और व सारे कम आ जाते हैं जिनका सबध मनुष्य की भौतिक समृद्धि से है।

शुक्रनीति के राजधम का मूलाधार है अथ। शुक्रनीतिसार को अगर एक शब्द म कहे तो यह गाव का स्वराज्य है। ग्राम पचायतें अत्यत महत्त्वपूण थी। इसकी मयादा यह थी कि सावजनिक पदो पर ग्राम पचायत के सदस्यो व निकट सबधियो की नियुक्ति नही हो सकती थी। ग्राम पचायतें स्वायत्त सस्थाए थी। जब तक राजाज्ञा न मिली हो, कोई भी सिपाही किसी गाव म दाखिल नही हो सकता था। खेती की प्रथा की बुनियाद सहकारिता पर थी। व्यक्तियो और घराने के कुछ अधिकार थे पर उतने ही कतव्य भी थे। शुक्रनीति के राजधम के अनुसार अगर राजा अन्यायी या अत्याचारी हो तो उसके खिलाफ विद्रोह करने का अधिकार एक माना हुआ अधिकार था।

बृहस्पति के राजधम का मूलाधार अथ और काम दोनो हैं। पर मूल बल काम पर दिया गया है। बृहस्पति न राजधम के प्रसग म अथ को साधन माना और साध्य माना काम का। काम से अभिप्राय, सुख, भोग और आनद।

मनु ने इस प्रसग मे अथ और काम इन दोनो को साधन बताया और साध्य बताया धम को। मनु ने धम को बहुत ही वैज्ञानिक रूप मे देखा। धम का जो बाहरी ढाचा है, जिसे उन्होने 'धमतत्र' कहा, वह है चार वण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। और चार आश्रम—ब्रह्मचय, गहस्थ, वानप्रस्थ और सयास। परतु धम का मूल यह वर्णाश्रम व्यवस्था नही है। धम का मूल, या धम के चार लक्षण हैं—वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मा का जो प्रिय लगे।

इस मूल मे भी वास्तविक धम के प्रसग मे वेद से अधिक महत्त्वपूण स्मृति है, स्मति से अधिक महत्त्वपूण सदाचार है और धम का सर्वोत्तम तत्त्व सही पहचान और लक्षण है कि आत्मा को जो प्रिय लगे वही धम है। स्वधम नही, आत्मधम। यह है मनु की वास्तविक धमदृष्टि। स्वधर्म का अथ है जिस वण मे जन्म हो, जिस आश्रम म स्थित हो, उसी के अनुरूप धम। 'स्व और 'आत्म' के सूक्ष्म अतर को मनु ने देखा है।

सपूण राजधम को मनु ने इसी सामाजिक परिवेश मे देखा है। धम यहा जितना राज्य का विषय है, उतना ही एक एक व्यक्ति का विषय है, पुरुषाथ है। धम यहा पूणत सामाजिक सदर्भों म लिया गया है। उसी समाज रचना का चरम बिंदु है राज्य। राज्य माने ऊपर से नीचे आती हुई सत्ता नही, बल्कि नीचे से ऊपर विकसित हुई वृक्ष के समान एक सजीव सत्ता।

जन्म से प्रत्येक मनुष्य अपनी कायक्षमता मे दूसरे से असमान है, पर भोग और आनद मे सब समान हैं। इसीलिए समाज की रचना, और रचना का आधार श्रम विभाजन हो। जो जिस लायक हो, उसकी कायक्षमता के अनुरूप

काम दिया जाए यह राजधर्म का बुनियादी काम है और इसका लक्ष्य यह है कि कोई जो भी काम करता हो, उसे यह अनुभूत हो कि पूरा समाज उसी के लिए है, उसी के कारण है और पूरा समाज उसी की अनुमति से, प्रसन्नता से चल रहा है। इसी प्रकाश में सबको उनकी क्षमतानुसार काम देना राज्य का परम धर्म है। यह काम ऐसा हो जिससे उनकी और उनके पूरे परिवार की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति हो। बुनियादी आवश्यकताएं अर्थात—स्वतंत्रता, समानता और आत्मसत्ता। उनकी उन आवश्यकताओं की पूर्ति हो, जिसे वह उन्हें आवश्यक समझता है। वह अपनी इच्छानुसार धर्म चुन सके, उसे जी सके। वह अपना संघ बना सके—उस ग्राम पंचायत के अंतर्गत, जिसके निर्माण में उसका मत लगा है।

यह ग्राम पंचायत (प्रत्यक्ष) पूर्ण स्वतंत्र है अपना व्यवहार कानून बनाने में, विभिन्न वर्गों के बीच संबंध करने में और यदि आवश्यकता हो तो अपने वर्ग या संघ या धर्म चुनने में। हर संघ पांच वर्गों में बंटा होगा जहां पूरे गांव के सभी सदस्यों को समान दर्जा दिया जाएगा। इन्हीं पांच वर्गों से ग्राम पंचायत का चुनाव होगा। ग्राम पंचायत ही गांव की मालगुजारी वसूल करेगी, अधिकारी नियुक्त करेगी, खुद कानून बनाएगी और उन्हीं कानूनों के मुताबिक ग्राम का शासन चलाएगी। केंद्रीय राजसत्ता इसमें तभी हस्तक्षेप कर सकेगी, जब उन पांचों वर्गों में कभी मतभेद पैदा होगा, या उस ग्राम में किसी भी व्यक्ति या संघ की निजी स्वतंत्रता के हनन का संकट होगा।

लघुतम इकाई व्यक्ति नहीं, परिवार है। पर उस परिवार में ये अनिवार्य सच्चाइयां हैं (क) हर स्त्री और पुरुष समान हैं। (ख) घर परिवार की आंतरिक व्यवस्था की सर्वसत्ता स्त्री के अधिकार में है और बाहरी व्यवस्था पुरुष के अधिकार में। दोनों अपने अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र हैं, समान हैं।

ग्राम की पूरी अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित है, पर यह देखना है कि ग्राम का कोई भी व्यक्ति बिना किसी रोजी और रोटी के न रह जाए। यह है ग्राम की सार्वजनिक चेतना (पब्लिक सेक्टर)। परंतु ग्राम का कोई भी व्यक्ति अपना निजी काम धंधा और उद्योग कर सकता है—ग्राम की आवश्यकताओं और मांगों की पूर्ति के लिए यह है ग्राम का निजी क्षेत्र (प्राइवेट सेक्टर)।

अनेक ग्रामों के वे पांचों वर्ग एक राजा का चुनाव करेंगे—वही निर्वाचित राजा केंद्र अधिकारी होगा। वही राजा स्मृति विधि के अनुसार और राज्य के प्रशासन के अंग के रूप में काम करेगा। राजा का मुख्य कर्तव्य है, बाहरी हमलों से प्रजा की रक्षा।

समाज में कुछ व्यक्तियों के हाथ में अतिरिक्त धन इकट्ठा हो जाएगा, इसलिए समय समय पर यज्ञ, दान दक्षिणा के रूप में सारा इकट्ठा धन सबमें समान रूप से बांट दिया जाए।

कोई भी व्यक्ति उत्तराधिकार से धन सम्पत्ति नही प्राप्त करेगा। ऐसी सम्पत्ति समाज मे बाट दी जाएगी।

शिक्षा राज्य द्वारा नि शुल्क होगी और छात्रो को अनुशासन का जीवन जीना होगा। समस्त छात्र, व जिस किसी के भी पुत्र हो, समान होगे।

मनु के राजधम के समाज म—

—सारी राजनीतिक शक्ति का विकेंद्रीकरण होगा और सारी सत्ता उन्ही पाच वर्गो मे बाट दी जाएगी, जिसका आधार ग्राम पचायत होगी।

—समय समय पर समता और समानता का परीक्षण होगा।

—राज्य का अपना धम होगा, पर राज्य मे रहनेवाली प्रजा अपने अपने धम के पालन मे स्वतत्र होगी।

इस तरह मनु का समाज, व्यक्ति और राज्य असली अर्थो मे लोकतत्र का सत्य था। यह लोकतन्त्र मनुष्य के सनातन मूल्यो का साक्षी था।

मनु के राजधम का 'धम' और 'वण' तत्त्व अत्यधिक सूक्ष्म और अत्यत अथवान है। यह आध्यात्मिक, वैज्ञानिक और शुद्ध भौतिक अर्थो मे है। हर व्यक्ति मे शारीरिक स्तर से चार वण हैं—सिर (ब्राह्मण), वक्ष (क्षत्रिय), पेट(वैश्य), पैर (शूद्र)। हर व्यक्ति मे शक्ति के स्तर से वही चारो वण हैं—बुद्धि शक्ति, कम और वह स्थान जहा इन तीनो का प्रयोग हो रहा है—तीनो कायरत हैं जहा। यही है वणधम—सब अगो का अपना अपना धम, अपनी विशेष प्रकृति। यह सच्चाई केवल एक व्यक्ति की नही, समूचे समाज और समूचे विश्व की है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति दो पक्षो म—पुरुष (शक्ति, इनर्जी) और प्रकृति (पदाथ, मटर) म हुई है। पदाथ म पाच कम इद्रिया और पाच ज्ञान इद्रिया है। इनके अलावा दो और तत्त्व हैं, अहकार और बुद्धि।

व्यक्ति स लेकर पूरे जीव-जतु जगत् मे जहा कही भी कुछ हो रहा है जहा कही भी कोई गति है उसके पीछे निश्चित रूप से कोई न कोई एक शक्ति (पुरुष) है और वह शक्ति ही गति प्रदान कर रही है। वह शक्ति किसी जगह, किसी पदाथ मे (प्रकृति) कायरत है। कोई एक चीज है जो उस शक्ति को उस पदाथ स जोड रही है अर्थात उसम शक्ति और गति दोनो हैं (यह जीवित शरीर, यह वक्ष) और वह स्थान वह कोई जगह जहा यह सब हो रहा है—यही तो है ब्राह्मण(ब्रह्म), क्षत्रिय (प्रकृति), वैश्य (जोडनेवाला) और शूद्र (वह स्थान जहा गतिमान है कुछ)।

यह है मनु का वास्तविक धम और वण का वास्तविक अथ। इसी विराट अथ मे निकला है मनु का इतना अथवान, मुक्तिदायी राजधम।

वण का दूसरा आयाम है वर्णाश्रम धम। वण अपन पहले अथ मे जहा प्रवत्तिमूलक हैं, वहा वर्णाश्रम अथ मे कममूलक है। ब्रह्मचय आश्रम तैयारी का जीवन-चरण है जिससे गहस्थाश्रम मे पहुचकर मनुष्य पूरी तरह सपूण अर्थों

मे जीवन भोग सके। गहस्थ जीवन के भोग के बाद वानप्रस्थ है। वानप्रस्थ माने समाज सेवा, दूसरो की सेवा का चरण। जो अपने भोगो से स्वय सतुष्ट नही है, वह दूसरो की सवा क्या करेगा? इस तरह निजी क्षेत्र से बाहर निकलकर सावजनिक क्षेत्र (राजधम राजनीति, परोपकार) मे आने का चरण वानप्रस्थ ही है, इसस पहले नही। सयास का चरण सबसे मुक्त हो जाने का चरण है। यह वह अवस्था है जहा मनुष्य स्वय से भी मुक्त हो जाता है—ठीक पके हुए फल की वह अवस्था जब वह वक्ष की डाल मे स्वत अलग हो जाता है। जब वह फल अपने आपम केवल फल है (सपूण जीवन का) और वह फल सबका है। मनु के राजधम मे वर्णाश्रम की यह दष्टि अनय है, अपूव है। इस वण व्यवस्था म सब कोई समान हैं। यह सबका, प्रत्येक का व्यक्ति-धम है और इसी व्यक्ति धम का सपूण योग मनु का राजधम है।

भीष्म क राजधम मे धम, अथ और काम तीनो है। महाभारत मुख्यत राजाओ का चरित है। अत भीष्म का राजधम 'राजा का धम' है। राजा के धम मे सपूण त्याग बताते हुए भीष्म न युधिष्ठिर से कहा है कि "राजा के धम मे सारे त्यागो का दशन होता है राजधम मे सारी दीक्षाओ का प्रतिपालन होता है। राजधम मे सपूण विद्याओ का सपूण लोको का सयोग है।'

राजधम से पालन से राजा को चारो आश्रमो के धम का फल मिलता है। राजा को धम का पालन करत समय अपने कुल तथा देश के धम का भी ध्यान रखना चाहिए। जो राजा अधम का अनुष्ठान करता है, उसकी राज्य भूमि अस्थिर तथा विनाश की ओर जाने लगती है। राजलक्ष्मी धर्मात्मा राजा के साथ ही ठहरती है।

प्रजापालन राजा का मुख्य धम है। इस लोक मे प्रजा को प्रस न रखना ही राजा का सनातन धम है। सत्य की रक्षा और व्यवहार की सरलता ही राजोचित कतव्य है। चारो वर्णों की रक्षा करना राजा का दूसरा प्रधान धम है। राजा को सबस पहले अपने मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। उसके बाद शत्रुओ को जीतने की चेष्टा करनी चाहिए। राज्य के सातो अग—राजा का अपना शरीर, मत्री, कोष दड (सेना) मित्र राष्ट्र और नगर इनकी सतत रक्षा राजा को अवश्य करनी है।

प्रजा और लोक के चरित्रगठन मे राजा का दायित्व है। भीष्म के शब्दा म "राजधम ही सब धर्मो का मूल होता है। सब प्राणियो के पदचिह्न जैसे हाथी के पदचिह्न के नीचे विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार अय दूसर धम भी राजधम म विलीन हो जात हैं। राजधम बिगडन पर कोई धम नही टिक सकता।'

ससार म कोई व्यक्ति ऐसा नही है जो शत्रुविहीन हो। और शत्रु और मित्र को पहचानना सरल नही है। इसलिए दोनो के प्रति सतक रहना आवश्यक है। भीष्म के राजधम के श्रोता युधिष्ठिर ही मोक्षधम के श्रोता थे। राजधम

का उपदेश देने के बाद ही उन्हें मोक्षधर्म का उपदेश दिया गया। राजधर्म का फल मोक्ष है।

भीष्म का (महाभारत का) राजधर्म घोर कर्मवाद (कौरव) और घोर संन्यासवाद (पांडव) इन दोनों अतिवादों के बीच का राजमार्ग है। फल में अनासक्ति रखकर जब शक्ति के साधना का लोक-कल्याण के लिए प्रयोग किया जाता है तो यही मुक्तिदायी होता है। महाभारत के अंत में व्यास ने कहा है—धर्म के सर्वस्व को सुनो और सुनकर उसे आत्मसात करो—अपने लिए जो भी प्रतिकूल है वह दूसरों के लिए न करो। राजधर्म में शक्ति प्रयोग की यह कसौटी अनन्य है, अपूर्व है।

चाणक्य के अर्थशास्त्र में राजधर्म अत्यंत भौतिक और स्पष्ट हो गया। यहां राजधर्म का साधन 'दंडनीति' है। इसीलिए उसे कुटिला (कौटिल्य) की संज्ञा मिली। चाणक्य से पहले तक का राजधर्म हृदयप्रधान था, यहां यह बुद्धि-प्रधान हुआ। अब तक का (शुक्र, मनु, भीष्म) राजधर्म परमधर्म पर आधारित था, चाणक्य का राजधर्म देश, काल अवस्था पर आधारित हुआ। इसीलिए यह धर्म, विज्ञान और राज इन तीनों को धर्म, अर्थ और काम से मिलाकर सत्य की संपूर्णता में देखता है।

चाणक्य के लिए अन्वीक्षकी, वेद, व्रत और दंडनीति यही चार परम शास्त्र, विज्ञान और धर्म हैं। और यही है राजधर्म का मूलाधार। अन्वीक्षकी सांख्य, योग और लोकायत (भौतिक, अनीश्वर) इन तीनों का मेल है। मूल वेद तीन हैं सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद और व्रत से तात्पर्य है कृषि, पशुपालन और व्यापार। यहां अर्थ ही राजधर्म का मूल है। पर इस अर्थ में धर्म, काम दोनों शामिल हैं। अर्थशास्त्र का प्रारंभ ही है राजा के जीवनचरित्र से। राजा का पहला, बुनियादी धर्म है अपनी इंद्रियों पर अधिकार तथा वासनाओं, इच्छाओं पर पूर्ण संयम। व्रत के लिए पराक्रम और उसकी सफलता राज्य की बुनियाद है जिस पर सारा राजशासन (दंडनीति) तंत्र खड़ा होता है।

संधि, विग्रह, आसन (यूद्रल) यान, संसग और एक से युद्ध करना, दूसरे से संधि करना—राजा और राज्य की ये छह नीतियां हैं जो सतत हैं, गतिमान हैं।

अर्थशास्त्र को जीवन ग्रंथ के रूप में लेकर चाणक्य ने बहुत बड़ा कार्य किया है। उपनिषद और युद्ध का देखनेवाला' अर्थशास्त्र में आकर परम व्यावहारिक हो गया है। परस्त्री को माता के समान, दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के समान और सभी प्राणियों को अपने समान जो देखता है वही वास्तव में देखता है। इसे चाणक्य ने सम्यक् दृष्टा कहा है।

"क्रम से जल की एक-एक बूंद गिरने से कलश भर जाता है, यही रहस्य सभी विद्याओं, धन और धर्म के संबंध में है। जो बीत गया है, वह (भूत)

नहीं है फिर उस क्या याद रखना ? जो अभी आया ही नहीं (भविष्य) उसकी चिंता क्या ? बुद्धिमान केवल वर्तमान म जीता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों म से जिसके पास एक भी नहीं, उस मनुष्य का जन्म बकरी के गले म लटकनेवाले थन के समान निरर्थक है। मन ही विषय है और मन ही बंधन का कारण है। विषयों म अनासक्त मन मुक्ति का कारण है। अतः मनुष्य का मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है। मुझे सुख तथा दुख देनेवाला और दूसरा कोई नहीं। जो कर्म मैंने किए हैं उन्हीं का भोग मैं कर रहा हू। इसलिए हे शरीर, जो कुछ तुमने किया है, उसका ही उपभोग कर। जो अनामवित, धर्म और शांति देनेवाला नहीं है वह कौए की बोली के समान निरर्थक है। फल और छायावाले महान् वृक्ष का आश्रय लेना उचित है। यदि काल प्रभाव से फल का समय नहीं है, तो छाया को कौन हटा सकता है ?'

चाणक्य न इन शब्दों को पढकर लगता है कि उसने राजधर्म के मूल 'अर्थ' को कितने गहरे और व्यापक अर्थों म देखा है। इंद्रियों पर विजय—यही है संपूर्ण अर्थशास्त्र। इससे भी आगे चाणक्य ने अर्थ को लोक अभ्युदय और धर्म का निःश्रेयस (मोक्ष, फल) से जोड़ा है। यह चाणक्य की महत्त्वपूर्ण देन है।

इंद्र, बृहस्पति, शुक्र मनु विदुर भीष्म और चाणक्य के राजधर्म का सार यही है कि राज्य का काम धर्म की शुद्धि है। राजधर्म म धर्म जड नहीं है, रूढ नहीं है यह गत्यात्मक है, सजीव है। राज्य साधन है व्यक्ति के स्वराज्य का, व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और मोक्ष का। इस धर्म मे सारा बल व्यक्ति के पुरुषार्थ, कर्म और प्रयत्न पर है। और सारे पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम) का लक्ष्य है मोक्ष।

राजधर्म मे जन या लोक सर्वोपरि है। उत्तररामचरित मे गुरु वशिष्ठ ने राम से जब यह कहा कि जनता के कहने से सीता को मत छोडो, जनता की बात मत मानो, जनता अज्ञानी है, प्रमादी है तो उसके जवाब म राम ने कहा कि यदि लोक की आराधना के लिए मुझे स्नेह, दया, मित्रता सुख यहां तक कि सीता को भी छोड देना पडे तो मुझे कोई चिंता नहीं। लोक का कोई अंश मेरे लिए उपेक्षणीय नहीं।

इसी राजधर्म के राज उदाहरण है एक ओर लिच्छिवि गणतंत्र, जो भारतीय गणतंत्र की महान् परंपरा है, और दूसरी ओर मौर्य और गुप्त राज्य की अमर उपलब्धियां। उस राज्यधर्म वृक्ष से दो शाखाएं फूटी थीं—श्रमण शाखा बुद्ध की परंपरा म लिच्छिवि गणतंत्र, जिसकी बुनियाद (प्रतीक) थी धर्मचक्र की और जिसका फल था स्वतंत्रता, स्वराज्य। प्रकृति स यह विकेंद्रीकरण की शाखा थी। इसीलिए जब तक इसके मूल मे धर्मचक्र चलता रहा तब तक यह फूलता-फलता रहा और जैसे ही धर्मचक्र रुका सब कुछ बिखर गया।

इसकी दूसरी शाखा थी ब्राह्मण परपरा की, इसम म निकला राजतत्र जिसका स्वरूप था केंद्रीकरण का—इसी का फल था चक्रवर्ती राजा। इस राजतत्र म जब तक धम, अथ और काम का चरित्र रहा, तीनो म सम वय रहा तब तक इस भारतीय राजतत्र स जितने अमूल्य फल निकले वे पूरे विश्व म अब तक आश्चय के विषय हैं। इसी राजधम के फलस्वरूप दशवी शताब्दी तक भारतवष, कला, साहित्य, दशन, धन-वैभव म समार का सबसे अधिक सप न और सुसस्कृत देश था। इसी मे से लोकशक्ति के रूप मे भगवती की वाणी गूजी थी—मैं ही रुद्र के धनुप के पीछे शक्ति हू। मैं ही जनता के लिए सग्राम करती हू। हे राजपुत्र, ध्यान से सुनो, जो हमारी उपक्षा करता है वह नष्ट हो जाता है। जनता की आवाज देवता की वाणी है। बृहस्पति ने राजा को पूण अनुशासित रहने के सदभ मे कहा, 'लोकसिद्धो भवेत राजा'—लोक की ही अनुमति मे राजा राजा रहता है। मनु ने चेतावनी दी—धम की रक्षा करो तो धम तुम्हारी रक्षा करेगा। धम की हत्या करोगे तो वही तुम्ह ध्वस कर देगा।

जब वही जीवन धम टूटा, अनुशासन नष्ट हुआ तभी लुटेरे मगोलो तुर्कों और यवनो के आक्रमण शुरू हुए। उन आक्रमणो का सामना न कर आत्मरक्षा के ही उपायो मे हम लगे रहे। जाति-पाति, पाप-पुण्य, छूत अछूत, नरक स्वग की रचना पूरी करने मे सब लग गए। धम के ध्वस मे से जो रहस्य, चमत्कार, पाखड नियतिवाद भाग्यवाद का गहरा अधविश्वास पैदा हुआ, उससे हमारी सगठित शक्ति—भीतरी बाहरी दोनो—क्षीण होकर छोटे-छोटे टुकडो, दायरो और भागो मे बिखरने लगीं—तभी अगरेजो ने व्यापारी के भेस मे आकर राजनीति के एक अदभुत जाल मे इस देश को फास लिया। फिर शुरू हुई राजनीति—शोषण, दमन लूट खसोट, हिंसा और विश्वासघात की राजनीति। जिसकी पूरी जिम्मेदारी इस देश की निजी स्थितियो पर है।

वक्ष मे जो रोग लगा, वक्ष तदनुरूप निबल अस्वस्थ हुआ। अस्वस्थ वक्ष मे जो फल आया—वही है वतमान भारतीय राजनीति। साम्राज्यवादी व्यवस्था की देन के भीतर से पनपी हुई एक ऐसी आकाशबेल जो इस वक्ष के ऊपर फल गई।

छठा अध्याय

निर्मूल वृक्ष आज की राजनीति

करीब चार हजार वर्ष पहले की बात है ऊंची जाति के हिंदुओं ने नीची जाति के हिन्दुओं के कानों में पिघला हुआ रांगा डालकर उन्हें सदा के लिए बहरा बना दिया ताकि उनके कानों में वेद मन्त्र न पड़ सकें, उनकी जीभें काट ली गईं ताकि उनकी जबान से वेद मंत्र न उच्चारित हों। वर्ण नहीं, जाति-व्यवस्था के अनुसार अछूत को वेदपाठ, वेदश्रवण दोनों वर्जित हैं।

करीब सवा तीन सौ वर्ष हुए शिवाजी को स्वीकार करना पड़ा था कि राजधर्म के अनुसार एक क्षत्रिय राजा का केवल ब्राह्मण मंत्री ही रखने होंगे। करीब ढाई सौ साल हुए पानीपत की आखिरी लड़ाई में भारत का राज्य अंग्रेजों के हाथ में चला गया क्योंकि एक हिन्दू सेनानायक दूसरे हिंदू सेनापति से इसलिए नाराज हो गया कि वह अपनी ऊंची जाति के अनुसार अपना तंबू उससे ऊंची जगह पर गाड़ना चाहता था। करीब तीस साल हुए एक हिंदू ने क्रोध में आकर महात्मा गांधी को इसलिए बम फेंककर मार डालना चाहा कि गांधी छुआ-छूत को मिटाना चाहता था। आज भी मेरे गांव का एक नाई अहिंदू के बाल काट सकता है पर किसी अछूत के नहीं।

जबकि इस जाति प्रथा के खिलाफ प्राचीन, मध्य और आधुनिक भारत में इतने बड़े प्रयत्न हुए हैं फिर भी इसका विनाश क्यों नहीं हुआ?

दुनिया के इतिहास में एक गिरोह से दूसरे गिरोह में युद्ध हुआ और विजेता गिरोह ने पराजित गिरोह को जड़ से ही मिटा डाला। किन्तु भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि उसने कभी भी पराजित गिरोह का नष्ट नहीं किया बल्कि उसे भी अपने में समेट लिया। शक, हूण, मंगोल, यवन से लेकर कांग्रेस में समाजवादी, समाजवादी में जनसंघ, जनसंघ में कांग्रेस, कांग्रेस में कम्युनिस्ट और अंतत जनता पार्टी में वह पूरा पराजित कांग्रेस गिरोह और पता नहीं क्या-क्या। इस तरह पिछले कई हजार वर्षों में भारतीय समाज अनेक गिरोहों में बंटा और इन गिरोहों का सम्मिलित रूप जो आज वर्तमान है उसमें गांधी लोहिया जैसे अनेक क्रान्तिकारी भी स्वयं एक विरोधी गिरोह के रूप में समा

जाते हैं। क्या ?

हम लोग बहुत बार गुलाम हुए हैं। ऐसा नही है कि सिर्फ अग्रेजों के ही हम गुलाम रहे हैं। उसके पहले मुसलमान थे हमारे मालिक, बल्कि मुसलमान भी मुसलमान के गुलाम थे। पहला राज्य गुलामवश का ही था हम पर। यानी हम गुलाम के भी गुलाम थे। हम माने हिंदू-मुसलमान सब। मध्ययुगीन राजाओ, खासकर उन डाकू राजाओ की नजरो म, जिनका खास मकसद धन और औरत लूटना होता था जाति पाति, हिंदू मुसलमान का कभी कोई भेद नहीं रहा। अकेले तैमूरलग न ऐसे पाच लाख आदमी कत्ल किए। मामला हिंदू-मुसलमान का नही है देशी और परदेशी का है। राजा और प्रजा का है। अफगान मुसलमान पठान मुसलमान को खत्म करता है, नादिरशाह ने मुगल साम्राज्य का विनाश किया। क्यो ? क्योकि परदेशी हमेशा जीतता रहा है देशी से। राजा सदा जीतता रहा है प्रजा से।

जब अपनी नजरो म हम खुद गिर जाते हैं, तो अपना देश अपनी ही नजरो मे छोटा और निबल हो जाता है। ऐसा तब होता है जब राजा की नजरो मे प्रजा परजा—दूसरे से पदा हुई—हो जाती है। जो राजा है, जो क्षत्रिय है तथा राजा का मन्त्रिमडल जो ब्राह्मण है वे वग तो पदा हुए एक ब्रह्म मे, पर जिससे प्रजा पैदा हुई है वह कोई दूसरा ब्रह्म है। दूसरा, अर्थात अछूत। इस तरह जब 'अपना' ही दूसरा' (परजा) हो जाता है तब हर दूसरा 'परदेशी हमे पराजित कर जाता है। हम चाहे हजारो की तादाद मे हा, परदेशी चाहे दस-पाच ही हा, हम हराकर हमारा राजा हा जाते हैं। इस प्रकार परदेशी हमेशा जीतता रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमने कभी भी अदरूनी अत्याचार के खिलाफ बगावत नही की। पश्चिमी दुनिया के और देश करते रहे हैं यह बगावत। हमारा तो विश्वास है कि जो आया है वह चला भी जाएगा। यहा कुछ भी स्थायी नही है।

हमारे भारतीय सगीत का स्थायी भाव है—'रहना नहिं देश बिराना है।' और अतरा है—'यह ससार कागज की पुडिया, पानी लगे गलि जाना है।'

असुर' कही हमारे 'सुर' मे बाधा न डाल दें, इसलिए आत्मरक्षा के लिए समाधि म चल गए। शास्त्रीय सगीत के आदि मे यह जो 'आलाप' है यह समाधि नही तो और क्या है ? समाधिस्थ होकर फिर गायन शुरू—आरोह-अवरोह, मतलब 'आवागमन। बार बार 'सम पर आना, फिर जाना और सपूण राग के सम पर पहुचना मतलब 'सम पर आ जाना जहा सब समान है—शत्रु और मित्र, मत्यु और ज म, पराजय और विजय, जहा सब कुछ ब्रह्ममय ह। यह विराट भाव केवल हमारे शास्त्रीय सगीत का नही था, यह महाभाव, यह विराट समभाव हमारे सस्कृत नाटक, मूर्तिकला और चित्रकला का था।

हमारे नाटक म आदि, मध्य और अत नही था। कही कोई चरमसी
नही थी। जहा से शुरू होता था वही लौट आता था, यही तो स्थायीभाव है
यही तो स्थायी है। स्थायी यहा केवल भाव है और वह भाव सवव्यापी ब्रह्म
अद्वत भगवत है। तभी सगीत और भित्ति चित्र की तरह नाटक मे सारा दश
एक साथ दश्यवान है कोई क्रम नही है। हर खड, हर दश्य, सपूण है अपने आप
म और हर खड एक दूसरे स जुडकर सपूण होता है—सपण म स सपूण को
निकाल लें तो भी शेष सपूण ही है।

कोई हम छ न दे कि हम अशुद्ध हो जाए, इसलिए हमने जाति मे जाति की
दीवारें अपन चारो ओर खीच ली। कोई हमारी शाति न छीन ल जाए इसलिए
हमने इतन दवी देवताओ पितरो, विश्वासो यहा तक कि अधविश्वासो की
अपन भीतर किलेबदी की। इस किले के बाहर कौन गोरी कौन गजनवी क्हा
क्या लूटपाट कर रहा है, हमस क्या मतलब। लूटना है तो लूट लो मगर हम
अशुद्ध मत करना। हमारे मन्दिर के ठाकुर जी को भी लूट लो। गरीब लुटेरे
हो न। अफगानो के, पठानो के गुलाम हो लूट लो, पर मेरे भीतर बठे मेरे
ठाकुर जी को मेरे भगवान को कस लूटोगे? इस प्रकार तभी स यहा हर हिंदू
अपने भीतर एक मदिर लिये रहता है चाहे वह नास्तिक ही क्यो न हो। इस
मदिर म किसी दूसरे का प्रवेश नही।

मैं एक स पैदा हुआ हू, तुम दूसरे स (परजा) पदा हुए हो। यही वह
भारतवष है जब यहा मुसलमान आए। यही वह भारतवष है जब यहा अगरेज
आए आए अर्थात भारतवष के राजा हुए।

हमारा हिंदू धम शास्त्रीय कलाए विश्वास आदि पश्चिमी बुद्धिवादी
प्रतिमान स ठहराव के, गतिहीनता के उदाहरण हैं। पर यह भी एक कठोर
सच्चाई है कि जितना कुछ खासकर यहा की प्रजा या सामान्य लोगो को गत
अठारह सौ वर्षों म सहना और भोगना पडा है, यदि हमारा यह धम, कलाए,
साहित्य विश्वास न होता तो या तो हमारी जाति ही खत्म हो गई होती,
अथवा हम अगर होत भी तो केवल पागल, अधविक्षिप्त होते हमम मनुष्य का
कोई लक्षण न होता।

मुसलमानो का जब यहा शासन हुआ तो उन्होन भारतीय समाज व्यवस्था,
विशेषकर यहा की ग्राम जीवन व्यवस्था को कतई न छुआ। जसा हिंदू राज म
था वही रहने दिया। अर्थात तब दो अलग-अलग जातिया और धर्मों म आत्म-
सघष या आत्मविरोध चाहे जितना रहा हो पर उनम कोई राजनीति नही थी।
मुगलो तक आते आते दोनो तरफ स दोनो एक दूसरे को पूणत स्वीकार हो
चुके थे—वे मुसलमान स भारतीय हो चुके थे।

पर इस क्षत्र म पहली बार राजनीति का श्रीगणेश किया अगरेजो ने—सन
सत्तावन की क्रांति को देखकर, विशेषकर तब जब ईस्ट इडिया कपनी की जगह

भारत की शासन व्यवस्था सीधे अंगरेजो के हाथ मे गई। मुगलो की राज्य व्यवस्था मे उच्चतम पदो पर मुसलमान शासक थे, पर नीचे की सारी शासन व्यवस्था अधिकांश रूप मे हिंदुओ के हाथ मे थी। मुगल राज के बाद जब यहा अंगरेज राज हुआ तो हिंदुओ ने उसी तरह अंगरेज राज व्यवस्था चलाने म योग दिया जैसे वे मुगल राजाओ को अपना योग देते चले आ रहे थे। पर उच्चवर्ग के मुसलमानो ने स्वभावत वह सहयोग अंगरेजो को नही दिया क्योकि वह समझते थे कि अंगरेजो ने हमारी राजगद्दी ने ली। और, यह बात सही भी थी। इस दुर्भावना का अंतत दमन सर सैय्यद अहमद खा के द्वारा हुआ।

इस प्रकार हम अपनी निजी शांति की रक्षा म, अपने निजी लोक म संतुष्ट रहने और अपनी शांतिप्रियता और परम स्वार्थ म लिप्त रहने की आदत और संस्कारो के कारण कई बार दूसरो के गुलाम हुए हैं और तरह तरह की यातनाओ और दुखो से गुजरे हैं। फिर भी हम बच कैसे गए ?

डा० लोहिया का एक लेख पढा 'एन एपीसोड इन योगा'—योग की एक घटना। अंग्रेजी म यह लेख क्या है दरअसल एक आत्मानुभूति है। डा० लोहिया लाहौर के किले मे नजरबंद हैं और उन्हें तरह तरह की यातनाए दी जा रही है। उन्ह लगातार दस दिनो और रातो से सोने नही दिया जा रहा है। यातना क्या होती है, क्या होती है, और इस असह पीडा के बाद क्या होता है, इसकी चर्चा करते हुए डा० लोहिया ने इस सबको भारतीय योग से जोड दिया है। "क्या मैं खुद अपना दर्शक नही हो गया हू कि हर बढते हुए दर्द के साथ मेरे भीतर शांति भी बढ रही है। शरीर म जो कष्ट हो रहा है, कष्ट से बचने की प्रतिक्रिया भी हो रही है। पर कष्ट की चरमसीमा के बाद सारा दर्द क्यो समाप्त हो जाता है ? भागती हुई तेज बहती हुई भावनाओ को रोका जा सकता है। जो रुक नही रहा है, वही तो दुख है, अगर रोक लिया जाए तो वही शांति हो जाता है। वर्तमान क्षण म दर्द सह्य है, बल्कि दर्द है केवल दर्द। इसका भय नहीं है। भय हमेशा भविष्य मे है। दर्द के साथ जब भय मिल जाता है तो यही असह्य हो जाता है। मैं देखने लगा, दर्द के साथ यह शांति कहा से आई ? शांति आई है, तत्काल उसी क्षण की निरंतर उपस्थिति से, तत्क्षण के सनातन बोध से यही है वह महाकाल 'द ग्रेट टाइम'। अपनी बुद्धि, अपनी आत्मा को इस कालयोग से पवित्र, निर्मल और फिर से साफ किया जा सकता है, दर्पन जैसा साफ निर्भय बुद्धि, लोभहीन, शांत चित्त—जहा यह योग है वही सत विचार संभव है मन और भावना को अपने अधिकार मे कर लो, ताकि तुम वर्तमान मे रह सको, जी सको। वर्तमान मे होने का अर्थ है भविष्य के भय और लोभ से मुक्त हो जाना।"

यह है भारतीय योगशास्त्र का जीवन रहस्य। इसी से मुझे यह बात समझ मे आई कि जिस समय तुर्क, मंगोल और चंगेजखा जैसी हिंस्र शक्तिया इस

देश को लूट रहे थी और भारत के राजसिंहासन के लिए तुर्क, अफगान और पठानों में परस्पर भयकर सघर्ष छिड़ा हुआ था, उस समय हमारे पुरखे खजुराहो भुवनेश्वर कोणार्क के उतने विशाल मदिरो के निर्माण में क्यों लगे हुए थे ?

जब दु ख और सकट अपार और असह्य हो जाता है तब हम पत्थरों म कुछ देखने लगते हैं। जब सगीत, नृत्य गतिया, मुद्राए और जीवन आनद का रहस्य हमसे कोई छीनने लगता है, तब हम उससे युद्ध करने, उससे प्रतिक्रिया मे आने के बजाय पत्थरो मे वही रचने लगते हैं—ताकि जो 'स्थायी भाव' है, महाकाल है अर्थात वतमान क्षण है, वह अमर रहे। स्वर, लय, रेखा, शब्द, पत्थर क्षण, नाव इनमे समय को बाध देना, रोक देना, यही तो सूक्ष्म तत्त्व है धम का, शास्त्र का।

यही पहुचकर मुगल भारतीय हो जाते हैं। यही इनसे मिलकर हिंदू भारतीय हो जाता है। लालकिला, फतेहपुरसीकरी, ताजमहल, हुमायू का मकबरा, राग तोडी, मल्हार यमन तानसेन, अकबर, राग ललित, खम्माच, नटवरी नृत्य, रासलीला, रामलीला, ताजिया, मुहरम, नानक, रैदास, रहीम, कबीर, तुलसी, अष्टछाप, अजान और भरव का आलाप—इसी भारतवष को अग्रेज पहली बार देखकर घबरा गया।

साधारण भारतीय मनुष्य को देखकर अग्रेज गुस्से से भर गया। भारतीय मनुष्य जो इतना गरीब है जाहिल है पिछडा और बतरह टूटा हुआ है फिर भी वह यह भाव जीता है कि जो हू, जसा भी हू, पूर्ण हू सतुष्ट हू अपने आप म। मेरे रामकृष्ण से बडा कौन है ? हनुमान से बडा ताकतवर कौन है ? मेरे अल्लाह, मेरे नबी स बडा कौन है ? एक बार उस रहीम, उस मौला को याद कर लेना, महज उस 'इश्क' को एक बार महसूस कर लेना, सियाराममय सब जग जानी, करौ प्रणाम जोरि जुग पानी, जी लना बस इसके आगे कहीं और कोई नहीं, कुछ नहीं। ऐसे सिरफिरे, असभ्य, अधविश्वासी परतु साथ ही इतने धनी इतने सतुष्ट, इतने सीधे, सहज भारतीय को देखकर अग्रेज भय और लालच स भर गए।

हर गाव अपने आप म सपूर्ण है इसलिए यहा का हर व्यक्ति अपने आप में सपूर्ण है। यहा की ग्राम व्यवस्था आत्मनिर्भर है कहीं किसी बाहर पर निर्भर नहीं। इसलिए यहा का हर निवासी आत्मनिर्भर है—आत्मसतुष्ट है, इसका कुछ अपना नहीं है, इसीलिए सब कुछ अपना है। नीचे से ऊपर एक-दूसरे म जुडा है। सब कुछ यहा धार्मिक भाव से जुडा है। खेत, जमीन, धरती मा है यहा, सूय पिता है, हवा भाई है, जल बहन है। काम के बदले जो भोजन अन्न वस्त्र, दूध मिलता है वह तो प्रसाद है। यहा हर वृक्ष देवता है।

अग्रेजो ने हमारी इसी जीवन व्यवस्था (धम) के खिलाफ इस पूर्णत तोड दी, बाद दन क लिए जो अपनी नयी व्यवस्था हम पर आरोपित की—

वही है राजनीति का श्रीगणेश। सवथा एक दूसरी व्यवस्था की राजनीति, एक ऐसा वक्ष जिसकी जड़ें आतक, भय, शोषण, तोडने, बाटने और भारतीय व्यक्ति को 'इडिविजुअल' बनाने में है।

भारतीय 'व्यक्ति' क्या है, जिसे पहली बार अग्रेजो ने (पश्चिम) देखा?

वशेषिक सूत्र की परिभाषा के अनुसार समष्टि की अभिव्यजना करनेवाला 'व्यक्ति' है। अनेक मे जो एक है, एक मे जो अनेक है उस ब्रह्म विराट को जो प्रकाशित करता है वह व्यक्ति है। व्यक्ति का यह धम है कि वह जो 'युनिवसल' है, व्यापक है, विराट है उसकी अभिव्यक्ति करे। तभी व्यक्ति अमत है। क्योकि वह सपूण है। सपूण मे से यह सपूण निकला है। विराट पुरुष का एक अश, एक दैवी कला जो सूक्ष्म व्यक्त है, वही है यह व्यक्ति।

ठीक इसके विपरीत पश्चिम का 'इडिविजुअल' सिफ एक डॉट प्वाइट' है, बिंदु है, अणु है। सत्तरहवी सदी मे पहले फ्रास म, फिर इगलड मे इडिविजुअल की अवधारणा मे एक विकास हुआ—माना गया यह जनसमुदाय का एक अश है। जैसा वह समुदाय होगा वैसा ही यह होगा। और तब इस माना गया कि यह स्वतत्र, निरपेक्ष नही है। पर जसे ही पूजीवादी व्यवस्था आई तो इसे स्वभावत स्वतत्र और निरपक्ष मान लिया गया।

भारतीय व्यक्ति और पश्चिम के 'इडिविजुअल' का यदि हम तुलनात्मक अध्ययन करें तो पाएगे कि व्यक्ति समष्टि का व्यजक है। 'इडिविजुअल' अपने स्वरूप, अपने अश का ही व्यजक है। इसीलिए यहा विकास का एक ही मत्र है स्वाथ की सिद्धि—काल मार्क्स के वगसघष के दशन के मूल मे यही 'इडिविजुअल' है।

व्यक्ति सजक है। 'इडिविजुअल' भोक्ता है। वहा सजन का काम तत्र मशीन के जिम्मे दे दिया गया है। यहा एक-दूसरे का सबध केवल प्रतियोगिता के ही स्तर पर है। यहा मत्स्यन्याय है।

ठीक इसके विपरीत भारतीय परपरा म सत्य और ज्ञान को अपौरुषेय माना गया है। व्यक्ति इसका प्रकाशक और वाहक होता है। हमारे यहा कहा गया है तुम वह हो, 'तत्त्वमसि'। वह वही व्यक्ति है। हमारे यहा व्याकरण म दो श द हैं 'अहम' और 'इदम'। अहम और इदम क्रमश व्यष्टि और समष्टि के सूचक है तथा उस भारतीय 'सगम' की याद दिलाते हैं जिसमे व्यक्ति और समाज देशी और परदेशी, मित्र एव अमित्र, देव एव अदैव तथा इस देश मे अनवरत बाहर से आनेवाली असख्य जातियो, (आक्रमणकारी शरणार्थी फकीर, अपराधी, असभ्य, लुटेरे, व्यापारी कलाकार आदि) लोगो के साथ समन्वय का लक्ष्य रहा है।

भारतीय व्यक्ति प्रतीक है हमारी 'सगमष्टि' का क्योकि यह देश सदा से (वह प्रक्रिया अब तक अबाधगति से चल रही है) बहुभाषा भाषी, नाना

धर्मी रहा है। इसकी खिडकिया सदैव खुली रही हैं। आत्मरक्षा म या भय मे जब भी हमने अपन द्वार बद किए है, उससे हमन बडा नुकसान उठाया है। हम इसी कारण कई बार पराजित और परतत्र हुए हैं और स्वाभाविक क्रिया से, कम से, अस्वाभाविक प्रतिक्रिया (रुक जाना) के समार मे रहन को बाध्य हुए हैं।

हमार राष्ट्रचित्त 'समग्रनी दष्टि' के अतगत सभी देह-दही, स्त्री पुरुष, व्यक्ति और समाज, मानव और प्रकृति मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी, यह सारा दश्य और अदश्य जगत आता है। भारतीय व्यक्ति इस चित्त प्रज्ञा और दष्टि का प्राणी है।

दरअसल यह भारतीय व्यक्ति उस भारतीय समाज व्यवस्था के अतगत एक सपूण इकाई था जिसकी रक्षा के ही निमित्त राज व्यवस्था भी उसी का एक अग थी जो स्वय भी सब तरह स सपूण थी। तभी ता सपूण से सपूण निकला, और सपूण स सपूण को निकाल लें ता भी शष सपूर्ण ही रहेगा

ओउम पूणमिद पूणमद पूणस्य
पूणमादाय पूणमवावशिष्यते।

यह भारतीय समाज व्यवस्था इसलिए सपूण थी कि इसम मनुष्य की विविध श्रणिया पर समानता स विचार किया गया था। उस दष्टि म कही भी 'भेद' नहीं था। प्रत्यक व्यक्ति की क्षमता और सीमा पर बराबर ध्यान था और तदनुसार उसके जीवन की योजना बनाइ गई थी। भारतीय जीवन का लक्ष्य था कि प्रत्येक व्यक्ति क्रमश अपना कम करता हुआ, स्वधम बोध के साथ अतत आत्मज्ञान या मोक्ष प्राप्त कर—कोई भी 'नर' अपनी पात्रता और योग्यतानुसार अपन कम के साथ 'नारायण' हो सकता है।

पर इस सपूण व्यवस्था की अपनी सीमा (मर्यादा) भी थी—इस व्यवस्था का सपूणता इसका सचालन करनेवाल वग पर निभर करती थी—ब्राह्मण पर (ज्ञान धम) क्षत्रिय पर (अथ, काम), वैश्य पर (प्रबध सेवा)।

इस व्यवस्था का सारा बल व्यक्ति का सजनात्मक बनाने पर था। व्यक्ति के चारो तरफ आध्यात्मिक श्रेष्ठता का वातावरण निर्मित रहे यही दायित्व इसको सचालित करनेवाला पर था। तभी इस व्यवस्था में सवश्रेष्ठ स्थान अधिक धमप्रवण चारित्रिक दष्टि से महान कम से कम व्यक्तिगत लाभ या स्वाथ पर जीवन बितानेवाले व्यक्ति को दिया जाता था। ऐसा ही व्यक्ति समाज हित की चिता कर सकता है और ऐसा ही व्यक्ति समाज म श्रद्धा और आस्था का निर्माण कर सकता है। वरना इसके अभाव म समाज निश्चय ही ईर्ष्या, लोभ सघष और झूठ से फस जाएगा।

इस व्यवस्था म एक ही वग को समाज पर सपूण सत्ता और अधिकार न देकर उसका विभिन्न वर्गों मे समुचित विभाजन कर रोक और सतुलन निर्माण

करन का सतत प्रयत्न था। जिसे ज्ञान का अधिकार (ब्राह्मण) क्षेत्र या कम दिया गया उसे राज्य या सपत्ति का अधिकार नही दिया गया। जिसे राज्य का अधिकार(क्षत्रिय)मिला उसे सपत्ति पर असीमित अधिकार नही दिया गया तथा ज्ञानियो पर नियत्रण का अधिकार भी उसे नही मिला। सपत्ति के अधिकारी को राज्य म अथवा धम मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही था।

इस व्यवस्था के चरित्र के विषय म एक ही खास बात है कि यह सपूण है, अविच्छेद्य है, इसमे से यदि एक भी अग या तत्त्व को हटा दिया गया या वह अपने स्थान पर निष्क्रिय हो गया तो फिर सपूण व्यवस्था ही पतन के माग पर जान लगेगी, अर्थात् इस व्यवस्था पर स्थित सारा समाज देश नष्ट होने लगेगा।

यह सपूण एक है। इसे या तो पूरा स्वीकार करना होगा अथवा इसे पूरा अस्वीकार करना होगा। यही है भारत की राष्ट्रीयता, भारत की लोकशक्ति जो 'सनातन' है। यही है वह भारतीय मनीषा जिसे 'राष्ट्री' और 'सगमनी' कहा गया है जिसे टैगोर ने 'चित्त' कहा है, जिसे दीनदयाल उपाध्याय ने 'चिति' नाम दिया है।

ठीक इसके विपरीत है पश्चिमी (अग्रेजी) समाज रचना। पश्चिमी समाज मे राजनीति, धमनीति (थियोलोजी), नतिकता (एथिक्स), दशन (मेटाफिजिक्स), समाजनीति (सोशियोलोजी), अथनीति (इकनामिक्स), कानून, साहित्य, कला आदि जीवन के सवथा अलग-अलग, स्वय मे सपूण स्वतत्र क्षेत्र हैं। फलस्वरूप प्रत्यक के पथक सिद्धात हैं। पर हमारे यहा विभिन्न अगो म एकात्मकता है। एक मे सब है। सब मे वही एक है। जीवन के सभी अग एक ही आत्मा से प्रभावित हैं। एक ही बीज से वक्ष की विभिन्न शाखाओ, पत्रो, पुष्पो और फलो के समान भारतीय समाज रचना के जीवन के अगो का विकास हुआ है।

जो इस विचार और आचार को माननेवाला होगा वही व्यक्ति भारतीय लोक शक्ति का, राष्ट्र की चिति का वास्तविक प्रतिनिधि होगा। अथवा वह युगपुरुष इसका प्रतिनिधित्व करेगा, जो आज के पूणत बदले हुए समय, समाज और परिस्थितियो के अनुसार अपने भारतीय चरित्र और मनीषा के अनुकूल, सवथा एक नई भारतीय सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत करे।

हमारी भारतीय सामाजिक व्यवस्था को तोडने और उसके स्थान पर हम अपना कुछ न प्राप्त करने देने की जो रणनीति थी अग्रेजो की वही उनकी राजनीति थी। इस राजनीति से लडने और सघष करने की हमारी जो स्थिति थी या है, वही है हमारी भारतीय राजनीति।

वतमान राजनीति की बुनियाद डाली गई १८३३ मे जब ईस्ट इडिया कपनी को नई सनद दी गई और कपनी के कानून म इस आशय की एक धारा जोडी गई कि किसी भी भारतीय को धम, देश, वश या वण के कारण कपनी की नौकरी, अधिकार अथवा पद के लिए अयोग्य न समझा जाए। इसे व्याव-

हारिक अथ दिया लाड मेकाले ने। अंग्रेजी भाषा और भारतीय शिक्षा का जो ढाचा उसने सोचा और तैयार किया उसका लक्ष्य था कि भारत मे एक एसा नया शिक्षित वग तैयार किया और उस स्वाथ, आचार विचार और राजनीति इन सभी दष्टियो स एसा चरित्र और सस्कार दिया जाए कि वह अपने ही स्वाथ मे अंग्रेजो का स्वाथ दखे।

पराथ का ढाग करके स्वाथ सिद्ध करना यह थी अग्रजो की परम व्यापारिक सस्कृति के भीतर से उपजी हुई राजनीति। साम्राज्य लोभ के भीतर वस्तुत व्यापार लोभ था। भारत देश को हथियाने का लक्ष्य था व्यापार, लूट का लक्ष्य था व्यापार। उनकी सारी नीति, उनका सारा कम और चिनन व्यापारी था।

दरअसल नैपोलियन की पराजय के बाद (१८१५) अंग्रेज व्यापारी वग स यह डर चला गया कि उनके साम्राज्य पर अब कोई आल उठाकर दख भी सकता है। दूसरी ओर उनकी औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उन्हे धनोत्पादन के जो प्रचड साधन मिल तो इसके लिए अब कोई एक ऐसा नया साम्राज्य चाहिए था जहा की पूजी कच्चा माल और साधन वे हडप सकें और बदले में उस अपने माल, विचार और सस्कृति का बाजार बना सकें। इसके लिए उनकी राजनीति से यह खूबसूरत विचार उपजा—हे मनुष्यो! जगत के सुधार म, उन्नति और विकास मे हमारा लाभ है। (क्योंकि जगली लोग अंग्रेजो के माल की खरीद नहीं कर सकते थे!)

उस समय भारत मे जो अंग्रेज अधिकारी व्यापारी और धम प्रचारक आए व भारत से यही कहते पाए गए कि भारतवासी तुम्हारे शिक्षित सफल, सपन्न और स्वतन्त्र होन म हमारा हित है और यही हमारा लक्ष्य है। इसी आदश भाव (राजनीति) के साथ व यहा के शिक्षितो के दिलो मे अंग्रेजी राज के प्रति निष्ठा उत्पन्न करते थे। और ससार की दौड मे दो ढाई शतक पिछड गए हम लोग उन (अंग्रेजो को) अपना देवता मानने लगे।

उस समय भारतीयो की बुद्धि एक गुलामी से निकलकर (अधविश्वास, मुगलराज सामतशाही) दूसरी गुलामी म प्रवश कर रही थी और उसी को 'स्वतन्त्रता' कहने लगी थी। पहली बार जिन्होन अंग्रेजी राजनीति के इस रहस्य को समझा वे दादाभाइ नौरोजी, रानाडे आदि आधुनिक भारत के पितामह है। उन्होने देख लिया कि १८३३ म जो कानून बना, १८५३ तक बीस साल म उस कानून का लाभ एक भी हिंदुस्तानी को न मिला। आर्थिक साम्राज्यशाही क्या है और विजित राष्ट्र का रक्तशोषण किस प्रकार होता है, इस समझ लिया दादाभाई ने। पूजीवाद स पैदा होनेवाली आर्थिक साम्राज्यशाही कितनी भयानक है और उसके रक्त शोषण में उसके विनाश क बीज किस तरह छिप हुए हैं—यह दादाभाई ने ससार के सामन रखा।

पर १६६८ मे ही अंग्रेजो की इस राजनीति की जमीन तैयार हो गई थी

जब ईस्ट इडिया कपनी का पुनगठन हुआ और इसे पहली बार एक नया चाटर (अधिकार पत्र) मिला। तब उस महाजनी शासकवग की बनाई हुई एका-धिकारी कपनिया का अच्छा जाल तैयार हो गया था जिसने 'ह्विग क्राति' द्वारा इगलड पर अपना पजा जमा लिया था। भारत पर कपनी द्वारा पूरा कब्जा जमान का मुख्य काल अठारहवी सदी का उत्तराध था। अभी तक ईस्ट इडिया कपनी का प्रधान लक्ष्य अग्रेजी माल के लिए बाजार की तलाश करना नही था, बल्कि उसकी कोशिश थी कि भारत और पूर्वी द्वीप समूह की पैदावार, खासकर मसाले, सूती और रेशमी कपडे का एकाधिकार उसे मिल जाए क्योकि इन चीजो की इगलड और योरप मे बडी माग थी। व्यापार का यह नियम है कि एक माल के बदले मे दूसरा माल दिया भी जाए। परतु उस समय तक इगलड विकास की जिस मजिल पर पहुच सका था (सत्रहवी सदी का प्रारभ) उसमे उसके पास एसी कोई भी मूल्यवान चीज नही थी जो वह भारत को द पाता। हर मानी म भारत इगलड से बहुत समृद्ध था। उस वक्त तक इगलड मे केवल एक उद्योग का विकास हुआ था—ऊनी कपडे का उद्योग। लेकिन ऊनी सामान भारत के किसी काम का न था। फलत तिकडम, धोखा, घुमा-फिराकर व्यापार करने की तमाम हरकतें अग्रेज करते थे।

परतु अठारहवी सदी के मध्य तक आते आते कपनी का जसे-जैसे पूण प्रभुत्व कायम होने लगा वैस ही जोर-जबदस्ती के तरीके भी ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल होने लगे। मसलन १७६५ म जब कपनी को बगाल, बिहार और उडीसा की दीवानी मिल गई और मालगुजारी वसूल करने का काम कपनी के हाथ आ गया तब व्यापार के मुनाफे के अलावा सीधी और बतहाशा लूट का एक नया अध्याय खुल गया। भारत को बिना कुछ दिए यहा की दौलत खीच ले जाने की इतनी उम्दा तरकीब मिल गई। फिर जो लूट और तबाही हुई है इस दश की उसका लिखित सबूत अग्रेज खुद दे गए हैं

"यह सुदर देश जो अधिक स अधिक निरकुश और स्वेच्छाचारी शासन मे भी फलता फूलता रहा था, अब हुकूमत मे अग्रजो का सचमुच इतना बडा हिस्सा होत हुए भी तबाही की हालत को पहुच रहा है।" (१७६६ मे मुर्शिदाबाद मे कपनी के रेजीडेंट 'बचेर' की रिपोट)

मैं विश्वासपूवक कह सकता हू कि हिंदुस्तान मे कपनी के राज का एक तिहाई इलाका अब जगल बन गया है, जहा केवल डरावने जानवर रहते ह।" (१७८९ मे गवनर जनरल लाड कानवालिस की रिपोट)

फिर भी कपनी की तरफ स बार बार इस चीज की माग की जाती थी कि लूट की आमदनी को, चाह जस, और बढाया जाए क्याकि उस समय के इगलड को 'आधुनिक' और 'उद्योगपति' बनाने के लिए भारत की पूजी की बहुत जरूरत थी। इसी की पूर्ति मे १७९३ म लाड कानवालिस का इस्तमरारी

बदोबस्त भारत के जीवन मे एक ऐसी अभूतपूर्व घटना है जिसस पहली बार भारतीय जीवन व्यवस्था का मूल ढाचा ही टूट गया। दूसरी ओर अग्रेज राजनीति जो व्यापार की आड मे इस देश म आई थी उसे अपनी जडें जमाने की खुली जमीन मिल गई।

एगेल्स ने जून १८५३ म लिखा था, "सारे पूरब को समझने की कुजी यह है कि वहा जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार नही है । पर यह कसे हुआ कि पूरब के लोग भूसपत्ति और सामतवाद तक नही पहुचे ? मेरी समझ मे इसका मुख्य कारण वहा का जलवायु है। इसके साथ ही वहा की खास तरह की धरती भी इसका एक कारण है।"

जलवायु नही, धरती नही, इसका मुख्य कारण है भारत की अपनी जीवन व्यवस्था जो धम की धुरी पर गतिमान थी, जहा आध्यात्मिक स्तर पर कुछ भी किसी का नही था, परतु सब कुछ सब का था। इसलिए भौतिक नियम था कि देकर ही लो।

व्यवहार मे, यह विश्वास जीवन म जिया जाता था और भारतीय ग्राम इसका साक्ष्य था कि यहा सब कुछ ईशमय है, उसी ईश का है। भारतीय राजा (हिंदू राजा से लेकर मुगल बादशाहो तक) उसी ईश्वर का ही स्वरूप है। इसलिए यहा कि धरती, यहा के खेत केवल पैदावार के ही स्रोत नही हैं, वरन यह धरती मा है। पेड पौधे देवी देवता हैं।

भारत की वह जीवन व्यवस्था जिसे 'राजधम' कहा गया है वह एक सपूण जीवन-व्यवस्था की चीज है। यह जिस सस्कृति से पदा हुई थी, वह मूलत आध्यात्मिक है। जिसका सार यह है कि कम करके सारे भौतिक जीवन को भोगो और देख लो कि भोग क्या है ? फिर छोड दो इसे। मुक्त हो जाओ।

वृक्ष फल को नहीं पकडे रहता, फल ही अपने स्वाथ के बधन से वक्ष से लगा रहता है। जब स्वाथ पूरा हो जाता है, फल के भीतर की गुठली, जब वक्ष के भोजन रस से पूणत तयार हो जाती है कि अब उस बीज से नया वक्ष, दूसरा वक्ष उगेगा तो फल का बधन स्वत टूट जाता है। पूणत पके हुए फल को वक्ष से अपने बधन तोडने की कोशिश नही करनी पडती सारा कुछ पककर रसमय होकर अपने आप टपक पडता है। यही तो मोक्ष भाव है। इसी चरमभाव को ध्यान मे रखकर हमारे यहा वण, सस्कार राजव्यवस्था समाजव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, नाटक नत्य, सगीत, कलाए, यहा तक कि खेती, व्यवसाय, उद्योग सारा कम-व्यवहार रचा गया है। यहा तक कि अग्निपुराण मे शरीर की तुलना ईश्वर के मदिर से की गई है जिसमे जीव ही ईश्वर की प्रतिमा है इस शरीर की पूरी आकृति से प्रकृति से ही बना है वह सपूण पुरुष है। मुख उस देवमन्दिर का द्वार है सिर के ऊपर का भाग जहा शिखा होती है वह मदिर का कलश है, कधा वेदी है।

मोक्ष के लक्ष्य को प्रधानता देने के कारण भारतीय सस्कृति कम, भोग और अतत त्याग की है। धीरे धीरे ससार का त्याग देना, धीरे-धीरे स्वय का, अहम् को कम करते-करते शू य हो जाना, इच्छाओ को, आवश्यकताओ को धीरे धीरे कम करत हुए आवश्यकतारहित हो जाना, यह है भारतीय जीवन व्यवस्था अर्थात भारतीय धम का लक्ष्य। इसी का साक्ष्य अब तक मौजूद है—भारतीय शास्त्रीय सगीत म योग म, तत्र मे, नृत्य मे, कला मे नाद फिर अनाहद नाद, फैलना फिर सिमटकर शू य म समा जाना, बाहर आना, फिर लौटकर आवागमन स मुक्त हो जाना। नाचना, गाना, खेलना, जीना और धीरे-धीरे मौन हो जाना केवल देखते रह जाना—एक के बाद दूसरे को दूसरे के बाद तीसरे को नही, सबको एक साथ एक ही समय मे देखना। यहा क्रमश कुछ नही है, सब एक साथ है, एक ही मे सब है। सब मे वही एक है। अग्रेजी व्यवस्था ने हमारी इसी व्यवस्था को समूल ताड देना चाहा।

गाव की धरती जो अब तक सबकी थी, धरती मा थी, जैसे ही उसका स्वामी एक हुआ, स्वभावत शेष उसका मुह देखत रह गए। जो कल तक गाव का पुरोहित था, आज गाव के खेत का स्वामी होकर स्वभावत पुरोहित (पुर+हित) स केवल ब्राह्मण हो गया। जो कल तक पुरका (गाव का प्राय सारे गावो के नाम के पीछे पुर अब तक लगा हुआ है—पुर माने, परिवार) ठाकुर (रक्षक) था। आज खेत का जमीदार बनकर जगल का बबर सिह हो गया। जो सवक थे, शिल्पी थे, गाव के कलाकार थे वे सब अचानक अछूत शूद्र और खेतहीन, अधिकारहीन हो गए। एक नीचा, एक ऊचा। दोनो के बीच म जो अवधक था—वैश्य, वह नीच का शोषक और ऊपर का चापलूस हो गया। वह महाजन स सूदखोर हो गया, मनुष्य से वह हर बुराई, हर अन्याय और शोषण का 'एजेंट' हो गया।

उस ग्राम व्यवस्था का सबसे अच्छा वणन मार्क्स की 'पूजी' म पढन को मिला, कसी विचित्र बात है

"भारत की य छोटी छोटी और अत्यत प्राचीन बस्तिया, जिनम से कुछ आज तक चली आती हैं जमीन के सामूहिक स्वामित्व, खेती तथा दस्तकारी की मिलावट, और एक ऐसे श्रम विभाजन पर आधारित हैं जो कभी नहीं बदलता हर बस्ती खूब गठी हुई और अपने आप म पूण होती है तथा अपनी जरूरत की सभी चीजें पैदा कर लेती है। पैदावार का मुख्य भाग सीधे बस्ती मे ही खाम म आता है और वह बाजार म बिकने वाले माल का रूप नही धारण करता। इसलिए भारतीय समाज मे मोट तौर पर, मालो के विनिमय स जो श्रम विभाजन पैदा हुआ, उसम यहा उत्पादन स्वतत्र है। पैदावार का एक निश्चित भाग बतौर लगान के अनाज की शक्ल मे ही राज्य को दे दिया

ऐसी थी वह भारतीय अर्थ, समाज व्यवस्था जिसे ब्रिटिश शासन के रूप में विदेशी पूंजीवाद ने जड़ से ही उखाड़ फेंक देना चाहा। अंग्रेजों से पहले के तमाम विदेशी विजेताओं ने यहां की आर्थिक, सामाजिक बुनियाद को कभी हाथ नहीं लगाया तभी वे सब अंत में विदेशी से भारतीय हो गए, परन्तु अंग्रेज अपनी पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था और औपनिवेशिक राजनीति के फलस्वरूप सदैव विदेशी बने रहे और उनकी राजनीति का सारा लक्ष्य यही रहा कि भारतीय भी अपने देश में विदेशी बन जाए। कम से कम भारतीय से 'इंडियन' तो हो ही जाए।

इसीलिए ब्रिटिश शासन के नीचे भारतीय जनता के दुखों के साथ एक विशेष प्रकार की उदासी आ मिली, क्योंकि उसकी पुरानी दुनिया तो बिछुड़ गई, मगर नई का कहीं पता न था। इससे पूर्व भारतवर्ष में अनेक गृह-युद्ध छिड़े हैं, विदेशी आक्रमण हुए हैं पराजित हुआ है यह देश, अपनों से ही लूटा-फूंका गया है, अकाल पड़े हैं, जुल्म हुए हैं, पर इनका प्रभाव कभी भी भारतवर्ष की जिंदगी की सतह के नीचे नहीं पड़ा। लेकिन अंग्रेजों की राजनीति का जो प्रभाव जिन्दगी की सतह के नीचे तक पड़ा वह भयंकर था। पुरानी दुनिया का इस तरह बिछुड़ जाना और नई का कहीं पता न लगना दुखी भारत को पहली बार उदास बना देता है। अब तक केवल दुखी था भारत, अब अपने दुखों के प्रति उदास भी हो गया। और इसी भारतीय दुख को पहली बार देखा गोपालकृष्ण गोखले ने, फिर गांधी जी ने। तभी तो गांधी ने गोखले को अपना 'गुरु' माना।

अपनी पुरानी दुनिया से बिछुड़ जाने के मतलब हैं अपनी परंपराओं और अपने संपूर्ण इतिहास से कट जाना। यही थी अंग्रेजों की राजनीति विनाशकारी भूमिका जितनी ही स्थूल स्तर की थी, उतनी ही सूक्ष्म स्तर की भी थी।

१८१३ से पहले भारत पर ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार मिला हुआ था। १८१३ के बाद यह एकाधिकार तोड़ दिया गया और अब इंगलैंड के पूंजीवादी उद्योग धंधों के माल ने भारत पर चढ़ाई बोलकर शोषण का एक नया अध्याय खोल दिया। फिर कंपनी ने जमींदारी की अंग्रेजी प्रथा (जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार, तथा जमीन को बेचने और खरीदने की आजादी) और इंगलैंड का पूरा फौजदारी कानून (पेनेल कोड) यहां लागू कर दिया। और इससे भी एक कदम आगे—भारत में बने हुए मालों पर सीधे सीधे प्रतिबंध लगाकर भारी चुंगी लगाकर पहले इंगलैंड में फिर यूरोप में आने से उन्हें रोक दिया गया। इसका फल यह हुआ कि भारतवर्ष की जो पिछली कई शताब्दियों से अपना कपड़ा बाहर भेजता था, १८५० तक यह हालत हो गई कि वह उल्टे विदेशी कपड़ा मंगाने लगा।

इस लूट के दो नतीजे हुए, पहला भारत की लूट की मदद से इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति हो गई। दूसरा भारत के अपने उद्योग धंधों के पुराने नगर

नष्ट हो गए और इन नगरवासियों को भागकर गावो मे शरण लेनी पडी, इससे गावो के जीवन का सतुलन बिगड गया और गाव आपसी झगडे, फौजदारी, हिंसा द्वेष के अडडे बनने लगे।

इगलैड मे औद्योगिक क्राति हो जाने से अब एक स्वतत्र खुला बाजार पाने की नई समस्या पैदा हुई जहा इगलैंड के सभी उद्योगपति अपना माल बेच सकें। इसलिए अठारहवी सदी के आखिरी पच्चीस वर्षों मे वहा इसके लिए सघर्ष हुआ कि ईस्ट इडिया कपनी अकेली ही क्यो भारतवर्ष में अपना माल बेचे औरो को भी (वही शोषण का) अधिकार मिलना चाहिए। इस सघर्ष का श्रीगणेश १७७६ मे एडम स्मिथ ने किया था जो स्वतत्र व्यापार के क्लासिकी अर्थशास्त्र के पिता और नये युग (स्वतत्र शोषण) के अग्रदूत माने जाते हैं।

१८१३ मे इगलैड के अन्य कारखानेदारों और व्यापारियो की जीत हुई। भारत के व्यापार पर ईस्ट इडिया कपनी का एकाधिकार खत्म हुआ और इगलैड के औद्योगिक पूजीवाद द्वारा भारत के शोषण का एक नया अध्याय शुरू हुआ। अब पूरे इगलैड के पूजीपतियो को भारत मे अपना माल बेचने का अधिकार मिल गया। फलत बीस वर्षों के बाद ही (१८३३ में) अग्रेजो को भारत मे जमीन खरीदकर चाय बागानो और जमींदारी के मालिको के रूप मे यहा बस जाने का पूरा अधिकार मिल गया। फिर तो पूरा इगलैड भारतवर्ष को पूरी तरह से लूट सके इसकी पक्की तयारी हो गई।

स्वभावत इस बृहत कार्य के लिए एक बृहत व्यवस्था की जरूरत पडी। इस बृहत व्यवस्था मे दो चीजो की जरूरत थी। पहला एक ऐसा मध्यस्थ जिसके द्वारा यहा की भू सपत्ति जन सपत्ति की बडे सभ्य और आधुनिक ढग से लूट हो सके। इसके लिए अग्रेजो ने यहा जमीदारी व्यवस्था तयार की। जो यहा के राजा थे, उनके माध्यम से भी अग्रेज यहा के मालिक हुए। पूजीवादी औद्योगिक भाषा मे 'राजा और जमीदार' अग्रेजो के एजेंट हुए। पर इतनी व्यापक व्यवस्था का चलान, भारतीय सस्कृति की जगह एक अग्रेजी सस्कृति के अनुसार सोचने, जीने के नए ढग के लिए एक नया मध्यवर्ग' (एलिट क्लास) पैदा करने की योजना बनाई अग्रेजो ने। इस योजना को एक सफल कार्य और सफल कार्य को एक पूरी व्यवस्था मे बदल देने का काम किया लार्ड मेकाले ने।

रजनी पाम दत्त के शब्दो मे "जब मेकाले ने भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति के समर्थको को हराकर साम्राज्यवाद की तरफ से यहा अग्रेजी ढग की शिक्षा जारी की थी, तो उसका उद्देश्य भारत के लोगो मे राष्ट्रीय चेतना पैदा करना नही, बल्कि उसकी जड तक उसे खोद डालना था।"[1]

१ 'भारत—वर्तमान और भावी' पृष्ठ ११७ पहला हिन्दी सस्करण।

जमींदारी व्यवस्था के कारण अब एक ग्रामीण पर तीन शोषक शक्तियों का भार आया—

(१) सरकार (अंग्रेज) की मालगुजारी,

(२) जमींदार का लगान और

(३) साहूकार का सूद।

मतलब वह जो कुछ भी पैदा करता था उसका केवल एक तिहाई उसके पास बचता था और दो तिहाई उसके हाथ से निकल जाता। शेष एक तिहाई पर उस पुरानी टूटी हुई, ग्राम व्यवस्था (परिवार) का भी भार था जो अब असलियत में अविश्वास होकर उल्टे उसे भयभीत कर रहा था। इस तरह भारत में जमींदारी प्रथा के जन्म के साथ (१) जमींदार और (२) साहूकार ये दो दल वर्ग पैदा किए गए जिससे भारत जैसे विशाल देश को अपनी शक्ति के नीचे दबाकर इसके शोषण के निमित्त एक ठोस सामाजिक आधार तैयार कर सकें। ये वर्ग ऐसे होने चाहिए जिन्हें भारत की लूट में से चंद टुकड़े मिलते रहें और अंततोगत्वा इन वर्गों का स्वार्थ भारत में अंग्रेजी राज को कायम रखने में हो। पर अभी अंग्रेजी व्यवस्था का एक बौद्धिक आधार 'नौकरशाही वर्ग' और तैयार होना था—और यह कार्य पूरा किया मैकाले ने।

अंग्रेजी भाषा को मूल में रखकर इसने अंग्रेजी बुद्धि (कालेज, युनिवर्सिटी) अंग्रेजी न्याय व्यवस्था (कचहरी, कोर्ट) अंग्रेजी शासन व्यवस्था (नौकरशाही, अफसरशाही) और अंग्रेजी जीवन व्यवस्था (उपभोक्ता मध्यवर्ग) का जो व्यापक और गहन जाल नीचे से ऊपर तक फैलाया और इससे जो नया सामाजिक वर्ग (मध्यवर्ग) पैदा हुआ उसके द्वारा अंग्रेजों के औपनिवेशिक राज्य और शासन का सारा लक्ष्य पूरा हो गया।

गुलामों पर नये गुलामों से शासन कराओ, गुलामों को गुलामों से ही लड़ाओ और नीचे से ऊपर तक पढ़े-लिखों की एक ऐसी सेना (नौकरशाही) फैलाओ कि वे तन, मन, धन (धर्म, अर्थ, काम) तीनों स्तरों से यही सोचें कि अंग्रेजों के हित में ही हमारा हित है और उनके अहित में हमारा अहित है।

लार्ड मेटकाफ ने कहा है "अंग्रेजी शिक्षा को इस देश में मैं इसी आशा से देखता हूं कि इससे हमारे साम्राज्य का विस्तार होगा।"[१]

अंग्रेजी शिक्षा के कारण, अंग्रेजी अफसरशाही और नौकरशाही के कारण, इस मध्यवर्ग द्वारा अंग्रेजों का शासन तंत्र भारत में अंग्रेजों के यहां से चले जाने के बाद भी चलता रहेगा—अंग्रेजों की यह सूक्ष्म राजनीतिक चाल सचमुच सही निकली। अंग्रेजी राजनीति में यह नया आध्यात्म था जिसका एक ही लक्ष्य था भारत के 'व्यक्ति' को इंडिविजुअल में बदल दो। व्यक्ति जिसका

१ लार्ड मेटकाफ लाइफ आफ लार्ड मेटकाफ भाग दो पृष्ठ २६२ २६४

मूल पहचान है कि वह 'रचना करता है, उस रचनाकार को केवल उपभोक्ता बनाकर 'इंडिविजुअल' कर दो। जो सामाजिक है, पारिवारिक है उसे नितात 'अकेला और 'स्वायत्त' (एटानमस) बना दो। उससे उसके 'देवत्व' को छीनकर उसे मशीन का एक पुरजा और प्रकृति भोगी जानवर बना दो।

अग्रेजी राजनीति के इस भयकर आध्यात्म के खिलाफ सबसे पहले खडे हुए राजा राममोहन राय फिर आए विवेकानद, स्वामी दयानन्द गोखले, तिलक, अरविंद और महात्मा गाधी। किसी भी पराधीनता के समय अगली पीढी जब पिछली पीढी की, एक युग जब अपने पिछले युग की दासता स्वीकार कर लेता है तब एक ओर नए ज्ञान का जन्म रुक जाता है और दूसरी ओर व्यक्ति और समाज केवल आत्मरक्षा म पडकर अपनी चीजो और परपराओ को बचाने म उन्ह सुरक्षित रखन मे लग जाता है—गत एक या डेढ हजार वर्षों तक ठीक यही दशा भारतवष के समाज और व्यक्ति की थी। ऐसे समय मे भारतवष न अपनी बुद्धि का उपयोग सिफ पुरानी चीजो की व्याख्या और शब्दाथ करन मे ही किया। हम यह भूल ही गए कि अनुभव और विवक से ही सष्टि का ज्ञान होता है। पेशवाई के अतिम और ब्रिटिश राज्य की स्थापना के समय हमारे शास्त्रियो और पडितो की यही अवस्था हो गई थी।

इस ग्रथ प्रामाण्य युग के विरुद्ध बगावत का झडा खडा करने का श्रेय राजा राममोहन राय को है। उन्होने निवृत्तिपरक भारतीय समाज को कम प्रवण बनाने का प्रयत्न किया। उन्होने कहा, "जिस तरह भिन्न भिन्न शरीरस्थ जीवात्मा उन उन शरीरो को चैतन्य देकर उसका नियमन करते हैं, उसी तरह अखिल विश्वरूप समष्टि शरीर को चतन्य देकर उसका नियत्रण करने वाले परम सत्य की हम आराधना करते हैं। हमारी इस आस्था को यद्यपि हमारे समय के लोगो ने छोड दिया है फिर भी यह सनातन पवित्र भाव वेदात धर्म से सम्मत है। हम सब प्रकार की मूर्तिपूजा के विरुद्ध हैं। परमेश्वर की पूजा-प्राथना का हमारा एक ही साधन है—मानव दया और परोपकार भाव से परस्पर व्यवहार करना।"

एक्यबोध (एकात्ममानववाद) ही प्राण है भारतीय राष्ट्र व्यवस्था (शरीर) का इस सत्य को राममोहन राय ने प्रयोजन की दिशा से नही देखा, बल्कि मानव आत्मा का जो आतरिक मिलन धम है, उसके नित्य आदश से प्रेरित होकर देखा था। भारत के सगमनी राष्ट्री सगम माग पर उन्होने सबको बुलाया, जिस माग पर हिंदू मुसलमान इसाई छूत अछूत, नीच ऊच सबका निर्विरोध मिलन सभव है। साधना तो मिलन की है। फिर यदि हम सब मिलें नही, तो हमारी एतिहासिक साधना का साक्ष्य क्या होगा?

ठीक इस एक्यभाव के विरुद्ध पूजीवाद और साम्राज्यवाद के समथक और खासकर हम पर राज्य करने वाले अग्रेज अफसर एक विशेष प्रश्न किया करते

थे कि क्या भारत के लोगो की कोई एक कौम है ? तरह तरह की नस्लो, धर्मो के लोगो को जो जात पात भाषा-बोली के तमाम वर्गों भेदो मे बटे हैं, क्या इस खिचडी को एक 'राष्ट्र , एक कौम, एक जाति कह सकते हैं ?

१८८८ मे सर जान स्टची ने घोषणा की कि "भारत नाम की कोई चीज न ता है और न कभी होगी।'

पर उन्नीसवी सदी के उत्तराध मे जो नवजागरण हुआ और भारतवासी एक जाति, एक देश के रूप मे जा जाग उठे तो यह दलील दी जाने लगी कि यह 'एकता', 'जागरण' अग्रेजी राज की देन है। जबकि ध्यान देन की बात है कि सन १८५७ के बाद जब से अग्रेजा की परम व्यावहारिक राजनीति शुरू हुई तब से उन्होने हर तरह से यही साबित किया कि हिंदू मुसलमान दो अलग जातिया हैं। धम भाषा जात पात के आधार पर भारत पूणत अलग अलग खड है। भारत की खड खडता को, विविधता को अपनी राजनीति का आधार बनाकर बाटो और राज करो तोडो फोडो और इन्हें अपना गुलाम बनाए रखो। इसका ज्वलत उदाहरण 'साइमन कमीशन' से लेकर लाड माउटबेटन तक की कितनी ही घटनाए है।

भारत म अग्रेजी पूजी के घुसने के परिणामस्वरूप खेती की जो तबाही, भारतीय उद्योग धधे का जो नाश तथा अग्रेज तत्र के कारण जो भारतीय जीवन व्यवस्था म जो गहरा नैराश्य आया तथा इसके खिलाफ राजा राममोहन राय, विवेकानद, दादाभाई नौरोजी, स्वामी दयानद, रानाडे, गोखल, तिलक आदि ने जो सदियो से आत्मरक्षा मे रुके, बधे और सोते हुए देश को जगाया ता अग्रेज राजनीतिज्ञा का यह डर होने लगा कि भारतवष मे यदि समय पर ऐसी रोक न लगाई ता कोई राज्य क्राति हो जाएगी। उन्हाने सोचा कि बेहतर होगा कि इस आदालन की बागडोर अपन हाथ मे ही ले लो।

ठीक उसी उद्देश्य से १८८५ म भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना हुई। जिसके सस्थापक थ ए० ओ० ह्यूम, जो १८८२ तक सरकारी नौकर थे, फिर पेंशन लेकर काग्रेस की स्थापना के काम (क्राति को रोकने) मे जुट गए। एक ओर लूट और दमन चक्र दूसरी ओर पढे लिखे नताओ से समझौता करने का यह दोहरा तरीका अग्रेज राजनीति की बुनियादी बात थी। इसी दमन मे से निकला 'गमदल और वफादारी को पुचकारने म से निकला नरमदल ।

उस समय के वायसराय लाड डफरिन का उद्देश्य था कि काग्रेस के जरिए 'वफादार लागा को बागियो' स अलग करके सरकार की मदद करने के लिए एक आधार तयार कर दिया जाए। उन्होने अपन इस उद्देश्य को काग्रेस की स्थापना के एक वष बाद, शिक्षित वर्गों की मागो के विषय मे भाषण करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दो मे इस तरह बता दिया था

जिन काले आदमियो से मैं मिला हू, उनमे काफी लोग योग्य भी हैं और

बुद्धिमान भी। इन लोगों की वफादारी और सहयोग पर कोई भी बिला शक भरोसा कर सकता है। जब ये लोग सरकार का समर्थन करने लगेंगे तो सरकार के बहुत से ऐसे कामों का जनता में प्रचार हो जाएगा जो आज उसकी निगाह में धारा सभाओं से जबरदस्ती कानून बनवाकर किए जाते हैं। और अगर इन लोगों के पीछे काले आदमियों की एक पार्टी की ताकत हो जाती है तो फिर भारत सरकार आज की तरह अकेली न रह जाएगी। आज तो मालूम होता है कि अंग्रेजी सरकार एक अकेली चट्टान की तरह तूफानी समुद्र के बीचो-बीच खड़ी है और चारों दिशाओं में भयानक लहरें आकर उस पर एक साथ टूट रही हैं।'

संघर्ष और समझौता, 'गरम' और 'नरम' सहयोग और असहयोग, कांग्रेस के जन्म के साथ ही उसका यह दोरंगा रूप प्रकट हुआ। दरअसल यह दोरंगी प्रवृत्ति भारत के पूंजीपति वर्ग की प्रकृति से निकली जो एक ओर अपने स्वार्थ के लिए ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग से संघर्ष करती थी, पर साथ ही उसे यह सदा डर भी बना रहता था कि कहीं यह जन आंदोलन इतना तेज और गंभीर भी न हो जाए कि अंग्रेज साम्राज्यवादियों के साथ इसके भविष्य के हितों का भी सफाया हो जाए।

इस असंगति का चरम फल १९४२ की क्रांति के बाद १९४७ में भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के क्षणों में प्रकट हुआ जब कांग्रेसी नेताओं ने भारत के बंटवारे और भारत तथा पाकिस्तान के डोमीनियनों की स्थापना करने और ब्रिटिश राष्ट्र समूह में रहने की माउंटबेटन योजना को स्वीकार कर लिया।

बीस साल तक कांग्रेस उसी रास्ते पर चलती रही जो रास्ता उसके संस्थापकों ने उसके लिए तैयार कर दिया था। इन बीस वर्षों में उसके प्रस्तावों में कभी किसी रूप में भी स्वराज्य की मांग नहीं की गई। यानी उसने राष्ट्र की कोई कल्पना नहीं की और उसकी कोई बुनियादी मांग नहीं उठाई। क्योंकि अब तक उसके प्रतिनिधि पढ़े-लिखे मध्य वर्ग के लोग थे। वे जनता के प्रतिनिधि नहीं थे, वे डाक्टर, वकील, इंजीनियर और व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि थे। फिर भी अंग्रेज शासक इससे सतर्क रहते थे। कांग्रेस अधिवेशनों में सरकारी मुलाजिम दर्शकों की हैसियत से भी भाग नहीं ले सकते थे। ऐसा कड़ा हुक्म था।

पर जैसे-जैसे नरमदली नेताओं से यह बात साफ हो गई कि उनकी वह नीति असफल रही, वैसे वैसे अंग्रेजी शासन के खिलाफ संघर्ष की नीति उभरने लगी। इस नई धारा (गर्म दल) के नेता थे लोकमान्य बालगंगाधर तिलक। इनके अलावा नए नेताओं में बंगाल के विपिनचंद्रपाल, अरविंद घोष और पंजाब के लाला लाजपतराय थे। ये नए नेता, 'राष्ट्रवादी', 'कट्टर राष्ट्रवादी' के रूप में प्रसिद्ध हुए। ये राष्ट्रीय आंदोलन को हिंदुत्व और इस भावना पर खड़ा करना चाहते थे कि प्राचीन हिंदू अर्थात् आर्य सभ्यता आध्यात्मिक दृष्टि

से पश्चिम की आधुनिक सभ्यता से श्रेष्ठतर है। यह भी कहा जाता था कि प्राचीन हिंदू धर्म ही राष्ट्रीय आन्दोलन की जान है। तभी उस समय के आंदोलन से गणेश पूजा दुर्गापूजा काली पूजा, रामलीला, कृष्ण लीला को जोड़ा गया। जनमानस तक राष्ट्रीय चेतना और संघर्ष की राजनीति ले जाने मे इस प्रवृत्ति ने अपूर्व योग दिया पर एक बड़ी हानि यह हुई कि मुस्लिम जनता का एक बहुत बड़ा भाग राष्ट्रीय आंदोलन से कट गया और इसका आगे चलकर लाभ उठाया अंग्रेजो ने।

फिर भी राष्ट्रवाद की चेतना से इसका क्रांतिकारी स्वरूप प्रकट हो गया। लार्ड कर्जन की बंग भंग योजना मे बंगाल मे जिस निःशस्त्र और सशस्त्र क्रांतिवाद का जन्म हुआ उसकी उस राष्ट्रीय शक्ति को कांग्रेस की राजनीति के पक्ष मे खड़ी करने के लिए लोकमान्य तिलक का नाम सदा याद किया जाएगा।

इस घटना से एक 'क्रांतिकारी आध्यात्मिक राष्ट्रवाद' का चरण शुरू हुआ। और स्वभावतः इसके खिलाफ दमन शुरू हुआ। पर दमन से राष्ट्रीयता का यह विकास नही हुआ। भारतीय मनीषा मे ऐसा कभी नही हुआ। कंस ने यादवों पर जो इतने अत्याचार अपराध किए उससे कृष्ण का जन्म नहीं हुआ, पर जब यादवो ने ऐसे जन्म की कामना की जनमत जब एक हुआ कि जब ही ऐसी शक्ति उनके बीच पैदा हो तो उसकी सत्ता को वे स्वीकार लें। ठीक इसी तरह भारतीय चित्त के अनुसार राष्ट्रीयता भी एक अवतरण है जो विश्वास और स्वीकार के भीतर से होता है। यह एक महाशक्ति है।

ऐसा ही हुआ और १९०४ से १९०७ तक कांग्रेस के अधिवेशन उत्साहमय होने लगे। एक नवीन स्वाभिमानी राष्ट्रीय भाव संगठित होने लगा। पर शीघ्र ही तिलक और गोखले मे मतभेद हो गया। तिलक दादाभाई के संदेश—'आंदोलन करो, अविराम आंदोलन करो, व दृढ़ निश्चय से एकता के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करो'—का अनुसरण कर रहे थे। विपिनचंद्र पाल तिलक के साथ थे। उन्होंने कहा—'हमारी राजनीति का सच्चा आधार तो राष्ट्रभक्ति ही हो सकती है और उसी पर राष्ट्रीय राजनीति की दीवार खड़ी हो सकती है।"

बंग भंग योजना भेदनीति अंग्रेजों की राजनीति का ज्वलंत उदाहरण थी और इसी से तिलक का राष्ट्रवाद 'क्रांतिकारी आध्यात्मिक राष्ट्रवाद' बना। इसमे लाला लाजपतराय और विपिनचंद्र पाल का योग महत्त्वपूर्ण है। विशेषकर राष्ट्रवाद को क्रांतिकारी आध्यात्मिकता से जोड़ने मे अरविंद की देन अति महत्त्वपूर्ण है कि 'मार्क्सवाद मे थीसिस एंटीथीसिस सिंथासिस का दर्शन वस्तुतः एक आयामी है—जहां जिस स्तर पर थीसिस है सिंथासिस भी अंततः वहीं पहुंचता है—पर चेतन से अतिचेतन की यात्रा उत्तरोत्तर गहरे और गहरे चली जाती है।

इसी दशन से निकला तिलक और गोखले का यह सकल्प कि अग्रेजियत का 'राष्ट्रीय बहिष्कार शुरू हो। सिफ विलायती कपडे का बहिष्कार नहीं बल्कि विलायती माल का बहिष्कार।

इस क्रातिकारी सकल्प को आध्यात्मिक सदम दिया अरविंद ने। उपनिषद् के दो पक्षियो की एक कथा का आधार लेकर अरविंद ने कहा कि मीठे और कडवे फलो से लदे एक विशाल वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक ऊपर दूसरा नीचे। दूसरा जब ऊपर देखता है तब उसे, अपने सारे पख फैलाकर एक वैभव का आनद लेन वाले पहले पक्षी का दशन होता है और वह सप्रेम उस पर मोहित हो जाता है। उस समय उसे दिखाई पड जाता है कि वह वैभवशाली पक्षी कोई और नही बल्कि मेरी ही अतरात्मा है। परतु जब वह वक्ष म मीठे फल खान लगता है तब वह यह भूल जाता है कि कोई ऊपर पक्षी भी बैठा है। कुछ ही समय बाद जब उस वृक्ष के सारे मीठे फल खत्म हो जाते हैं और जब उस कडवे फल खाने होते हैं तब वह दुखी होकर ऊपर के पक्षी को देखने लगता है।

अरविंद ने कहा—'यह कथा जीवात्मा और मोक्ष से सबध रखती है। यह राष्ट्रीय मोक्ष पर भी उसी तरह घटित होती है। हम हिंदुस्तानी विदेशियो की माया के फेर मे पड गए थे और उसका जाल हमारी आत्मा पर भी फैल गया था। यह माया थी उन विदेशियो के शासन प्रबध की, विदेशी सस्कृति की, विदेशियों की शक्ति और सामर्थ्य की हिंदुस्तान मे जो कुछ चैतन्य था उसे नष्ट करने मे हमी ने उन्हे सहायता दी। छि छि हमी अपने बधन के साधन बन गए। इस माया का नाश बिना कष्ट के नही हो सकता। बग भग का जो कडुआ फल लाड कर्जन ने हम चखाया, उससे हमारा मोह नष्ट हो गया। हम ऊपर निगाह उठाकर देखन लगे और ससार वक्ष की चोटी पर बैठा तेजपुज पक्षी दूसरा नही, हमारी ही अतरात्मा है। इस तरह हम समझ गए कि हमारा स्वराज्य हमारे ही अदर है और उसे पाने और साक्षात्कार करने की शक्ति भी हमारे अदर है।"

इस नवीन राष्ट्रवाद से चार मत्र इस देश की राजनीति से जुडे (१) स्वदेशी (२) राष्ट्रीय शिक्षण (३) बहिष्कार, और (४) स्वराज्य।

इस तरह एक ओर भिक्षा मागने वाली वैध राजनीति और दूसरी ओर सशस्त्र क्राति वाली त्वरित अव्यावहारिक राजनीति दोनो के बीच निःशस्त्र क्राति की एक स्वतत्र राजनीति का नया युग शुरू हुआ। तिलक इसके नेता थे। दादाभाई इसके जनक थे, गोखले इसके गुरु थे, अरविंद इसके योगी थे।

अरविंद न कहा है कि इस राष्ट्रवाद के सदेश का जन्म न तो निराशा से हुआ है न अग्रेजो के दमन से न उनके अत्याचारो स। इसका जन्म श्रीकृष्ण की तरह बदीगृह मे हुआ है। श्रीकृष्ण का लालन पालन जैसे दरिद्र और अज्ञानी

जनता के अनात घर मे हुआ है उसी तरह यह राष्ट्रवाद सन्यासियो की गुफा मे फकीरी के वेश म, युवको के हृदयो मे, जो लोग अंग्रेजी का एक अक्षर भी नही जानते थे मगर जो मातभूमि के लिए बलिदान हो जाना चाहते थे उनके अत करण मे और जिन पढे-लिखे लोगो ने इनका नाम सुनत ही अपनी धन दौलत और पद प्रतिष्ठा को लात मारकर लोक सेवा और लोक जागति का व्रत धारण किया उनके जीवना मे यह राष्ट्रभाव, राष्ट्रप्रेम पनपा और बढा।

प्रत्यक्ष राजनीति से अप्रत्यक्ष महाराजनीति की साधना और तैयारी के लिए पाडिचेरी जात समय जुलाई १९०९ म अरविंद ने अपने देशवासियो के नाम एक अतिम पत्र मे लिखा, "राजनीति म नीति तो मिल जाएगी, परतु नेता परमेश्वर ही दे सकेगा। जब तक दैव नियोजित नेता नही आता और हम परमेश्वरी शक्ति के आविष्कार के साधन नही बनते तब तक बडे आदालन रुके रहत हैं, पर ज्यो ही वह आता है वे विजय प्राप्ति के लिए आगे बढते हैं । इस परिस्थिति मे हमारा बल नैतिक है भौतिक नही। स्वराज्य अथवा परनियत्रण मुक्त पूण स्वातन्य हमारा ध्येय, स्वावलबन और प्रतिकार हमारा साधन है। इस ध्येय मे किसी राष्ट्र के या हमारे देश पर राज करने वाली सरकार के प्रति द्वेष का समावेश नही। '

१९११ मे वग भग का रद्द किया जाना, बहिष्कार आदोलन की एक आशिक जीत थी। १९११ के अत म दिल्ली दरबार हुआ जिसम सम्राट पचम जाज का राज्याभिषेक घोषित किया गया और भारत की राजधानी कलकत्ते से दिल्ली लाई गई।

भारतीय राजनीति म गाधी के प्रवेश से पूव तिलक ने नरम नीति का अत करके पूण स्वराज्य मिलने तक लडने वाली एक सेना खडी कर दी थी। १९१५ मे जब गाधी ने पूणरूप से प्रवेश किया तो उन्ह लगा कि अब वैध राजनीति का युग समाप्त हुआ और उन्होने निश्चय किया कि भारत को नि शस्त्र क्राति की दीक्षा दी जाए। गाधी ने बडे मम की बात पकड ली। अंग्रेज इतने बडे भारत देश पर कम शासन कर रहा है ? हमारे ही सहयोग स। तो हमे चाहिए कि वह सहयोग हम बद कर दें और गाधी न इसी का नाम दिया। असहयोग सग्राम'।

गाधी ने १९०९ म एक सदेश काग्रेस का भेजा था। उसम उन्होन लिखा था कि हिदुस्तान की सारी मुसीबता स छुटकारा पान का रामबाण उपाय 'सत्याग्रह' है। और यह साधन आधुनिक भौतिक सभ्यता के उद्धार के लिए भी है जो कि खुद विनाश की ओर दौडती चली जा रही है। गाधी ने कहा था 'हमारे देश और जाति को आधुनिक सभ्यता स बहुत कम सीखना है क्योकि उसका आधार घोर स घोर हिंसा पर है जो कि मानव म दैवी गुणों के अभाव का सूचित करती है।'

गाधी की राजनीति का 'घोषणा पत्र' था फरवरी १९१६ मे काशी हिंदू विश्वविद्यालय के उदघाटन समारोह मे दिया गया उनका ऐतिहासिक भाषण, जिसे आपत्तिजनक कहकर भाषण के बीच मे ही सभा मडप से डा० बेसेंट चली गइ और उन्ही के साथ उपस्थित सारे राजा महाराजा भी उठ खडे हुए थे।

१० मार्च, १९२० को गाधी ने असहयोग आदोलन की घोषणा की। इसका श्रीगणेश सरकार की दी हुई उपाधियो को त्यागने और तीन तरह के बहिष्कार से होने वाला था। इनमे धारा सभाओ का, अदालतो और कचहरियो का तथा स्कूलो कालेजो का बहिष्कार शामिल था। इसके साथ ही हर घर मे फिर से चर्खा और करघा चालू करने की बात थी। आदोलन की अतिम अवस्था मे करबदी की योजना थी।

जो राजनीति अब तक केवल कुछ पढे लिखे लोगो के बीच की चीज थी, उसे अब गाधी ने समूचे भारतीय जनमानस से जोड दिया।

१९२२ मे यह आदोलन रोक दिया गया—प्रश्न था हिंसा बनाम अहिंसा। गाधी किसी भी कीमत पर हिंसा का पक्ष लेने को तैयार न थे। जबकि अग्रेज राजनीति की हर तरह से यही कोशिश थी कि किसी तरह गाधी अपना पक्ष छोड उनके रास्ते पर आकर उनसे लडाई करें। पर गाधी खूब जानते थे अग्रेजो की राजनीति का मर्म। इसका उदाहरण है १२ फरवरी को कांग्रेस कार्य समिति ने बारदोली मे एक फैसला लिया। बारदोली के प्रस्ताव के मुख्य अश ये थे

"धारा एक कार्य समिति चौरीचोरा मे भीड के इस अमानुषिक आचरण की दुख के साथ निंदा करती है कि उसने पुलिस वालो की पाशविक ढग से हत्या कर डाली और अधे होकर पुलिस के थाने को जला दिया।"

"धारा दो जब भी सविनय अवज्ञा का जन आदोलन प्रारभ किया जाता है तभी हिंसात्मक उपद्रव होने लगते हैं। इससे जाहिर होता है कि देश अभी काफी अहिंसक नही हुआ है। इसलिए कांग्रेस कार्य समिति फैसला करती है कि आम सविनय अवज्ञा आदोलन फिलहाल रोक दिया जाए और यह स्थानीय कमेटियो को आदेश देती है कि वे किसानो को सरकार का लगान तथा दूसरे कर अदा कर देने की सलाह दें और हर तरह की हमलावर कार्यवाहियो को बद कर दें।"

प्रस्ताव के इन शब्दो से इतना अवश्य पता चलता है कि कांग्रेस के प्रभावशाली नेताओ ने, जो गाधी के साथ थे, इसलिए आदोलन को रोक दिया कि वे जनता की बढती हुई क्रियाशीलता से डर गए। क्योकि शायद उससे उन वर्गों के हितो के लिए खतरा पैदा हो रहा था। जिनके साथ उन नेताओ का गहरा सबध था।

हिंसा बनाम अहिंसा और वर्ग-स्वार्थ बनाम जन-सघर्ष के सवाल पर १९२२ का वह राष्ट्रीय आन्दोलन जो टूटा तो आगे पाच वर्षों तक राष्ट्रीय

आन्दोलन मे सन्नाटा छा गया। इसी सन्नाटे या पस्ती के आलम मे देशबंधु चितरजन दास और पडित मोतीलाल नेहरू ने काग्रेस के अदर रहते हुए चुनाव लडने के लिए और नई धारा सभाओ म वैधानिक मार्चे पर सघर्ष चलान के लिए 'स्वराज पार्टी' बना ली।

१९२७ के अत मे जवाहरलाल नेहरू डेढ साल तक यूरोप की यात्रा के बाद भारत लौटे। यह वह समय था जब काग्रेस के अदर एक नया गरम दल बन रहा था। यह वही वक्त था जब भारत का भावी विधान बनाने के लिए साइमन कमीशन नियुक्त हुआ था जिसमे एक भी भारतीय सदस्य न था। इसके खिलाफ एक जनमत बनाया जाने लगा और नए गरम दल के नेता के रूप मे जवाहरलाल के साथ सुभाषचद्र बोस का नाम महत्त्वपूर्ण हुआ। १९२९ के अत मे लाहौर मे काग्रेस अधिवेशन हुआ और 'पूर्णस्वराज्य' प्राप्ति का फसला लिया गया और १९३० स फिर राष्ट्रीय आदोलन का श्रीगणेश हुआ। गाधी ने फिर इसे नाम दिया 'सविनय अवज्ञा आदोलन'। पर स्पष्ट कर दिया कि 'उन्ही लोगो के हाथो म उसकी बागडोर रहनी चाहिए जो एक धार्मिक विश्वास के रूप म अहिंसा म विश्वास करते हैं।"

इस आदोलन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी, गाधी का नमक सत्याग्रह और डाडी यात्रा।

पर एक वर्ष के गभीर राष्ट्रीय आदोलन को देखकर एकाएक अग्रेजो ने गाधी इरविन समझौता किया और उधर लदन मे गोलमेज सम्मेलन बुलाया।

अग्रेज ऐसे सारे कायक्रम आजादी की लडाई को रोकने या उसकी दिशा बदलने के लिए करते थे। यह कार्यक्रम इस उद्देश्य से रचा गया कि आन्दोलन का बुरी तरह से दमन किया जाए। अत १९३० ३१ के दमन से कही ज्यादा भयकर दमन १९३२ ३३ मे हुआ।

अग्रेजो ने एक नई राजनीति खेलनी शुरू की—धारा सभाओ म 'दलित जातियो' के प्रतिनिधियो को अलग से चुनवाने की योजना बनाई गई। इसके खिलाफ गाधी ने आमरण अनशन किया। पर अग्रेजी राजनीति विजयी हुई। 'पूना समझौता' के अनुसार दलित जातियो के लिए सुरक्षित सीटो की सख्या दुगनी कर दी गई।

मई १९३३ मे जन सत्याग्रह (आदोलन) बद कर दिया गया और केवल व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू हुआ। गाधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रही के रूप मे सर्व प्रथम सत्याग्रही सत विनोबा भावे का चुना।

१९३४ मे गाधी ने काग्रेस की सदस्यता से इस्तीफा द दिया। उन्होने कहा— मुझमे और बहुत मे काग्रेस जनो म जबदस्त मतभेद है और वह बढता जा रहा है। स्पष्ट है कि अधिकतर काग्रेस जनो के लिए अहिंसा एक नीति मात्र है और एक मौलिक सिद्धात के रूप म उनकी अहिंसा म आस्था

नही है। इसके अलावा कांग्रेस मे समाजवादी तत्त्वो का प्रभाव और संख्या बढ रही है। यदि वे कांग्रेस पर छा गए, जो असभव नही है, तो मैं नही रहूगा।"

दरअसल १६३० मे जिस समाजवादी तत्त्व का बीज कांग्रेस मे बोया गया था अब वह अकुरित हुआ और 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' के रूप मे (कांग्रेस के अदर) प्रकट हो गया था।

अब तक हमने देखा कि अग्रेज जिस राजनीति को (बाटना, जड से उखाडना, उपजीवी होना, लूटना, भारत को ब्रिटिश इडिया बनाना) यहा रच रहा था, और उसके लिए जो साधन इस्तेमाल कर रहा था वह क्या था? इसके खिलाफ जो आदोलनकारी भारतीय राजनीति यहा चली वह एक खास तत्त्व प्रणाली और क्रातिशास्त्र को लेकर तथा एक असमान्य विभूति (गाधी, जिसकी चर्चा पहले अरविंद ने की थी) के नेतृत्व मे चल रही थी। यह था नि शस्त्र क्राति का मार्ग, जिसे सत्याग्रही क्रातिशास्त्र कहा जाएगा। यह एक नन्हा भारतीय वृक्ष था भारतीय बीज का, अपने समय काल और परिस्थितियो मे जो यहा उगा। इस नन्हे से वृक्ष को जल से सीचा राजा राममोहन राय ने, इसे खाद दिया दादाभाई नौरोजी ने इसे धूप दी तिलक ने, इसकी रक्षा की गोखले ने और अतत इसके माली हुए गाधी।

इसी वृक्ष को समूल उखाडकर एक निर्मूल वृक्ष को यहा लगाना, यही था अग्रजो का चरम लक्ष्य।

अग्रेजी राज से पहले अठारहवी सदी मे मराठा राज्य, निजाम का राज्य और हैदर-टीपू का मैसूर ये ही तीन प्रमुख राज्य भारत मे थे। सामूहिक रूप से इन तीनो का मुकाबिला करने की ताकत अग्रेजो मे नही थी। इतना ही नही, एक के खिलाफ दूसरे की सहायता के बिना किसी एक का भी मुकाबिला वे नहीं कर सकते थे। तीनो को परस्पर लडाना, दूसरी ओर तीनो मे अग्रेजो के कृपाभाजन बनने के लिए प्रतियोगिता का भाव पैदा करना, यही थी उनकी राजनीति।

पर अग्रेजो की यह राजनीति यहा क्यो सफल हुई, वह निर्मूल वृक्ष यहा की धरती, यहा के मानस मे क्यो और कैसे लगा, यह ध्यान से देखने की चीज है। भारतीय वृक्ष का वह फल' जिसका क्रमिक रूप था धर्म अर्थ, काम और अतत मोक्ष इस फल मे एक ही बीज है—सगम, सगमनी शक्ति जो व्यक्ति और समाज के समस्त कार्यकलाप की सूत्रधारिणी है। ऋग्वेद मे इसी को राष्ट्री' तथा 'सगमनी' कहा गया है। इसी के फलस्वरूप हमारे देश मे एक ऐसे अद्भुत सगम (परिवार) का निर्माण हुआ जिसमे तत्कालीन विभिन्न धर्मों जातियो नस्लो को एक भारतीय परिवार मे आने, मिलने की कठिनाइया बाधक नही हो सकी। हजारो वर्षो की राजनीतिक एव ऐतिहासिक बाधाए भी उसको तोडने मे समर्थ नही हो सकी।

उस बीज से 'सगच्छध्व सवदध्वम' का जो महामन्त्र इस राष्ट के प्राणो म गूजा था, वह अब भी हमार भीतर कही गहरे बैठा है। यही है चिति तत्त्व इस राष्ट का यही कारण है कि इतने विखडनो आक्रमणों एव शोषणो के बावजूद वह सगम भाव वह एकात्मक मानव दृष्टि अब तक हममे जीवित है।

जब यही बीज भारतीय धरती म कही गहरे पकडकर अदृश्य हो गया तो उस सूनी धरती पर शोषण और दमन के फावड चलाकर, सुधार के हल चलाकर, विकास के जल सीचकर, फूट कलह और बटवार की हवा चलाकर सत्ता शक्ति की धूप और रोशनी म जो निमूल वृक्ष यहा पनपा, वही है भारत की वर्तमान राजनीति, जिसकी जन्मदात्री है ब्रिटिश इडिया, जनक है औपनिवशिक अग्रेजी राज, पालक है पूजीवाद और मत्र है समाजवाद साम्यवाद के नाम पर एकाधिकार भाव।

तभी यह वतमान राजनीति अपनी प्रकृति म सजन के विरुद्ध है। यह अपन व्यवहारो म प्रतिक्रियावादी है। अपने चरित्र म यह परोपजीवी है। तभी इस राजनीति म भ्रष्ट सामतवाद है निकृष्ट पूजीवाद है अधविश्वास, अधम जातिवाद, प्रातवाद परपरावाद और जड व्यक्तिवाद है। यह मूल्यहीन है, इसकी बुनियाद हिंसा है। इसका फल सत्ता है। यह फल कभी पकता नही। सदा वक्ष स (पद, कुर्सी) चिपका रहता है। जिस फल म रस नही होता, उसका बीज कभी नही तैयार होता। रस से ही फल पकता है। फल पकते ही अपन आप वक्ष स अलग हो जाता है।

पर वह जो नन्हा सा पौधा है—समूल वृक्ष जिसकी रक्षा म गाधी ने १९३४ की हेमत ऋतु मे काग्रेस की सदस्यता भी छोड दी, उसके खिलाफ, उस जड स उखाड फेंकन की तमाम असफल कोशिशें जिस राजनीति न की, वह दरअसल दखन' की चीज है।

उस निमूल वक्ष का नाम है राजनीति। इस समूल नन्हे पौधे का नाम है लोकनीति आतिवादी आध्यात्मिक राष्ट्रनीति। उसकी सत्ता राजसत्ता है। इसकी सत्ता लोक है, राष्ट्र चिति है उसका फल भय है। इसका फल स्वराज्य है मोक्ष है।

इस समूल पौधे का अग्रेजो न १९३५ तक प्रात प्रात दफ्न किया। उसे नष्ट करने का एक उपाय उन्ह सूझा। उन्होन बढते हुए राष्ट्रीय भाव म फूट पैदा करके प्रातीय स्वायत्तता के नाम पर भारत को अनेक टुकडो म बाट दन की योजना तैयार कर ली। ब्रिटिश पालियामेंट ने १९३५ मे एक गवनमेट आफ इडिया एक्ट पास किया इस एक्ट म एक तरह का प्रातीय स्वायत्तता और उसका एक सघीय ढाचा रखा गया। पर इसम इतन दाव और पेंच थे कि राजनीतिक और आर्थिक दोनो तरह की सत्ता ब्रिटिश सरकार क हाथो म ज्यो की त्यो बनी रही। मतलब ब्रिटिश सत्ता से सचालित उस हुकूमती ढाच म दखल दन या उसम

सुधार करने के लिए हिंदुस्तानी जनता के प्रतिनिधियो के लिए कोई रास्ता ही नही था। इसका तत्र प्रतिक्रियावादी होने के साथ ही उसम आत्म, स्वविकास का कोई तत्व ही न था। यह ऐसा रहस्यपूण विघान था कि इसके तहत कभी कोई क्रातिकारी परिवतन ही सभव नही था। इसस एक ओर अग्रेजो न भारत के राजाओ, जमीदारो और प्रतिक्रियावादी शक्तियो से और गहरी दोस्ती जोडनी चाही तथा दूसरी ओर इसके पथक निर्वाचन पद्धति के द्वारा परस्पर एक-दूसरे से टूटने और पृथक होने वाली प्रवत्तियो को बढावा दिया।

राजनीति म ढोग, स्वाथ, निजी लाभ, निजी सत्ता प्राप्त करन का दशन यही से पनपा। मतलब यह सब भरपूर हमारे जीवन म था इसे अब अपनी अभिव्यक्ति का खुला क्षेत्र मिल गया, चुनाव का क्षत्र। यह उल्लेखनीय है कि तब से आज तक जितने चुनाव हुए—उतना ही हममे फूट, अलगाव और ईर्ष्या का विष फैला। झूठ, ढोग, हिंसा उतनी ही फैलती गई।

चुनाव मे काग्रेस की शानदार जीत हुई पर वस्तुत उस चुनाववादी, सत्तावादी राजनीति को विजय मिली जिसन भारतीय मानस को निरतर बाटने और तोडने का काय किया। इससे एक ऐसी राजनीतिक प्रक्रिया शुरू हुई जिसका एक ही लक्ष्य था चाहे कितना आदशहीन मूल्यहीन होकर किसी तरह सत्ता स चिपके रहना।

इसी प्रक्रिया का फल था भारतीय राजनीति म भारत से अलग पाकिस्तान का यह विचार कि जिन प्रातो मे मुसलमान बहुसख्यक हो वह एक स्वतत्र देश बने। इसी राजनीति की देन थी कि हिंदुस्तान एक राष्ट्र न होकर उसम हिंदू और मुसलमान ऐसे दो राष्ट्र हैं। देशी नरेश अलग राष्ट्र हैं। हरिजन, सिख, सब अलग अलग राष्ट्र हैं।

रजनी पाम दत्त के शब्दो म 'अग्रेजो के लिए भारत न हमेशा कुबर के ऐस खजाने का काम किया है जिससे उन्हे मनचाहे सिपाही और मनचाहा धन मिल सकता था। इसी धन-जन से अग्रेजो ने भारत को जीता। इसी से उन्होंने एशिया मे अपने साम्राज्य का विचार किया।"

१९३९ मे जब ब्रिटेन ने जमनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा की तो ब्रिटेन भारत को उसी तरह इस्तेमाल करना चाह रहा था जिस तरह उसने १९१४ मे किया। पर इस बार ऐसा न हुआ। काग्रेस ने इस युद्ध को 'साम्राज्यवादी' कहा, जिसके परिणामस्वरूप १९३९ मे सभी काग्रेसी मत्रिमडलो ने इस्तीफा दे दिया। इसमे बाद शुरू हुआ, 'अग्रेजो, भारत छाडो' आदोलन।

अग्रेजो को अतत १९४७ मे भारत छोडना पडा पर कुछ शर्तों के साथ, जिनके अनुसार स्वतत्र भारत की नई शासन व्यवस्था का श्रीगणेश होन वाला था (क) देश विभाजन। (ख) भारत की जनता को अपनी इच्छानुसार नई

सरकार का स्वरूप तय करने का कतई कोई अधिकार नहीं। (ग) अंग्रेजी सरकार किस प्रकार का भारतीय संविधान बनाएगी यह फैसला उसी के हाथ रहेगा। (घ) वही यह फैसला करेगी कि वह सत्ता को किन जिम्मेदार भारतीय हाथों में हस्तांतरित करेगी!

यह थी कैबिनेट मिशन की पुरानी योजना की जगह नई माउंटबेटन, योजना जिसे कांग्रेस (गांधी रहित, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी रहित, उग्र राष्ट्रवादी रहित) और मुस्लिम लीग ने मंजूर किया। और इसका विरोध किया समाजवादियों ने, कम्युनिस्ट और उग्र राष्ट्रवादियों ने। क्योंकि उन शर्तों के पीछे उस राजनीति का अपना निहित चरित्र काम कर रहा था—एक को दो में बांटकर दोनों को निर्बल बनाना, सत्ता केवल कुछ व्यक्तियों के हाथ में रहे, सत्ता कभी भी जनता के हाथों में न जाए।

उस राजनीतिक योजना के अनुसार भारत का बंटवारा हो जाने से भारत के लिए यह जरूरी बना दिया गया कि वह 'फूट डालो और राज करो' की घातक साम्राज्यवादी विरासत को दूर करने में लंबे समय तक लड़ता रहे।

भारत स्वतंत्र हुआ, पर उसकी स्वतंत्रता की अनेक सीमाएं थीं। यह एक तरह से अर्धउपनिवेश था और इसका संविधान जनता को औपचारिक जनवादी अधिकार देने के बावजूद, विदेशी साम्राज्यवादी हितों, मुख्यतया अंग्रेजी साम्राज्यवादी हितों से बंधे हुए एक जमींदार पूंजीपति राज्य का विधान था और अब तक है। अब तक पूंजीवादी राजनीतिक विधान है।

आजाद भारत की शासन व्यवस्था, पुरानी साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था में कोई खास अंतर नहीं हुआ। अंग्रेज शासन तंत्र को ज्यों का त्यों अपना लिया गया। वही नौकरशाही, वे ही अदालतें, वही अंग्रेजी भाषा, वही पुलिस और दमन के वही तरीके। वही 'पैनेल कोड' वही 'सी० आर० पी० सी०' वही कलक्टर, वही पुलिस कप्तान, वही शिक्षा पद्धति अब तक १९७८ तक, और मजाक यह कि इसी तंत्र व्यवस्था से 'जनता राज' स्थापित करने की कोशिश (बातें) की जा रही हैं।

भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई कई तरह से असंख्य लोगों ने, विविध साधनों से लड़ी। कांग्रेस समाजवादी, उग्र राष्ट्रवादी, क्रांतिकारी विद्रोही, आतंकवादी साम्यवादी हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, किसान, मजदूर साधु-संत छात्र, सिपाही वकील, व्यापारी, बुद्धिजीवी, स्त्री पुरुष, बालक जवान, वृद्ध सबने लड़ी। आजादी मिली। पर क्या 'स्वराज्य' मिला?

उसी समूल नष्ट वृक्ष के नीचे खड़े होकर गांधी ने प्रश्न किया विशेषकर कांग्रेस से और सामान्यतः पूरे भारत राष्ट्र से कि 'स्वराज्य कहां है?' हां कहां है?

पूजा हो जाने के बाद मूर्ति को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है।

कांग्रेस का प्रवाहित कर दो काल जल मे। जिसने आजादी की लड़ाई लड़ी है, वह राजसिंहासन पर न बैठे, जनता के बीच चल लोक सेवा दल का सेवक होकर। पर उस भाषा को कौन समझे। गांधी अकेले दिल्ली से बहुत दूर बंगाल के भयभीत गांवों म पैदल घूम रहे थे, स्वराज्य कहा है ?

एक कथा है राजर्षि विश्वामित्र और ब्रह्मर्षि वशिष्ट की। अपनी राजसेना के साथ विश्वामित्र जा रहे थ। रास्त म वशिष्ट का आश्रम पडा। वशिष्ट ने आतिथ्य भाव स विश्वामित्र को कहा—महाराज, हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिए। विश्वामित्र न कहा—तुम मेरा आतिथ्य करोगे ? मेरे साथ इतनी बडी सेना है, तुम्हारे पास इतना साधन कहा है ? वशिष्ट न कहा—मेरे पास सिर्फ यही एक गाय है, इसकी कृपा से सारा आतिथ्य हो जाएगा। और सचमुच सारा आतिथ्य पूरा हो गया। विश्वामित्र को अपार आश्चय हुआ। राजर्षि का लोभ पैदा हुआ। बोले, अपनी यह गाय मुझे दे दो। वशिष्ट न कहा—मुझे कोई एतराज नही, अगर यह गाय आपके साथ जा सके तो ले जाइए। गाय विश्वामित्र के साथ जाने को तैयार न हुई। फिर विश्वामित्र ने कहा मैं इसे जबदस्ती बांधकर ले जाऊंगा। इस बात पर राजर्षि और ब्रह्मर्षि में युद्ध की घोषणा हुई। गाय के पेट से एक बहुत बडी सेना निकली और उससे विश्वामित्र की सेना पराजित हुई। इस आश्चयजनक घटना से विश्वामित्र बेहद प्रभावित हुए और उन्होंने प्रन लिया—मैं भी तपस्या करूंगा ताकि मुझे भी ऐसी शक्ति प्राप्त हो। विश्वामित्र तपस्या करने चले गए।

तब वशिष्ट न अपनी उस विजयी सना से कहा—अब इस सेना को यहा स चले जाना है। जहा जिस तत्त्व की आवश्यकता नही है, वहा उस नही रहना है। वरना अनाचार और विनाश होगा। सेना जहा से आई थी, वहीं वापस चली गई।

इस कथा म बहुत बडा जीवन मम छिपा है।

विश्वामित्र राजनीति के प्रतीक है और वशिष्ट लोकनीति के।

राजनीति का चरित्र है कि जहा भी शक्ति हो उस हथिया लिया जाए—मागने स न मिल तो जबदस्ती की जाए।

वशिष्ट लोकनीति राष्ट्रनीति के प्रतीक है। सेवा, श्रद्धा, विनय, क्षम, समता स्वतन्त्रता और रचना ही उसका चरित्रगत मूल्य है।

युद्ध समय की सना शान्ति काल मे काम नही आ सकती। हर शक्ति का अपना स्वधम है। हर धम का अपना विशिष्ट कम है।

भारतीय स्वतन्त्रता के बाद इसी राजनीति और लोकनीति या राष्ट्रनीति का परस्पर सघष हुआ। राजनीति का लक्ष्य था सत्ता, राजशक्ति। लोकनीति या राष्ट्रनीति का लक्ष्य है स्वराज्य ।

स्वराज्य म 'स्व' क्या है ? उस समूल वृक्ष का 'स्व' क्या है ? जिस

समय 'स्वराज्य' का यह पौधा धरती के भीतर छिपे उस बीज से फूटा था, उसी समय इसका अभियान शुरू हुआ।

विवेकानंद, राजा राममोहन राय, तिलक, गोखले, अरविन्द, भगवानदास और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों ने स्वराज्य का स्वरूप हमारे सामने रखा। इनमें से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है भगवानदास का स्वराज्य चिंतन और उसकी अवधारणा जो १९२२ में आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के कलकत्ता अधिवेशन में पहली बार प्रस्तुत हुई और आगे १९२४-२५ में गांधी ने उसे सहर्ष स्वीकार और अंगीकार किया।

'स्वराज्य' में जो 'स्व' है—यह उसी भारतीय 'बीज' का ही फल है। स्वराज्य मात्र बाहर का राज्य नहीं, अपने भीतर अंतर का राज्य, राष्ट्र चिति का राज। किसी देश पर अधिकार, सेना, पुलिस और प्रशासन पर अपना अधिकार—यह केवल 'राज्य' है, स्वराज्य नहीं। अपने ऊपर अपना राज्य, *आत्मानुशासन—यह है स्वराज्य का मूल। पर एक का राज्य दूसरे पर, अर्थात* स्व पर राज्य न कर दूसरे पर राज्य करना, दूसरे को अपने अधिकार में, अनुशासन में, दबाव में रखना यह है राजतंत्र स्वतंत्र नहीं।

स्वतंत्र से स्वराज्य जुड़ा है। अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपनी परंपरा, *अर्थात अपने राष्ट्रीय 'स्व' से चिति से ही स्वतंत्रता और स्वराज्य फल है।*

पर व्यावहारिक रूप से 'स्व' खुद 'स्व' पर शासन नहीं करता। बुद्धि का शासन शरीर पर है। शरीर का भी शासन बुद्धि पर है। शक्तिशाली अपने से निर्बल पर शासन करता है। ऊंची वृत्तियां निम्न वृत्तियों पर शासन करती हैं, *पर अक्सर निम्न वृत्तियां ऊंची वृत्तियों पर राज करने लगी हैं। जो जिस समय कमजोर पड़ गया वह अपने दूसरे पक्ष के अधिकार में आ गया। वही दो पक्ष व्यक्ति में समाज में देश में, राष्ट्र में।*

उस समय गंभीरता से सोचने वाले अन्य व्यक्तियों ने जिसमें सी० आर० दास, टैगोर, अरविंद मुख्य हैं, राजनीतिक स्वराज्य से आध्यात्मिक स्वराज्य के बुनियादी अंतर और महत्त्व को बताया। इसी आध्यात्मिक स्वराज्य की कामना की स्वतंत्र भारत में विनोबा, जे० पी०, लोहिया और दीनदयाल उपाध्याय ने।

*जिसे 'स्वराज्य' की कल्पना अवधारणा और अनुभूति नहीं उसकी राज-*नीति केवल सत्तानीति शक्तिनीति, हिंसानीति होगी जो 'स्वराज्य' भाव से राजनीति में आएगा, राजनीति उसके लिए लोकनीति प्रजानीति राष्ट्रप्रेम, मानवप्रेम और अंतत आत्मनिर्वाण या मुक्तिफलदायी होगी।

पर इस स्वराज्य पर हम लोग १९२० से लेकर १९४७ तक हंसते-मजाक उड़ाते रहे। इसके बाद राजनीति हंसती रही स्वतंत्रता पर, राज्य मजाक कर रहा है स्वराज्य पर।

सातवा अध्याय

राजनीति और सत्याग्रह
आजादी और स्वराज्य

राष्ट्रीय राजनीतिक संग्राम से हम आजादी मिली, आजादी माने अर्थात 'इंडिपेंडेंस'। इस आजादी का अर्थ है कि हम सब प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त हैं, निरकुश और स्वच्छंद हैं। यही आजादी राजनीति का फल है। पर सत्याग्रह का फल स्वराज्य है। गांधी के शब्दों में 'स्वराज्य एक पवित्र शब्द है। यह एक वैदिक शब्द है जिसका अर्थ आत्मशासन और आत्मसंयम है।' गांधी का सत्याग्रह एक राष्ट्रीय क्रांतिशास्त्र है। यह भारतीय संस्कृति का जीवन बीज है। इसी का फल है 'स्वराज्य'।

गांधी के सत्याग्रह या क्रांतिशास्त्र को स्वीकार करने से पूर्व लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, रानाडे जैसे राष्ट्रीय नेतागण सशस्त्र क्रांति को समय के अनुकूल न पाकर निःशस्त्र क्रांति का उपदेश देते थे। लेकिन इस क्रांति प्रसंग में गांधी का विश्वास था कि भले ही सशस्त्र क्रांति का मार्ग हमारे लिए संभव हो जाए लेकिन अभीष्ट फल (स्वराज्य) मिलने की दृष्टि से वह मार्ग ठीक नहीं है। इसी तरह पहले के बहिष्कार योग का असहयोग में रूपांतर करके उन्होंने उसे अहिंसा तत्व को आध्यात्मिक अर्थ और आयाम देकर एक अभिनव क्रांतिशास्त्र का परिणामकारी रूप दे दिया।

दरअसल यह मार्ग सांस्कृतिक क्रांति का था जिसका श्रीगणेश राजा राममोहन राय ने किया और उसका विकास गांधी ने करना चाहा। आधुनिक भारत के द्रष्टा राजा राममोहन राय वह पहले निर्भीक, आत्मविश्वासी पुरुष थे जिन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि भारतीय संस्कृति का जो वर्तमान स्वरूप हमारे सामने है वह आधुनिक ब्रिटिश संस्कृति के सामने बहुत ही पिछड़ी हुई दशा में है। और जब तक भारतीय संस्कृति आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के बराबर प्रगति नहीं कर लेगी तब तक हमारा राष्ट्र अन्य राष्ट्रों की बराबरी में आजादी भोगने लायक नहीं बन सकेगा। इसी लक्ष्य की पूर्ति में उन्होंने अपनी संपूर्ण आस्था से सांस्कृतिक विकास का काम किया। उन्होंने सामाजिक, धार्मिक सुधारों पर ज्यादा जोर दिया, राजनीतिक और औद्योगिक विकास पर कम। उन्होंने यह

भी स्पष्ट किया कि अंग्रेजी राज की छत्रछाया में अपनी संस्कृति का विकास असंभव है। 'अंग्रेजी संस्कृति व्यक्तिवादी है उसका चरित्र ही है दूसरे का आर्थिक शोषण।'

यह एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय तथ्य है कि सबसे पहले अंग्रेज राजनीति के मुकाबिले में उत्तर भारत में सांस्कृतिक जागरण हुआ। पर बहुत जल्द उस सर्वांगीण सुधार और सांस्कृतिक जनजागरण में भारतीय राजनीति का जन्म लगभग १८७५ में दादाभाई नौरोजी तथा जस्टिस रानाडे जैसे लोगों के प्रयत्नों से हुआ। इस तरह इस राजनीतिक संघर्ववाद से भारत का ध्यान नए मनुष्य के निर्माण, उसकी नवचेतना की सृष्टि से हटकर राष्ट्रवाद की ओर झुकने लगा। उस समय के राजनेताओं को लगा कि जर्मनी, अमरीका या जापान जैसे औद्योगिक प्रगति में पिछड़े हुए परंतु राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र राष्ट्रों का राष्ट्रीय अर्थशास्त्र और उनकी राजनीति हमारे काम की नहीं। इसमें हमारे राष्ट्र निर्माताओं की दृष्टि आजाद देशों की राजनीति और अर्थनीति से हटकर आयरलैंड और इटली जैसे गुलामी से आजाद होने वाले देशों की विचारधाराओं की ओर खिंचने लगी। इसी दृष्टिकोण के कारण आगे चलकर उस राजनीति के दो फल आधुनिक भारत में हमारे सामने आए

(१) उग्र राष्ट्रीय राजनीति तथा (२) सशस्त्र क्रांतिकारी राजनीति।

उग्र राष्ट्रीय राजनीति से 'बहिष्कार' की धारा फूटी और तिलक इसके नेता हुए। उनका विश्वास था कि ज्यों ही भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की भावना फैलेगी और अंग्रेजों की भारतीय सेना में यह भाव फैलेगा, भारत में अंग्रेजी राज टूट जाएगा। लोकमान्य तिलक, विपिनचंद्र पाल, लाला लाजपतराय श्री अरविंद इसी राष्ट्रीय नीति के प्रतिपालक थे।

१८९५ से १९०५ तक के काल में क्रांतिकारी राजनीति इस देश में चली। उस समय के क्रांतिकारियों को लगता था देशी नरेशों में से एकाध की सहायता से अथवा अफगानिस्तान या नेपाल जैसे छोटे राज्य की मदद से भारत अंग्रेजी साम्राज्य से आजाद हो जाएगा, जिस तरह इटली आस्ट्रिया की गुलामी से मुक्त हुआ। लेकिन बहुत ही शीघ्र यह ख्याल बेबुनियाद साबित हुआ। यहां तक पहुंचकर लोकमान्य तिलक जैसे नेताओं को विश्वास हो गया कि भारत में जो क्रांति होगी उसका स्वरूप प्रजातंत्रीय होगा और बढ़ते हुए नए मध्यवर्ग के भीतर से पैदा होगा और किसानों की संयुक्त ताकत से ही वह क्रांति होगी।

१९२० में गांधी ने जब बहिष्कार के स्थान पर 'असहयोग' तथा राष्ट्रीय राजनीति में 'अहिंसा' और सत्याग्रह के तत्त्वों को मिलाया तो राष्ट्रीय राजनीति में एक बुनियादी फर्क आया। यह फर्क गुणात्मक था और इससे राष्ट्रीय राजनीति उसी सांस्कृतिक नवजागरण में जुड़ गई जिसके मसीहा राजा राममोहन राय थे।

इस तरह गाधी के व्यक्तित्व स भारतीय राजनीति राजनीति न रहकर सत्याग्रह' हो गई। यह सत्याग्रह' 'अहिंसा' के योग स एक ऐसा सास्कृतिक नव-जागरण बना जिसमे देश की आजादी स ज्यादा महत्त्वपूण वह नया इसान हो गया जो बुनियादी तौर पर नैतिक है, सामाजिक और मानवीय नव चेतना का वाहक प्राणी है। इसी राजनीतिक परपरा मे आगे जयप्रकाश, डा० लोहिया और दीनदयाल उपाध्याय आए।

गाधी का सत्याग्रही क्रातिशास्त्र प्रेम का नया शास्त्र था जिसमे वेदात की, विनान की दृष्टि थी और बुद्ध, महावीर, ईसा हजरत मुहम्मद तथा वैष्णव प्रेम और नवमानववाद था। गाधी म 'राष्ट्रवाद मानववाद मे बदल गया। असहयोग अवना म परिणत हो गया और अवना सविनय हो गई और अतत आजादी का अथ और प्रसग स्वतत्रता नही, स्वराज्य हो गया। इसमे अब हिंदू मुसलमान सिख ईसाई छूत अछूत, देहाती शहरी स्त्री पुरुष, वृद्ध बालक, पढा लिखा और निरक्षर—सपूण भारत का प्रत्येक नागरिक पूण रूप स गाधी से जुड गया। हजारो वर्षों की पथकता पहली बार टूटकर भारतीय सगमनी सस्कृति मे नहाकर एक्यभाव म जुड गई।

गाधी का सत्याग्रही सास्कृतिक क्रातिशास्त्र अहिंसा के याग से धमनिष्ठ हो गया और एक अलौकिक तज प्रकाश भारत भूमि पर फूटा। इसक प्रभाव मे ब्रिटिश शासका न जा सहूलियतें तिलक और अरविंद को कभी नही दी, उन्ह गाधी को दने के लिए भीतर म बाध्य होना पडा। अरविंद और तिलक यद्यपि अपने सिद्धातो से नि शस्त्र क्रातिवादी थे परतु ब्रिटिश शासको को लगता था कि व वस्तुत अहिंसा नही मानत। इसीलिए चेम्सफोड रीडिंग इविन और लिनलिथगो के जमाने मे (राष्ट्रीय आदोलन के प्रारभिक दौर मे) गाधी को जो रियायतें मिली वे तिलक अरविंद को कभी नही मिली।

गाधी दश की आजादी की लडाई के भीतर स दरअसल स्वराज्य, लोक-राज्य, आत्मराज्य रामराज्य की साधना मे लगे थे। अकेन नही पूरे भारत-वष को अपने साथ लिए हुए। उनका स्वराज्य आत्मराज्य है, जिसमे किसी को भी बाह्य कृत्रिम बधन नही पालन होंगे और जहा दडधारी राज्य सस्था की कोई आवश्यकता न होगी। यह आत्मराज्य लोकसत्ता और समाजसत्ता स भी परे है और उसकी प्राप्ति सत्याग्रही व्यक्ति स्वातन्त्र्य के जरिए ही हो सकेगी।

धार्मिक सामाजिक सुधारको की तरह उनकी वृत्ति अतर्मुखी थी। विवेकानद, राजा राममोहन राय और टैगोर की तरह गाधी अपनी गुलामी का कारण दूसरे की बनिस्वत स्वय को मानते थ। आत्मोन्नति और आत्मशुद्धि को ही वह स्वराज्य प्राप्ति का माग मानत थे। उनका विश्वास था कि आधुनिक यूरोपीय सभ्यता को स्वीकार करन स हमारी उन्नति नही अवनति होगी। वह मानते थे कि देश और समाज के राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवहारो-कर्मों

पर म धम का नियत्रण हट जाने से किसी भी सभ्यता का नाश अनिवाय है।

गाधी की इस सपूण दृष्टि को समझना और उसे धारण करना सरल काय नही था। इसलिए हमारी राष्ट्रीय चिति का वह वक्ष जिसका दशन हमने प्राचीन और मध्यकालीन भारत मे धम के क्षेत्र मे किया, वही अब आधुनिक भारत म राजनीति के क्षेत्र मे गाधी के रूप मे हमे देखने को मिलता है।

भारतीय मनीषा का सकल्प है प्रेम। प्रेम के इस विकल्प से वतमान भारतीय राजनीति म इनका प्रादुर्भाव उल्लेखनीय है १ काग्रेस (जवाहर लाल नेहरू), २ समाजवादी (जयप्रकाश, डा० लोहिया), ३ साम्यवादी (नम्बूद्रिपाद), ४ राष्ट्रवादी (दीनदयाल उपाध्याय) और ५ सत्तावादी (इन्दिरा गाधी)। इस यथाथ को मूल्यगत और चरित्रगत अथ मे और अधिक गहराई स देखा जा सकता है।

सकल्प केवल प्रेम है, रचना है। पर विकल्प कही महत्वाकाक्षा है कही क्रोध, कही विद्रोह है कही युद्ध कही भावुकता है कही अहकार, और कही भय है। आधुनिक भारतीय काग्रेस, समाजवाद, साम्यवाद राष्ट्रवाद आदि का जन्म परतत्र भारतवष की अवस्था म हुआ। इनमे स किसी का भी ध्येय राष्ट्र का वभव बढाने के लिए साम्राज्य विस्तार नही था, बल्कि आरभ से आज तक किसी न किसी गुलामी दासता, परतत्रता से आजाद होना सबका लक्ष्य रहा है। इस प्रक्रिया मे कही वेदात का पुनरुज्जीवन वष्णव सत सस्कृति का नवजागरण, कही गाधी के साथ माक्स अथात सत्याग्रह के साथ वग सघष, कही गाधी स पूणत विपरीत कवल वग सघष, कही भारत मे फिर से हिंदू नवराष्ट्रवाद यहा विकसित हुआ।

हीगल का विचार है कि राज्याज्ञा ही अपनी अतरात्मा की आज्ञा है और राज्यसत्ता स दी गई सजा के मान है अपनी आतरिक प्रेरणा या यायबुद्धि का उल्लघन करन स प्राप्त दुख। इसके विपरीत आधुनिक भारत के वेदात स यह विचार पैदा हुआ कि अपनी अतरात्मा के आदेश का पालन करने के लिए राजसत्ता के अयायी बधनो को तोडना हमारा आध्यात्मिक कतव्य है—गाधी लोहिया, जयप्रकाश नम्बूद्रिपाद, दीनदयाल इसी आस्था के विभिन्न पुरुष स्वर हैं।

पर इन स्वरो का जो आदि स्वर है, जहा स ये सारे स्वर पैदा हुए हैं जुडे हैं टूट है फिर जुडे हैं—महात्मा गाधी जिसका नाम है, सत्याग्रही जिसका चरित्र है, उसका विचार था कि अगर नरेशो और पूजीपतियो के राजदरबारी षडयत्रो से या उनके मातहत राजनीतिज्ञो द्वारा आधुनिक भारत का निमाण हुआ तो यहा लोकतत्र स्थापित होने के बदले सामतशाही का शासन जम जाएगा। गाधी के हिसाब म भारतीय लोकशाही का जन्म आम जनता को हथियार देकर नही, बल्कि उसका आत्मबल सगठित करने स और उससे निर्मित

होने वाले सवव्यापी असहयोग युद्ध से या शातिमय कानून भग से होगा। गाधी ने दृढ निकाला था कि भारतीय जनता म आत्मबल के सगठन स जो लोकतत्र बनगा वह बाहरी हमलो के अलावा भीतरी तानाशाही व साम्राज्यवादी प्रवत्ति स सफलतापूवक अपनी रक्षा कर सकेगा।

परतु भारतीय जन मानस म आत्मबल पैदा करने और सगठित करने की जगह अपने अपने राजनीतिक दल का सगठित करना और वह भी दूसरे दल के खिलाफ लटन के लिए सगठित करना यही राजनीति का मुख्य कम हो गया। यही नही राजनीति की मुख्य प्रवृत्ति स्वाथलाभ करना हो गई। इस राजनीतिक पतन के उदाहरण १९३७ के चुनाव स लेकर १९४२ के आदोलन और फिर स्वातत्र्योत्तर भारत तक लगातार हमे मिलने लगे।

राजनीति का अथ हुआ बारहा महीने चुनाव लडने की चिता! जिस काग्रेस का अथ था त्याग और तपस्या, उसी काग्रेस की स्थिति यह हो गई कि खादी पहनकर और चार आने का सदस्यता शुल्क देकर कोई गुडा और असामाजिक व्यक्ति भी उसका अग हो सकता है। वही कोई नियम या मर्यादा नही रही। १९३७ स लेकर आज तक किसी रिश्वतखोर अफसर के तबादले की सिफारिश भी काग्रेसजन करन लगे। चारबाजारी को रोकने की जगह स्वय चोरबाजारी का अग हो जाना यही नियति हो गई।

सन १९४२ क बाद राजनीतिक सत्ता एक ओर पूजीवादी समाज के हाथो मे जान लगी, दूसरी ओर इसे कुछ विशिष्ट लाग अपने व्यक्तिगत स्वाथ और महात्वाकाक्षा की पूर्ति का साधन मानने लग। पुराने जमीदारो और सामतो के स्थान पर नय प्रकार क राजनीतिक सामतवादी पूजीवादी लोग तैयार होने लग। इसका कारण यह था कि १९४७ तक जो लोग काग्रेस मे आए, वे उसे देश की आजादी के लिए चलने वाला एक आदोलन मानत थे। इसीलिए गाधी जी ने कहा था सत्याग्रही सत्ताधारी नही हा सकता। उनकी सलाह थी कि अग्रेजी राज खत्म होने के साथ ही आदोलन का लक्ष्य पूरा हो गया है और अब काग्रेस को भग कर देना चाहिए। सुनिश्चित सिद्धाता व नीतियो के आधार पर नय राजनीतिक दलो की तत्र स्थापना होनी चाहिए थी। किंतु ऐसा नही किया गया—आधुनिक भारतीय राजनीति की यह सबसे भयकर घटना है।

दरअसल होता यह है कि जो भी राजनीतिक दल अपने सघर्षो और आदोलना से कोई भी क्रातिकारी काय पूरा करता है उस दल म इस सघष की प्रक्रिया मे स्वभावत दो नई शक्तिया दल पर अपना प्रभुत्व जमा लेती हैं—दल के निहित स्वार्थी लोग, जिसे हाईकमान' कहा जाता है, और समाज का एक विशेष वग जिसमे बुद्धिजीवी, पूजीपति, अफसर आदि की परस्पर मिलीभगत रहती है। फ्रास और रूस की क्रातियो का उदाहरण सामने है। इस रहस्य को पूरे विश्व मे केवल दो महापुरुष जानते थे—महात्मा गाधी और माओ। गाधी की बात ही

नहीं मारी गई, उन्ह गोली मारकर उत्तरक्रांति के दृश्य से ही हटा दिया गया। वह महत्त्वपूर्ण काय केवल माओ कर सके। चीन की 'सांस्कृतिक क्रांति' का मुख्य ध्येय यह था कि राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था मे जो एक विशेष वग पैदा हुआ है, उसे समाप्त कर दो। यह काय चीन के अलावा और कहीं नहीं हुआ।

भारतवष की राजनीति म इसका क्या फल हुआ ?

एक ओर सत्ताधारी कांग्रेस दूसरी ओर उसी मे से टूटकर अलग निकला समाजवादी दल। तीसरी ओर लोकतन्त्र मे अविश्वास रखन वाला साम्यवादी दल। इनके अलावा धम और जाति क आधार पर विकसित अकाली दल, रामराज्य परिषद हिंदू महासभा, द्रविड मुनेत्र कषगम स्वतन्त्र पार्टी, भारतीय क्रांति दल विशाल हरियाणा पार्टी, तेलगाना प्रजा समिति आदि क्षेत्रीय पार्टियां राजनीतिक क्षेत्र मे कायरत हुए। जबकि १९४७ के बाद का समय वह समय था जब हजार वर्षों की दासता से मुक्ति पाकर भारत की राष्ट्रीय आत्मा अपनी लोकतन्त्रीय प्रकृति के अनुरूप राजनीतिक क्षेत्र मे प्रकट होना चाहती थी। अतत स्वतन्त्र भारत की तरुणाई एक नवीन चेतना के साथ क्रमश इन तीन धाराओं मे प्रवाहित हुई (१) समाजवादी, (२) साम्यवादी और (३) जनसघ (आर० एस० एस०)।

समाजवादी सामा यत उत्तर भारत के कांग्रेसी और मुख्यत शहरी मध्यवग के व्यक्ति थे—जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया अशोक मेहता, आचाय नरेन्द्रदेव, अच्युत पटवधन एम० आर० मसानी, कमलादेवी चट्टोपाध्याय पुरुषोत्तम विक्रमदास, यूसुफ मेहरअली, गगाशरण सिंह आदि—सैद्धांतिक रूप मे ये समाजवाद की तीन मिश्रित प्रवत्तियों मे विभाजित थ (१) मार्क्सवादी (२) अंग्रेजी मजदूर दल सरीखे सामाजिक लोकतन्त्रवादी तथा (३) लोकतन्त्रात्मक समाजवादी।

जिन पर गांधी जी के विकेन्द्रीकरण सिद्धात तथा सविनय अवज्ञा के राष्ट्रवादी आंदोलन एव वग सघष का प्रभाव था, इस प्रवत्ति के मुख्य प्रवतक थे जयप्रकाश नारायण और आचाय नरेन्द्रदेव। दूसरी प्रवत्ति क प्रवतक थे एम० आर० मसानी और अशोक मेहता। तीसरी प्रवत्ति के नेता थे राममनोहर लोहिया और अच्युत पटवधन। समाजवादी धारा को महत्त्वपूर्ण अथ दिया डा० लोहिया न 'वह अथ है अनासक्ति का, मिलकियत और ऐसी चीजों के प्रति लगाव खत्म करने या कम करने का, मोह घटाने का।'[1] इस अथ म वास्तविक रूप से भारतीय सांस्कृतिक क्रांति के बहुव्यापी आयाम थे। साथ ही इसम वह आर्थिक,

१ समाजवादी आंदोलन का इतिहास डा० राममनोहर लोहिया रा० लो० समता विद्यालय न्यास प्रकाशन पृष्ठ एक।

सामाजिक, राजनीतिक नवदृष्टि भी थी जिसके आधार पर १९४७ के बाद स्वतन्त्र भारत की नई रचना की जा सकती थी।

आजादी मिलने पर भारत के तत्कालीन शासकों ने जब कांग्रेस को सत्ता का हस्तांतरण किया तभी से भारतीय साम्यवादी दल (उस समय अविभाजित एक दल) के सामने यह समस्या रही कि सत्ता के हस्तांतरण के निहितार्थ का किस प्रकार सही रूप से मूल्यांकन किया जाए। इस समस्या के बारे में दल के भीतर परस्पर विरोधी विचार प्रस्तुत किए गए और इसके फलस्वरूप दल के भीतर ही एक तीव्र विचारधारात्मक राजनीतिक और संगठनात्मक संकट उठ खड़ा हुआ। आगे दो परस्पर विरोधी विचारधाराएं दो विशिष्ट प्रवृत्तियों के रूप में स्पष्ट हुई। पहली प्रवृत्ति के अनुसार कांग्रेस और इसकी सरकार की नीतियों को तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा दी गई वामपंथी दिशा एक महत्त्वपूर्ण घटना समझी गई। इसके समर्थकों ने यह समझा कि सत्तारूढ़ क्षेत्रों की नीतियों में इस वामपंथी परिवर्तन से अब कांग्रेस प्रतिक्रियावादी नहीं रही। इस पुनर्मूल्यांकन के कारण उन्होंने 'राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे' का नारा बुलंद किया जिसमें एक ओर कांग्रेस को और दूसरी ओर साम्यवादी दल को शामिल किया गया और इसके परिणामस्वरूप 'एक मिली जुली सरकार' बनाने का संकल्प किया गया।

इस प्रवृत्ति का दल के अन्य नेताओं ने कड़ा विरोध किया जिसमें प्रमुख थे रणदिवे, ज्योति बसु और नंबूदरी पाद। उन्होंने 'कांग्रेस और इसकी सरकार के प्रति बुनियादी विरोध' का नारा बुलंद किया। यद्यपि वे कांग्रेस सरकार द्वारा उठाए गए उन कदमों का सतत समर्थन प्रदान करते रहे जो वास्तव में साम्राज्यवाद, सामंतवाद, एकाधिकारवादी पूंजी और अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध थे। तत्कालीन अविभाजित साम्यवादी दल में दल के भीतर का संघर्ष और भी अधिक गंभीर और कटु होता गया, क्योंकि वह अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलन में तेजी से बढ़ते हुए वाद विवाद की परिस्थितियों में हो रहा था।

इसके अलावा सोवियत के साम्यवादी दल की बीसवीं कांग्रेस के बाद सोवियत संघ और चीन के साम्यवादी दलों के बीच उत्पन्न विभेदों के कारण भारतीय साम्यवादी दल के भीतर सत्तारूढ़ दल की विचारधारा के समर्थकों में अधिक शक्ति और आत्मविश्वास का भाव बढ़ा। राष्ट्रीय नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय विरोध और विवाद की इस पूर्वपीठिका में ही १९६४ में भारतीय साम्यवादी दल में पहला विघटन हुआ। दूसरा विघटन नक्सलवाद को लेकर हुआ। आदि में सी० पी० आई० फिलहाल अब में सी०पी० आई०एम०एल०, बीच में सी०पी०आई० एम०। यह महत्त्वपूर्ण है कि ये तीनों दल इस बात के लिए बताए हैं कि वे जल्दी से जल्दी किसी भी उपाय से सत्ता हथिया लें।

इस बीच भारतीय जनसंघ नाम से हिंदू चरित्र और हिंदू विश्वास का वह राजनीतिक दल विकसित हुआ जिसने यह बहुत गहराई से अनुभव किया कि हमें ऐसी व्यवस्था चाहिए जो लोकतांत्रिक हो पर साथ ही राष्ट्रीय हितों में कभी कोई समझौता न करे। भारतीय जनसंघ के भावी संस्थापक—अध्यक्ष डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने स्वतंत्र भारत की प्रथम केंद्रीय सरकार में एक मंत्री बनकर यह अनुभव किया कि सत्तारूढ़ होने के बाद कांग्रेस एक लक्ष्यहीन संस्था के नाते एकाधिकार की मनोवृत्ति से अभिभूत होती जा रही है। समाजवादियों और साम्यवादियों से बिल्कुल अलग और स्वतंत्र दिशा में एक सर्वथा नए राजनीतिक चरित्र के साथ जनतंत्र में सत्तारूढ़ दल के विकल्प की आवश्यकता वह बड़ी तीव्रता से अनुभव कर रहे थे। कश्मीर के प्रति तथा पूर्वी बंगाल की बिगड़ती स्थिति के प्रति नेहरू की नीति से उनका गहरा मतभेद चल रहा था। इतने में ही ८ अप्रैल, १९५० को नेहरू—लियाकत समझौते के अनुसार यह मान लिया गया कि पाकिस्तान स्थित अल्पसंख्यकों के प्रति भारत सरकार का कोई दावा न होगा। इस पर उसी दिन डा० मुखर्जी ने सरकार से अपना त्यागपत्र दे दिया। १९ अप्रैल, १९५० को उन्होंने संसद में कहा, 'पूर्वी बंगाल के हिंदुओं को मैंने तथा अनेकों ने यह आश्वासन दिया था कि भावी पाकिस्तानी शासन में यदि उन पर आपत्तियां आई तो स्वतंत्र भारत एक खामोश दर्शक मात्र नहीं रहेगा।' २१ अक्टूबर, १९५१ को दिल्ली में राघोमल आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक पाठशाला में अखिल भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई। इसके प्रथम अध्यक्ष थे डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी।

भारतीय स्वतन्त्रता के चार ठोस रूप विकृत हुए जिससे आजादी तो मिली, पर स्वराज्य अभी नहीं प्राप्त हुआ। स्वराज्य प्राप्त होता है सांस्कृतिक क्रांति से। आजादी के चार ठोस रूप जो विकृत हुए जिससे स्वराज्य प्राप्ति में बाधा हुई वे हैं (१) देश का बंटवारा। (२) भारत अंग्रेजी साम्राज्य का अंग। (३) राजाओं जमींदारों की ताकत का किसी भी रूप में बने रहना। (४) नौकरशाही तथा सेठों की ताकत का राजकीय और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर बढ़ते रहना। इस राजनीतिक विकार का प्रभाव सीधे हमारे राजनीतिक चरित्र पर पड़ा। खास कर राजनीतिक दलों के चरित्र पर जैसे राजनीतिक दलों का एक ही काम है—चुनाव लड़ना और किसी भी तरह जीतने की कोशिश करना, और फिर किसी तरह सत्ता से चिपके रहना। राजनीतिक दल जैसे सत्ता हथियाने की मशीन हों। चुनाव के समय दल जीवित हो जाते हैं चुनाव खत्म होते ही सब अदृश्य। जैसे लुटेरे हों डाकू हों, लूट के बाद राजधानियों के जंगल में जा छिपना। राजधानियों में अंग्रेजों ने, फिर कांग्रेस हुकूमत ने एम० पी० और एम० एल० ए० लोगों के जो निवासस्थान बनाए लगता है वे ऐसे कटामठ हैं, जहां कोई एक बार आकर सदा के लिए जनता से और अपने कार्यकर्ताओं से

बट जाता है। मन्त्रियो के इतने विशाल बल्कि डरावने बगलो मे पैर रखने की हिम्मत भारत की किसी जनता म हो सकती है ?

वतमान राजसत्ता पहले लेती है, फिर देती है, पर तब तक हम उस दाम के इस्तेमाल और भोग के लायक ही नही रह जाते । इस बुराई का मूल कारण यह रहा है कि भारत की राजनीति अभी तक केवल ऊची जातियो और धनिक वग के नेतत्व म सीमित रही है। ऊची जातिया मे जैसे परस्पर सघष या उलट-पलट हुआ करती है (पहले जैसे राजाओ म परस्पर युद्ध होते रहे हैं) वही सघष और उलट पलट काग्रेस समाजवादी, साम्यवादी, स्वतत्र और जनसघ आदि म प्रकट है। डा० लोहिया के प्रयत्नो से यह एक नया पहलू सामने आया कि सचमुच अगर राजनीति के स्वरूप को बदलना है तो छोटी जाति और पिछडे लोगो के अदर नेतत्व जगाना है तभी भारत की राजनीति एक नया स्वरूप लेगी।

आजादी के बाद की राजनीति मूलत निजी (इडिविजुअल) सत्ता हासिल करने की राजनीति रही है और यह चूकि सचालित होती रही है एक ऐसे विधान मे जो बुनियादी तौर पर पूजीवादी है और सस्कारो से जो सामती है इस लिए प्राय सभी राजनीति दलो के नेतत्व मे और उसके कायकर्ताओ मे धीरज का अभाव है। तभी इनमे कोई विचारधारा सच्चे अर्थों म जम नही पाती। चुनाव मे एक पराजय हुई नही कि सदा के लिए मन विचलित। और जो एक बार चुनाव लडा, हारा या विजयी हुआ, वह सदा के लिए किसी और काम के लायक ही नही रह गया। फिर उसका जीवन परजीवी (परासाइट) हो जाता है। इस परजीवी राजनीति से एक शोषक अथ व्यवस्था का ज म होता है। इसी प्रक्रिया से व्यक्ति और समाज म हिंसा, अकमण्यता, झूठ, आडबर और परस्पर शोषण की नई सस्कृति पैदा होती है। इसी को डा० लोहिया न 'वेश्या' की सज्ञा दी थी। और कहा था, 'नई दिल्ली ऐशिया की सबसे बडी वेश्या है।"

एक ओर विराट धीरज रहे स्वप्न म, दूसरी ओर सतत क्रियाशीलता तथा तीसरी ओर कोई महत सामाजिक, राष्ट्रीय और वैयक्तिक आदर्श हो, मूल्य हो, तभी साथक राजनीति होगी। स्वातत्र्योत्तर राजनीति का भयकर विरोधाभास यह रहा है कि प्राय सभी राजनीतिक दल क्राति की, परिवतन की, बात करते हैं और सब अपने वतमान से नही अपने अतीत से प्रेरणा लेते है।—दल का अतीत अतीत का नेतत्व, अतीत के झगडे और वर विरोध सास लेते है। वे जुडते है विभक्त होते है, फिर जुडते हैं, फिर टूटते हैं फिर सकल्प लेकर एक होते है, पर कोई अपना अतीत नही भूलता।

इस विरोधाभास का दूसरा पहलू यह है कि जिस समाज के लिए जिन सामान्य लोगो के लिए ये लोग क्राति या परिवतन चाहते है, उनमे खुद क्राति की, परिवतन की कोई इच्छा नहीं, उमग या चेतना नही है, उनमे इतनी

शक्ति नही है, जागरण नही है, योग्यता नही है। इसलिए इस राजनीति की राजनीति ही यह है कि जिनमे शक्ति है, योग्यता है वहा केवल शांति की बातें है और जहा शांति की अनिवार्यता है वहा शांति की चाह नही है। वहा सब कुछ उदास निराश है परस्पर फूट है, बिखराव है, उसका विश्वास केवल अदृश्य मे है, वह और भी अतीत मे अकेला हुआ है। इसी हिंदुस्तान को पहली बार गाधी ने जगाया और सगठित करना चाहा था।

साथक भारतीय राजनीति को इस सच्चाई को स्वीकार करना होगा कि हमारे समाज ने सदियो से अपनी सामाजिक विचार दृष्टि मे बुद्धिपूवक परिवतन लाना छोड दिया है। इस भारतीय समाज की बाह्य परिस्थिति मे चाहे जितने परिवतन हो जाए, लेकिन समझ बूझकर वह अपनी सामाजिक दृष्टि मे परिवतन नही करता। यह उसकी बुनियादी जडता है। इसे तोडने के लिए राजनीतिक नही कमयोगी लोकसेवक चाहिए। जिस समय देश को महान समथ पुरुषार्थी नेताओ की आवश्यकता होती है उस समय यदि वे पदा नही होते तो यही कहना पडता है कि उस देश के अध पतन का समय आ गया है या उसकी सस्कृति का विनाश नजदीक है।

सस्कृति वृक्ष मे जब रोग लग जाता है तब महान पुरुषार्थी पुरुषरूपी फल उसमे नही लगते।

हमारी वतमान सस्कृति के वृक्ष मे जो फल लगे है, उन पर अगले अध्यायो मे हम विचार करेंगे।

आठवां अध्याय

राजनीति नहीं प्रेम : महात्मा गांधी

संपूर्ण को खंड खंड में बांटकर देखना, अर्थात हर चीज को एक दूसरे से अलग कर देखना, यही थी पश्चिमी दृष्टि जो अंग्रेजों के माध्यम से इस देश में आई। बांटो और राज्य करो, तोड़ो और गुलाम बनाओ, यही थी वह राजनीति जो उस दृष्टि से निकली। पर बंटने और टूटने के सारे तत्व तब तक स्वयं हमारी संस्कृति में भी उत्पन्न हो चुके थे।

हमारा सांस्कृतिक घर तब तक जैसे बालू से बनी इमारत हो चुकी थी, बस एक धक्का देने की जरूरत थी ताकि सब कुछ टूट जाए, बंट जाए और बालू के कणों की तरह सब कुछ बिखर जाए। यही काम अंग्रेजों ने किया, और अंग्रेज अपने इस कार्य पर स्वयं आश्चर्यचकित रह गए।

हम कल्पना कर सकते हैं कि यदि ईस्ट इंडिया कंपनी के अंग्रेज व्यापारी और साम्राज्यवादी सत्रहवीं अठारहवीं सदी में यहां आए ही न होते तो क्या होता? संभव था कि गिरते हुए मुगल साम्राज्य को मिटाकर दिल्ली में मराठाशाही अथवा हिंदू पादशाही स्थापित होती, पर यह कल्पना सर्वथा निराधार है। क्योंकि तब तक भारत स्वयं अपने भीतर और बाहर इतने छोटे छोटे हिस्सों में बंटकर, टूटकर इस कदर आत्मसुरक्षा के भय में सामान्य हो चुका था कि उसमें वह तत्व ही अदृश्य था जिसके सहारे लोगों को उनके बंद घरों से बाहर लाकर एक सूत्र में संगठित किया जा सकता और उन्हें निर्भय किया जा सकता।

जैसे मधुमक्खी का छत्ता होता है, तमाम छोटे छोटे सूराखों, घरों का विस्तार, उसी तरह उस समय का भारतवर्ष था, जिसमें तमाम राजे महराजे, क्षेत्र, धर्म और जातियां अपने अपने तंग सूराखों में अलग अलग रह रही थीं। उस छत्ते का मधु खाया जा चुका था, नया मधु कैसे बने यह विधान विस्मृत हो चुका था। मधु कण के स्रोत पथ न जाने कहां अदृश्य हो गए थे। सब जैसे उस छत्ते को ही खाने लगे थे।

ऐसे समय ही तुर्क, हूण, मंगोल, शक, यहां हमें लूटने आए और लूटकर चले गए तथा हम अपने अपने सूराखों (धर्म, संप्रदाय, आश्रम, जाति अप-

विश्वास) मे दुम दबाए बैठे रहे। इससे कई गुना बुरी हालत मे अग्रेज हमारे छत्ते मे आया था। पहले तो आक्रमणकारियो से हमारी कुछ लडाइया भी हुई पर इस बार हम स्वय अग्रेजो के दल चल गए। इसका कारण यह था कि यारोप मे तब तक जो नई व्यापारी सस्कृति निर्मित हो चुकी थी उससे टक्कर लेने की सामर्थ हममे नही थी। और यह माने बिना गति नही है कि तब तक हमारी जो सस्कृति थी वह प्राचीन या मध्ययुगीन (आधुनिक का तो प्रश्न ही नही उठता) किसी भी प्रकार के स्वराज्य रक्षण या स्वराज्य सस्थापन के लिए वह असमर्थ हो गई थी।

मुसलमानी साम्राज्य और उसमे से पैदा हुए अनेक दूसरे राज्यो को मराठो ने जर्जर और निर्जीव कर दिया था और उन्हे ऐसी आशा होने लगी थी कि वे भारतवर्ष के सार्वभौम सत्ताधारी बन जाएगे। इतने मे ही अग्रेजो ने उनके आशामहल को एक धक्के मे ही ढहा दिया और भारतीय हिंदू मुसलमानो को यह यकीन करा दिया कि आधुनिक राष्ट्रीयता का पाठ हमसे सीखे बगैर तुम इस दुनिया मे स्वतत्र होकर नही रह सकते।

आधुनिक भारत के निर्माण मे राजा राममोहन राय से लेकर दादाभाई तिलक, रानाडे गोखले तक, स्वामी दयानद से लेकर अरविंद तक अनेक महापुरुषो ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। परतु जिस समर्पण, निष्काम भक्ति और अनन्यनिष्ठा से गाधी ने भारतवर्ष को आधुनिक बनाने का काम किया वह अभूतपूर्व है।

१८१८ ईस्वी मे पेशवाई का अत होने से प्राचीन व मध्ययुगीन भारत का अत हुआ और आधुनिक भारत का इतिहास गाधी से शुरू हुआ, गाधी के चरित्र से, गाधी के कर्म से और गाधी के व्यक्तित्व से। जो अब तक टूट चुका था, जो अब तक एक सपूर्ण से खड खड और अलग अलग हो चुका था गाधी ने अपने प्रेमरस से गूथकर उसे गीली मिट्टी का एक ऐसा पिंड बना दिया जिसे अब एक नया रूप दिया जा सकता था। अनेक धर्म और जातियो के लोगो मे, इतने असख्य खड खडो मे, मधुहीन छत्ते के वीरान सूराखो मे सनसनी', 'एकत्र अर्थात राष्ट्रीयता कैसे पैदा की जाए और सामतशाही को हटाकर लोकशाही अर्थात प्रजातत्र की स्थापना कैसे की जाए—ये दो सबक उस भारत को यारोप से सीखने थे। यह ज्ञान अनुभूति के स्तर से शुद्ध भारतीय भूमि पर शुद्ध भारतीय सकल्प से गाधी ने दिया।

गाधी ने सबको छोड केवल गोखले को अपना गुरु क्यो माना? वह गोखले ही थे जो समग्र भारत की अनन्य करुणा अथाह पूजी, और भयकर दर्द से अभिभूत थे। परतु केवल ज्ञान के स्तर पर। इसीलिए जब गोखले ने गाधी को अपना शिष्य माना तो उन्होने असली गुरुमत्र दे दिया, 'जाओ मोहन-दास करमचद गाधी, पूरे भारत मे घूमकर, भारत माता को अपनी आखो से

देख आओ। मैंने जिसे पुस्तका म देखा है अब तक, उसे तुम अपनी आखो से देख आओ।" यह अदमुत गुरुमत्र था जिसका मम और अथ गाधी ने समझा।

सपूण न सपूण को पहली बार देखा फिर जो यथाथ मे खड खड था, विभक्त था, दरिद्र अभावग्रस्त और भयभीत था, गाधी ने अपन प्रेम से उस सबको सगीत मे जोडकर पहली बार एक, सपूण कर दिया। उस नए सगीत म रामधुन, गीता कुरान और बाईबिल थी। उस सगीत मे काल भैरव का राग था ब्रह्मा का सजननाद था। भयभीत अपमानित दरिद्र भारत मे वही त्रिमूर्ति बोध—विनाश, सजन और पालन तीनो एक साथ शुरू हुआ। जो सनातन बीज भारत भूमि म न जाने कब स सुपुप्त पडा था, वह अकुरित हुआ। उसने वद, उपनिषद, गीता, रामायण, कुरान, बाईबिल को राम, बुद्ध, मुहम्मद, ईसा अल्ल'ह को, जो जीवन स टूटकर अलग हो चुके थे, सबका जीवन मे जोड दिया।

व्यक्ति और समाज, घर और बाहर, विचार और आचरण राजनीति और धम, सदाचार और नीति, अहम और इदम जो अब तक अलग अलग था, एक कर दिया। द्वत को अद्वैत करना, यही गाधी ने किया। और वह गाधी विचार' नही 'प्रेम' थे क्योकि गाधी के विचार का आधार धम था। उनके लिए धम की अनुभूति ईश्वर मे थी, और उनका ईश्वर प्रेम था। उनके धम का सबध किसी परपरा, किसी कम काड या किसी प्रचलित धारणा स कत्तई नही था—बुनियादी तौर पर गाधी के धम का सबध उस नैतिक कानून से था जिसको उन्होन प्रेम या सत्य के कानून का नाम दिया है।

सबमे मैं, मुझम सब—इस बीज का य पुरुषवृक्ष गाधी, जनवरी सन् १९१५ मे जब भारतवष आए, उस समय प्रथम विश्व युद्ध चल रहा था। उस समय भारतीय राजनीति म गोखले और तिलक के अपन अपन दल थे। इन दो के अलावा एक तीसरा दल सशस्त्र क्रातिकारियो का था। गोखल की विधिनिहित राजनीति, तिलक का विरोधक बहिष्कार योग और क्रातिकारियो का आतकवादी माग य सभी एक तरह स उस समय असफल हो चुके थे। ऐसे समय गाधी अपन सत्याग्रह शस्त्र द्वारा दक्षिण अफ्रीका से सफलता प्राप्त कर लौटे थे। उस समय बबई के गवनर लाड विलिंगटन स पहली भेंट मे गाधी ने सिफ इतना कहा—'मैं माननीय गोखले का शिष्य हू।' इसके बाद गोखले ने अपन शिष्य को सर फिरोजशाह मेहता स मिलाया। फिरोजशाह न गाधी स कहा हिंदुस्तान दक्षिण अफ्रीका नही है। यह समझकर आगे का कायक्रम बनाना।

गाधी का वह कायक्रम, वह साधन और साध्य था 'सत्याग्रह और उसका जयघोष उन्होने फरवरी १९१६ म काशी हिंदू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के समय किया

"आज हिंदुस्तान अधीर व आतुर हो गया है। अत भारत मे अराजकों की एक सेना तयार हो गई है। मैं भी एक अराजक हू, लेकिन दूसरी तरह का। अगर मैं इन अराजकों मे मिल सका तो उनसे जरूर कहूगा कि तुम्हारे अराजकतावाद के लिए भारत मे गुजाइश नही है। हिंदुस्तान का अपने विजेता पर अगर विजय पानी है तो उनका वह तरीका भय का एक सबूत है। हमारा यदि परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास और भरोसा है तो हम किसी से नही डरेंगे। राजा महाराजाओं से नही वाइसराय से नही खुफिया पुलिस से नही और खुद जाज पचम से भी नही। हम यदि कभी स्वराज्य मिलेगा तो तभी जब हम स्वय उसे लेंगे। हमे दान के रूप म स्वराज्य कभी भी नही मिलेगा।'

इस प्रथम एतिहासिक वक्तव्य से लोगो म यह चर्चा शुरू हुई कि हिंदुस्तान मे यह कोई नया राजनीतिक तत्त्व जान आ रहा है। डा० एनी बेसेंट (जो उस उदघाटन सभा की अध्यक्षा थी) ने कहा कि एक सत के नाते महात्मा गाधी भले ही बहुत बडे हो लेकिन राजनीतिक दृष्टि से वह एक दुधमुह बच्चे हैं। गरम दल के लोग कहने लगे कि इनका सत्याग्रह पहले वाला बहिष्कार योग है। नरम दल के लोग कहने लगे कि इनकी अहिंसा और राज्यनिष्ठा असशयातीत है इसलिए ये हमी म से है। सुधारक कहने लगे कि अरे गाधी जी भी यही कहते हैं कि हमारी गुलामी के कारण हमी हैं और जब तक हमारा सुधार न होगा हमे स्वराज्य न मिलेगा, इसलिए गाधी जी सुधारक हैं। धम सुधारक कहने लगे कि महात्मा गाधी भागवतधर्मी सत है और हमारे धम सुधार का तत्त्व उन्हें मान्य है। सनातनी कहने लगे कि गाधी वर्ण व्यवस्था पालक सनातनी हिंदू है। यह तो साक्षात धमराज्य है। इन्ही के द्वारा यहा रामराज्य की स्थापना होगी। नास्तिक कहने लगे कि गाधी कहता है कि सत्य के सिवा कोई धम नही है और सत्य ही परब्रह्म है। इसलिए गाधी नास्तिक है। क्रांतिकारी कहने लगे कि गाधी हमारी ही तरह क्रांतिकारी है, लेकिन यह इसकी चतुराई है कि यह शाति और अहिंसा की आड ले रहा है। कुछ लोग कहने लगे गाधी सरकार का ही एक खुफिया है। पूरे भारत म लोग गाधी के बारे म जितने मुह उतनी बातें करने लगे।

१९१६ के अत मे गाधी का ध्यान फिजी के गिरमिटियो की हालत की तरफ गया। गिरमिटिया प्रथा को अग्रेजो के लिए हिंदुस्तानियो का बाकायदा गुलाम बनाकर भेजने की प्रथा ही कहना चाहिए। गाधी ने घोषणा कर दी कि यदि ३१ मई, १९१७ के पहले यह प्रथा बद न हुई तो मैं सत्याग्रह करूगा। तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को यह प्रथा भारत रक्षा कानून के तहत बद करनी पडी। यह थी पहली विजय।

दूसरी घटना चपारण की है। गाधी के सत्याग्रह से गोरो के जुल्म और शोषण का सौ साल पुराना काला अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरी घटना जनवरी १६१८ म खेडा जिल के किसानो से सबधित है जिनके साथ करबदी के लिए गाधी न सफल सत्याग्रह किया । इससे भारत के किसानो म यह विश्वास जमन लगा कि ब्रिटिश सरकार का भी जो कि हम पर हुकूमत चलाती है, भुका दने की शक्ति गाधी के पास है । चपारण और खेडा मे सत्याग्रह क सफल प्रयोगो को दखकर पढे लिख लोगो म भी यह धारणा होन लगी कि यह हमारे उद्धार का एक ऐसा साधन अवश्य है जो भारत भूमि मे उग और फल सकता है ।

उस समय तक जो आजादी की लडाई चल रही थी उसमे गाधी ज्यादा हिस्सा नही ल रह थे । गाधी स्पष्टतया आजादी म आगे, 'स्वराज्य' प्राप्ति के लिए पूर भारत के साथ सघपरत होने की बडी तैयारी मे लगे थे । वह मानत थे कि स्वराज्य का जन्म जिस तरह का आदोलन उस समय हो रहा था उससे नही, बल्कि सत्याग्रह के बल पर होगा । और इस स्तर पर गाधी न राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह सग्राम का श्रीगणेश रालट कानून के खिलाफ २ फरवरी, १६१६ को किया ।

१० माच १६२० को इसी सत्याग्रह मे से गाधी का असहयोग मत्र निकला। गाधी ने घोषणा की, "जो व्यक्ति या राष्ट्र हिंसा को छोड देता है, उसमे इतना बल आ जाता है कि उसे कोई नही रोक सकता । हमारे सामने एक ही रास्ता है, असहयोग । सहयोग से जब अध पतन व अपमान होने लगता है, या हमारी धार्मिक भावनाओ को चोट लगती है तब असहयोग कतव्य हो जाता है ।"

इसी आन्दोलन क्रम म गाधी १३ माच, १६२२ को राजद्रोह के अभियोग मे गिरफ्तार हुए और अहमदाबाद के जज ब्रूमफील्ड के इजलास मे उनका मुकदमा चला । इस ऐतिहासिक मुकदमे म गाधी ने बयान देते हुए कहा, "मुझे खुशी है कि नागरिक स्वतन्त्रता का गला घोटने वाले कानूनो की सिरताज १२४ (अ) धारा के अनुसार मुझ पर अभियोग लगाया गया । इस धारा के मुताबिक मुकदमा चलाया जाना मैं अपने लिए गौरव की ही बात समझता हू ।"

अपने लिखित बयान को पढते हुए गाधी ने कहा, " मुझे अनिच्छापूवक इस निष्कष पर पहुचना पडा कि अग्रेजी हुकूमत न राजनीतिक तथा आर्थिक दोनो दृष्टियो से भारत को इतना असहाय बना दिया है जितना वह पहले कभी नही था । आधा पेट खाकर रहन वाली भारत की ग्राम जनता किस तरह धीरे धीरे मतप्राय होती जा रही है, शहर मे रहने वाले इस क्या जानें ? उन्हें यह नही सूझता कि ब्रिटिश भारत मे कानून द्वारा स्थापित सरकार उस गरीब ग्राम जनता को इस प्रकार चूसने के लिए ही चलाई जा रही है । किसी भी तरह के वितडावाद अथवा थोथी आकडेबाजी से उस साक्ष्य को झुठलाया नही जा सकता, जो भारत के लाखो गावो मे करोडो अस्थिपजर हमारी खुली आखो के सामने प्रस्तुत करते हैं । मुझे तो इस बात म तनिक भी सदेह नही

कि यदि हम सबके ऊपर ईश्वर है तो उसके दरबार मे इगलैड को और भारत के शहरी लोगो को इस घोर अपराध के लिए जवाब देना पड़ेगा। मेरे ख्याल मे तो मानव जाति के विरुद्ध किए जा रहे उस अपराध जैसी मिसाल इतिहास म शायद ही मिले। इस देश म कानून का उपयोग भी विदेशी शोषकों की सेवा करने के लिए ही किया जाता रहा है। इसलिए न्यायाधीश महोदय, अब आपके सामने यही एक रास्ता है कि जिस कानून पर अमल करने का काम आपको सौंपा गया है उसे यदि आप अन्यायपूर्ण मानते हो और मुझे सचमुच निर्दोष समझते हो तो आप अपना पद त्याग दें और इस प्रकार अन्याय म शरीक होने से बचें। इसके विपरीत यदि आपका मत हो कि जिस तत्र और जिस कानून को चलाने म आप मदद कर रहे हैं वे इस देश की जनता के लिए हितकर हैं और इसलिए मेरी प्रवृत्तिया सार्वजनिक कल्याण के लिए हानिकारक हैं तो आप मुझे कडी से कडी सजा दें।"[1]

साबरमती जेल जाते हुए गाधी ने तमाम मित्रो और रोते हुए लोगो को सदेश दिया "लोगो से कहिए कि हर एक हिंदुस्तानी शांति रखे। हर प्रयत्न से शांति की रक्षा करे। केवल खादी पहने और चरखा कातें। लोग यदि मुझे छुड़ाना चाहते हों तो शांति के द्वारा ही छुड़ाए। यदि लोग शांति छोड़ देंगे तो याद रखिए मैं जेल म रहना पसद करूगा।"[2]

असहयोग आदोलन की प्रक्रिया और प्रतिक्रिया स्वरूप देश म घटित दो घटनाए चौरीचौरा काड, और साप्रदायिक दगे इस देश के मानस और चरित्र के ऐसे उदाहरण थे जिन्हे गाधी ने बहुत ही गभीरता से देखा। गाधी ने असहयोग आन्दोलन रोक दिया और आह्वान किया कि देश रचनात्मक काय मे जुट जाए। परतु साप्रदायिक दगो के खिलाफ गाधी को अनशन करना पडा।

देश मे अब पुन कौसिल मे प्रवेश की माग जोर पकडने लगी। सी० आर० दास और मोतीलाल नेहरू के स्वराज्य दल ने इस दिशा म विशेष काम किया। देश के राजनीतिक मच पर अब गाधी से अधिक स्वराज्य दल का प्रभुत्व हो गया। गाधी ने अगले तीन वर्ष तक निरतर अपने आपको राजनीतिक विवादो से अलग रखा। अब वह मौन रहकर नीचे से ऊपर की ओर राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे। इसके निमित्त सारे देश का एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण किया। गावो के पुनर्निर्माण के लिए उन्होने विशेष सन्दर्भो मे अपने विचार प्रकट करने शुरू किए। वह आर्थिक और राजनीतिक स्वतत्रता को एक दूसरे का पूरक मानकर आगे बढ रहे थे।

१ ट्रायल आफ गाधी पष्ठ १६८ १६२ महात्मा गाधी द्वारा लिखित और हस्ताक्षरित बयान की फोटो नकल।

२ सपूर्ण गाधी वाङमय खड २३ पष्ठ १३०

गाधी ने इन तीन वर्षों मे देश की सजनात्मक शक्ति को जगाने के लिए चरखे को एक शस्त्र के रूप म देखा। एक ग्रोर उनका हृदय हरिजनो के जीवन स्तर को उठाने ग्रौर हिंदुग्रो के बीच उन्हें उचित स्थान दिलाने म लगा था, दूसरी ग्रोर खादी क प्रतीक रूप म चर्खे को उन्होने दैवी शक्ति क रूप म देखा। गाधी क लिए चरखा एक ग्रोर यत्रवाद, भौतिकता के विरोध का मूतरूप था, दूसरी ग्रोर उन्हें गाव के सबसे हीन ग्रौर गरीब लोगो क साथ जोडन वाली कडी भी था। गांधी १९२७ तक किसी भी तरह की राजनीति म सक्रिय नही हुए पर भारत के मानस ग्रौर चरित्र दोना को १९३० के सविनय ग्रवज्ञा ग्रादोलन के लिए चुपचाप तैयार करन म लगे थे।

३१ दिसबर १९२९ को रावी तट पर पूण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुग्रा। ११ माच, १९३० को ग्रपने नैतिक साहस की चरम सीमा पर गाधी ने सविनय ग्रवज्ञा ग्रान्दोलन का ग्रारम्भ 'नमक कानून तोडो' स किया। १२ माच १९३० को गाधी न घोषणा की "यदि स्वराज्य न मिला तो या तो रास्त म मर जाऊगा या ग्राश्रम के बाहर रहूगा। नमक कर न उठा सका तो ग्राश्रम लौटन का इरादा भी नही है।'

गाधी के साथ इस ग्रभूतपूव दाडी यात्रा म ७९ सत्याग्रही थे। नमक सत्याग्रह को 'मिस्टर गाधी का शेखचिल्लीपन बताया गया। किंतु नमक कानून का उल्लघन राष्ट्र की मर्यादा का प्रतीक बन गया। इस प्रतीक शक्ति का ग्राभास सरकार को मिला। सरकार न गाधी ग्रौर जवाहर के साथ साठ हजार सत्याग्रहियो को जेल म बन्द कर दिया। महिलाग्रो ने शराब की दुकानो तथा विदेशी कपडा की दुकानो पर धरना देना शुरू किया। इस सत्याग्रह मे जगल सत्याग्रह, रैयतवाडी इलाको म लगानबन्दी एव विदेशी कपडा, बको, जहाजो ग्रौर बीमा कपनियो के बहिष्कार को शामिल कर लिया गया। इस तरह इस ग्रादोलन मे सारा भारत देश, देश के सभी वग के लोग ग्रपनी सामर्थ्य के ग्रनुसार साझीदार हो गए।

दरग्रसल यह ग्रादोलन एक खास तत्त्व, प्रणाली ग्रौर क्रातिशास्त्र को लेकर तथा एक ग्रसामान्य विभूति के नेतत्व मे चल रहा था। यह राजनीतिक नही सास्कृतिक ग्रादोलन था। इसके 'बीज' ग्राधुनिक भारत का इतिहास शुरू होने से पहले ही जनता के हृदय म बोए जा चुके थे। मराठो की हार के बाद हिंदुस्तान पूरी तरह ग्रग्रेजो के ग्रधिकार मे ग्रा गया था। इसी समय समग्र समाज क्राति के ग्रग्रदूत राजा राममोहन राय ने जो ग्रादोलन शुरू किया, वह यही सास्कृतिक जागरण का ग्रादोलन था। राजा राममोहन राय न एक मम की बात ढूढ निकाली थी कि ग्रन्य देशो की ग्रपेक्षा ग्रपन पिछड जान का भान ग्रगर भारत को हो जाएगा तो, उस ग्रग्रेज गुलाम नही रख सकेंगे। जिन ग्रग्रेज ग्रधिकारियो ने भारतवष पर कब्जा कर लिया था वे भी इस सच्चाई स

वाकिफ थे 'हमने भारत को नही जीता है, मात्र वह हमारे अधीन हो गया है। जब अपनी असली ताकत का पता उस चल जाएगा तब एक पल भर के लिए भी उसे अपने काबू म रखना हमारे लिए असभव है। लाख डेढ लाख लोग बीस बाइस करोड की सख्या वाले किसी राष्ट्र को सदा क लिए अपने अधीन नही रख सकते।'

गाधी के इस विशेष क्राति माग, इस विशेष सास्कृतिक आन्दोलन से, जिसके जनक थ राजा राममोहन राय और नेता थे तिलक, गोखले, दादाभाई, अरविन्द और टगोर, भारतवष को हटाने के लिए अग्रेजो ने प्रातीय स्वायत्तता के नाम पर १९३५ मे द्विराष्ट्रवाद की भयकर राजनीति शुरू कर दी, और वे इसमे सफल हो गए। १८५८ के बाद अग्रेजो न जिस राजनीति की शुरुआत की उसकी पहली सफलता उ हे १९३५ मे 'गवनमेट आफ इडिया एक्ट' लागू कर प्राप्त हुई। गाधी के नतत्व म सविनय अवज्ञा आदोलन की सफलता को देखकर अग्रेज सावधान हो गए कि यह तो सारा दश एक राष्ट्र हो रहा है। इसे तोडने की तैयारी अग्रेज १८५८ मे ही कर रहे थे।

१९३५ मे प्रातीय स्वायत्तता के नाम पर भारत को अनेक टुकडो वर्गों और इकाइयो मे बाटकर ठाट से यहा राज करने की अग्रेज शासको की योजना पूरी हुई। दूसरी ओर सयुक्त राज्य की स्थापना क नाम पर यहा की लोकतात्रिक चेतना को सरमायादारो की सहायता से परास्त करने की साजिशें अग्रेजो ने गोलमेज परिषद के नाम पर की।

गाधी अग्रेजो की इन सारी चालो और राजनीति को तथा साथ ही अपने आस-पास के लोगो खासकर काग्रेस और मुस्लिम लीग को पूरी तरह जानते थे। उन दिनो काग्रेस और लीग इस बात पर विचार कर रही थी कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अतगत दी गई प्रातीय स्वायत्तता स्वीकार की जाए अथवा नही। अत मे दानो ने इसे अस्वीकार करने का निश्चय किया।

ध्यान देने की बात है कि गाधी ने इस वाद विवाद मे कोई भी हिस्सा न लिया, क्योकि उनका दिल तो भारत के गावो म था। "आप यह जान लें। मेरा मन यहा नही है और वर्धा में भी नही है। मेरा दिल तो गावो मे है।" और गाधी उस अवधि मे अपने समय तथा अपनी शक्ति का उपयोग ग्रा पुनर्निर्माण के कार्यों मे करते रहे जिसे उन्होंने अक्टूबर १९३४ मे काग्रेस अलग होने के बाद हाथ म लिया था। हालाकि रोजमर्रा की राजनीति उन्होंने अपने आपको अलग रखा। उन्होंने यहा तक कहा

"कुछ काम तो जरूर राजनीतिक सत्ता के बिना नही होते पर असख्य

१ अखिल भारत साहित्य परिषद नागपुर में २४ अप्रैल १९३६ को भाषण सपूर्ण गाधी वाङमय' खड ६२ पृष्ठ ३७०

कामो के साथ राजनीतिक सत्ता का कुछ भी वास्ता नही होता । इसलिए थारो जैसा विचारक लिख गया है कि 'वही राजसत्ता अच्छी गिनी जाती है जिसका उपयोग कम स कम होता है ।" मतलब यह कि जब राजतत्र पूरी तरह जनता के हाथो मे आए तब लागो के जीवन मे सरकार का हस्तक्षेप बढन की बजाय घटना चाहिए । जिस राष्ट्र के अधिकाश मनुष्य दाह्य अकुश के बिना अपन काम व्यवस्थित रूप से अच्छी तरह चलात है वही राष्ट्र लोकतात्रिक शासन क योग्य होता है । जहा यह स्थिति नही है वहा का तत्र लोकतत्र कहा भल जाए वह वस्तुत लोकतत्र नही हाता हमारी अनक प्रवत्तिया का राजसत्ता स कोई सराकार नही हाता । राजनीतिक हतु प्राप्त करन क लिए उस हतु को भूल जान की आवश्यकता है । सभी बाता म इस हतु की सिद्धि प्रसिद्धि की चचा समस्या का अकारण उलझाना है । जा चीज हमारी पीठ पर लदी हुई है उसका विचार क्यो करें ? मत्यु जब तक आ नही जाती तब तक क्यो मर ? इमीलिए मुझे तो हरी साग भाजी हाथकुटा चावल आदि बाता म बहुत रस आता है । लोगा के पाखान किस तरह साफ रखे जाए लोग धरती माता को जो सवेरे-सवेरे गदा करना शुरू करत है, उस घार पाप से उन्ह किस तरह बचाया जाए, इस विषय म विचार करना, इस पाप के निवारण का उपाय ढूढना मुझे ता बहुत ही प्रिय लगता है । अनक वर्षों के अनुभव स मैंन यह देखा ह कि जिन प्रवत्तिया म मैं लगा हू उनम राष्ट्र की स्वतत्रता हासिल करने के उपाय निहित हैं, उन्ही मे स शुरू म स्वतत्रता की मूर्ति खडी हागी ।"[1]

गाधी का यह विचार किसी राजनीतिक प्रश्नकर्त्ता के इस प्रश्न के उत्तर म है कि—"आपको क्या ऐसा नही लगता कि जब तक राजनीतिक सत्ता हाथ मे होगी, तब तक काई महान परिवतन नही हा सकता ? फिर हमे मौजूदा आर्थिक रचना के सवाल को भी हल करना है । राजनीतिक नवरचना क बिना अन्य किसी भी क्षेत्र म काई नवरचना सभव नही है । इसलिए (आपकी) हरी पत्तिया साग भाजी, पालिश किया हुआ और हाथकुटा चावल आदि यह सारी चर्चा निरर्थक मालूम होती है ।"[2]

राजनीतिक उद्देश्य प्राप्त करन के लिए उस उद्दश्य का भूल जाने की आवश्यकता है गाधी का यह विश्वास कितना मूल्यवान है, फिर भी आवश्यक हाने पर काग्रेस नताआ का सलाह और माग दशन दना उन्हान जारी रखा । विशेष रूप स जवाहरलाल नहरू के साथ, मतभेदा के बावजूद भी गाधी ने प्रेम का एक एसा सबध बना लिया था जिसन आन वाले वर्षो की घटनाआ की दिशा निश्चित करन मे महत्त्वपूण भूमिका निभाई । नेहरू काग्रेस मे उग्र सुधारवादी

१ हरिजनबधु (गुजराती) ३ नवबर १९३५
२ सपूर्ण गाधी वाङमय खड ६२, पष्ठ ६८

विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे और राजनीति तथा आर्थिक मामलो प्रश्नो के प्रति गाधी के रुख से सतुष्ट नही थे। परतु जैसा कि गाधी ने अगाथा हैरिसन को बताया, जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोणो के बीच की खाइ बेशक चौडी हुई है, फिर भी दिलो म हम एक दूसरे के जितने नजदीक आज है उतन शायद पहले कभी नही थ।"

एक सच्चे वैष्णव की भाति गाधी मानते थे कि मानव इतिहास भगवान की लीलामात्र है जिसमे हर व्यक्ति की भूमिका पहले स निश्चित है और सच्चाई के साथ निभाई जान वाली सभी भूमिकाए अपनी जगह महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए नेहरू मे इतने मतभेदो के बावजूद दोनो मे इतना प्रेम था। नेहरू की आत्मकथा की पाडुलिपि पढने के बाद गाधी ने लिखा, 'आखिर, म क्या हूँ ' घटनाओ के प्रबल प्रवाह मे बहते असहाय अभिनेता मात्र ही तो!'

अहिंसा गाधी के सपूर्ण व्यक्तित्व की आधारशिला थी। इसका अर्थ था प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव और स्वधर्म मे उनकी आस्था। न्यूयार्क के एक साप्ताहिक पत्र के प्रश्न के उत्तर मे गाधी ने कहा, "स्थायी शाति मे विश्वास न करने का अर्थ है मनुष्य के धार्मिक स्वभाव पर ही अविश्वास करना। अभी तक अपनाए गए तरीके असफल रहे इसका कारण यह है कि जिन लोगो ने इसके लिए कोशिश की है, उनके अदर सच्ची श्रद्धा का ही अभाव रहा है। ऐसी बात नही कि वे इस तथ्य को समझ गए हैं। जिस प्रकार अमुक रासायनिक मिश्रण को प्राप्त करने के लिए उसकी सभी शर्तों को पूरा न किया जाए तो अपेक्षित परिणाम प्राप्त नही होगा, उसी प्रकार शाति की शर्तों की आशिक पूर्ति स शाति नही प्राप्त की जा सकती। मैंने अनुभव से इस सच्चाई का परखा है कि गिरे से गिरे मनुष्य के लिए भी मानवता के बुनियादी गुणो का अपने अदर पैदा कर सकना सभव है। यही सभावना मनुष्य को परमात्मा द्वारा रचे गए अन्य प्राणियो से अलग करती है। यदि एक भी बडी शक्ति बिना शर्त लगाए त्याग का रास्ता अपना ल तो हम शाति को साकार होते देख सकते हैं।'[1]

गाधी की अहिंसा का अर्थ है प्रेम। वह प्रेम जिसकी परिभाषा सत पाल ने (एक कोरिंथियन्स १३ मे) की है। गाधी न अमरीकी नीग्रो लोगो के प्रतिनिधि मडल से एक भेंट मे कहा है, "ऊपर स देखें तो जीवन चातुर्दिक सघर्ष और रक्तपात स घिरा हुआ है। जीव के विनाश पर जीव का अस्तित्व कायम है। किंतु युगों पूर्व इस पहेलिका का भेदकर असली सत्य के दर्शन करने वाले किसी द्रष्टा न कहा था—मनुष्य सघर्ष और हिंसा के द्वारा नही, बल्कि अहिंसा के द्वारा ही उस ऊचाई को प्राप्त कर सकता है, जिसे प्राप्त करने मे उसका परम श्रेय है और उसी के द्वारा वह अपने सहप्राणियो के प्रति अपने कर्तव्य का

१ हरिजन (अग्रेजी) १८ जून १९३८

निवाह कर सकता है। यह विद्युत से भी अधिक सक्रिय ईथर से भी अधिक प्रबल शक्ति है। इसके केंद्र मे एक ऐसी शक्ति निहित है जो बिना किसी बाहरी प्रेरणा या सहायता के सक्रिय रहती है। अहिसा का अर्थ है 'प्रेम', वह प्रेम जिसकी परिभाषा सत पाल न की है। अहिसा मे केवल मनुष्य ही नही, सृष्टि मात्र का समावश है। इसके अतिरिक्त अग्रेजी भाषा म 'लव' (प्रेम) शब्द के कुछ अन्य अर्थ भी हैं, इसीलिए मुझे एक नकारात्मक शब्द (नान वायलेंस अहिंसा) का प्रयोग करना पडा। पर यह किसी नकारात्मक शक्ति का द्योतक नही है बल्कि एसी शक्ति का बोध कराता है जो शेष समस्त शक्तियो के योग स भी श्रेष्ठ है। हो सकता है कि सामान्यत मैं अपनी रोटी के लिए उन अत्याचारियो पर ही निर्भर रहता होऊ। मुझे इन लोगो के अहित की कामना नही करनी चाहिए, लेकिन साथ ही इनके साथ सहयोग भी नही करना चाहिए। यही आत्मबलिदान है। बिना किसी भावना या श्रद्धा के सिर्फ भूखा मर जान का मतलब कुछ नही होगा। जब प्रतिक्षण जीवनशक्ति छीजती जा रही है तब भी मेरी श्रद्धा मद नही पडनी चाहिए। लेकिन मैं तो (फिर भी) अहिसा का आचरण करन वाले व्यक्ति का एक अति तुच्छ उदाहरण हू इसलिए हो सकता है कि मेरे उत्तर से आपका समाधान न हुआ हो।"[1]

गाधी न यह रहस्य पा लिया था कि शारीरिक श्रम और जीवन की नतिकता के बीच घनिष्ठ सबध है इसलिए यदि उनका वश चलता तो वे "सबके लिए शरीर श्रम को अनिवार्य' कर दत और एसी व्यवस्था करत कि "एक डाक्टर या बैरिस्टर उतना ही वतन ले जितना कि एक मजदूर।" गीता म दी गई परिभाषा के अनुसार किसी भी काम को कुशलतापूवक करना ही योग है।

आर्थिक विषयो मे भी गाधी के लिए नैतिकता का विचार समान रूप म महत्त्वपूर्ण था। उन्हान बताया, 'माग और पूर्ति का कानून मानवी नही राक्षसी है सच्चा अथशास्त्र वही है जो नीति स चलगा।" घनश्यामदास बिडला के साथ चर्चा करत हुए गाधी ने चेतावनी दी थी 'अगर हिंदुस्तान मे जगह-जगह कल कारखाने खडे कर दिए गए तो लूट खसोट की नीयत से दूसरे देशो की तलाश करने के लिए हमे एक नादिरशाह की जरूरत पडेगी।"

गाधी किसी गाव में जाकर बस जान का स्वप्न दखते आ रहे थे। एक मई १६३६ को मगाव स अमृतकौर को पत्र लिखा, 'आखिरकार मैं सेगाव आ गया हू। हम कल आए हैं। रात बहुत सुहावनी थी।'

१ हरिजन (अग्रजी), १४ मार्च, १६३६

ऐसा लगता है, गाधी राजनीति को अपने यहा के राजधम से जोड रहे थे। राजधम का अथ है—सारे धर्मों मे जो श्रेष्ठ है, जिससे हम औरो पर ही नही अपने ऊपर 'राज' करते हैं। राजनीति को इसीलिए उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति का माध्यम या साधन बनाया। चूकि साध्य और साधन की पवित्रता पर, सत्यता पर उनका समान बल था, इसीलिए उनकी राजनीति का आधार था—अहिंसा, अर्थात प्रेम।

१९१५ की बात है। गोखले अपने शिष्य गाधी को अपनी सस्था सर्वेंट आफ इडिया सोसायटी का सदस्य बनाना चाहते थे। इस सबध मे गाधी की आत्मकथा में एक उल्लेखनीय तथ्य मिलता है—"अब मुझे लगा कि मुझे सोसायटी मे दाखिल होने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए। मुझे यह भी जान पडा कि गोखले की आत्मा भी यही चाहती है। मैंने बिना सकोच के और दढतापूर्वक यह प्रयत्न आरभ किया। इस समय सोसायटी के लगभग सभी सदस्य पूना मे मौजूद थे। मैंने उन्हे समझाना बुझाना, और मेरे विषय मे उन्हे जो डर था उसे दूर करना शुरू किया। पर मैंने देखा कि सदस्यो मे मतभेद था। एक पक्ष मुझे दाखिल कर लेने के पक्ष में था, दूसरा दढतापूर्वक मेरे प्रवेश का विरोध करता था। दोनो का मेरे प्रति जो प्रेम था उसको मैं देख सकता था। पर,मेरे प्रति जो प्रेम था, उसकी अपेक्षा सोसायटी की ओर उनकी वफादारी शायद अधिक थी। मतभेद होते हुए भी हम बधु और मित्र बने रहे है। सोसायटी का स्थान मेरे लिए तीर्थस्थल रहा है। लौकिक दृष्टि से मैं भले ही उसका सदस्य नही बना, आध्यात्मिक दृष्टि से मैं सदस्य रहा ही हू।'

राजनीति को आध्यात्मिक स्तर देना, इसकी परम लौकिकता को आध्यात्मिकता से जोडना यही था चरित्र गाधी का। गाधी राजनीति मे क्यो आए? प्रेमवश। वे मूलत वैष्णव थे और नरसी मेहता का भजन, 'वैष्णव जन ने तेने कहिए जे पीर पराई जाणे रे'। उनका प्रिय भजन था। राजनीतिक गाधी के हृदय मे सदैव कृष्ण रहे और उनकी जबान पर राम। उनका अंतिम शब्द 'राम' था जैसे कृष्ण हृदय से चलकर जब ओठो तक आते थे, तो वे ही राम हो जाते थे। लेकिन राम क्यो? इसी के उत्तर मे हम गाधी का लेख पाएगे।

विश्व के इतिहास मे प्रत्येक राष्ट्र किसी विशेष विचार का प्रतीक रहा है जिसे उसने अपने देशवासी के जीवन मे व्यक्त करने का हर क्षण प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए यूनान के लोगो ने 'सौंदर्य' का विचार रोमन लोगो ने 'कानून का विचार, स्पार्टा के लोगो ने 'शक्ति' का विचार और अग्रेजो ने 'वैधानिक शासन' का विचार रखा। इसी बुनियादी विचार के आधार पर उन लोगो के चरित्र, स्वभाव, मनीषा का निर्माण हुआ। ठीक इसी प्रकार यूनानी तथा रोमन लोगो से बहुत पहले हमने भारतवर्ष मे अपने जीवन को 'धर्म के

आधार पर चलाने का निश्चय किया। इसीलिए भारतीय धम मे वे सब चीजें आ जाती हैं जिनसे आदश मानवता निर्मित होती है। सनातन सत्य 'बीज' वेदो और उपनिषदो मे था। पर उस सनातन सत्य बीज को पथ्वी पर उगना था। वह उन 'राम' के रूप म अवतरित हुआ, जो लोकरजक बने।

भारतीय सस्कृति का मुख्य शब्द 'धम' है। धम के अतगत जीवन की दृष्टि तथा पद्धति दोना आती है और यह मानव क भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन मे सम वय करता है। जलाना आग का स्वाभाविक काय या उसका स्वभाव है। अ य प्राणिया और पदार्थों के लिए जो स्वभाव है वह मनुष्य के लिए स्वधम हो जाता है। स्वभाव छोडने स जैसे अ य प्राणिया और पदार्थों के नष्ट होन का खतरा है, ठीक उसी प्रकार स्वधम पालन की अनिवायता मानव के लिए है—अ यथा वह मनुष्य से प शु बन जाएगा और न ष्ट हो जाएगा।

मनुष्य का 'स्वधम' पहल उसी के द्वारा अपन भीतर ढूढा जाता है फिर उसे सकल्पपूवक धारण कर लेना पडता है। इसीलिए हमारे यहा यही धारण कर लेना ही धम' है। यही कारण है कि स्वधम छोडा नही जा सकता, अ यथा वह पूणता की प्राप्ति मे बाधक होगा। यह सर्वोच्च धर्म है जो मानव की समस्त क्रियाओ मे व्याप्त रहता है। राम इसी भारतीय धम के सनातन सत्य हैं। वह मनुष्य रूप मे सवत्र, सदैव अपने स्वधम को जीते हैं।

वाल्मीकि और तुलसी न स्वधम के शास्त्र की नही बल्कि उसके सत्य की अभिव्यक्ति लौकिक और मानवीय स्तर पर की है। जिस रूप मे वह जन-साधारण के दनिक जीवन पर, उसक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक भौतिक जीवन पर तथा युद्ध और शांति, साध्य और साधन पर, उसके सपूण जीवन और पूरे परिवेश पर लागू होता है, उसी धम का वणन वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अपन ढग स किया है। वाल्मीकि न राम के लिए दो विशेषणो का प्रयोग किया है 'सत्यवाक्य और 'धृतव्रत'। सत्य धम का आधार है। यही है गाधी का सत्याग्रह' और यही है उनका 'राम'। यदि लाग सत्य को छोड दें तो सष्टि छिन भिन हो जाएगी। गाधी ने भूकप का मनुष्य के पाप का इश्वरीय दड कहा है। तमिल कवि कम्बन ने लिखा है कि हनुमान न श्रीराम को विश्वास दिलाया था कि रावण जब सीता को ले गया तो उसने उनका स्प नही किया। यदि वह स्पश करता तो "आसमान से तारे टूटकर गिर पडत तथा सागर अपन तटो म सिमट न रहता।" इसमे स्पष्ट है सष्टि का आधार नतिकता है और जब लोग धम छाड दत हैं तभी उन पर कष्ट आते हैं।

सत्य राम के जीवन का आधार था। वह स्वधम जीत थे। वनवास प्रसग म जब लक्ष्मण ने आमरण अनशन की धमकी दी थी ता राम ने डाटा था कि उपवास करना ब्राह्मण का स्वधम है, क्षत्रिय का नही। राम कभी दोमुही

बातें नही बातते। स्वय कैकेयी ने कहा, 'द्विर्नाभिभाषते'। सत्य ही राम के जीवन का आधार था। सत्य के पालन के लिए राज्य को त्यागने में राम को जरा भी दर न लगी, क्योंकि धर्म के सिक्के का एक पक्ष सत्य है, दूसरा त्याग। भारतीय धर्म और जीवन का यही फल है।

सीता के सतीत्व के विषय में कानाफूसी की सभावना मात्र में राम ने सीता की अग्नि परीक्षा कराई थी। यह उस धर्म सिद्धात के अनुसार कि मनुष्य को जीवन में सत्य होना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि दुनिया को भी(लोक को)विश्वास दिलाना चाहिए कि वह सत्य है।

यही है गाधी का राम। राम गाधी स्वय हैं—उनके जीवन की तमाम घटनाएं उनके चरित्र के अनेक सदम रामचरित्र के समान हैं।

वैष्णव सत तुकाराम ने कहा है 'न देखत डोळा ऐसा हा प्रकार पर पीड चित्त दुखी होत। यह सब हमसे देखा नहीं जाता दूसरों की पीड़ा में हमारा मन दुखी होता है। गाधी का राजनीति में आने का मर्म यही वैष्णव करुणा थी और कुछ नहीं।

सत्य को पाने की स्वय का जानने के रूप में स्वधर्म में प्रतिष्ठित होने की ही कथा गाधी की आत्मकथा है तभी गाधी ने इसे नाम दिया 'सत्य के प्रयोग'। जिस दिन १९२१ में उन्हें आत्मज्ञान (स्वधर्म ज्ञान) हो गया उसी दिन उनकी आत्मकथा लेखन में उनकी लेखनी स्वत रुक गई। उन्होंने लिखा, 'इसके बाद का मेरा जीवन इतना सार्वजनिक हो गया कि शायद ही कोई चीज ऐसी है जिसे जनता न जानती हो। सत्य से भिन्न किसी परमेश्वर के होने का अनुभव मुझे नहीं हुआ है। सत्यमय होने के लिए अहिंसा ही एकमात्र मार्ग है। ऐसे व्यापक सत्यपरायण के साक्षात्कार के लिए जीवमात्र के प्रति आत्मवत प्रेम होने की परम आवश्यकता है और उसकी इच्छा रखने वाला मनुष्य जीवन के एक भी क्षेत्र के बाहर नहीं रह सकता। इसी से सत्य की मेरी पूजा मुझे राजनीति में घसीट ले गई है। जो कहता है कि धर्म का राजनीति से सबध नहीं है, वह धर्म का जानना ही नहीं यह कहने में मुझे सकोच नहीं है। आत्मशुद्धि के बिना जीवमात्र के साथ एकता नहीं सध सकती। शुद्ध होने के माने है मन, वचन और काया से निर्विकार होना, रागद्वेष से रहित होना। हिंदुस्तान में आने के बाद भी मैंने अपने अतर में छिपे हुए विकारों को देखा है देखकर शरमाया हू पर हिम्मत नहीं हारी है। सत्य के प्रयोग करने में मैंने रस लूटा है। आज भी लूट रहा हू। पर मैं जानता हू कि मुझे अभी विकट रास्ता तय करना है। उसके लिए मुझे शून्यवत् बनना है।'[1]

अपनी आत्मकथा की प्रस्तावना में गाधी ने लिखा है, "मेरा कर्तव्य तो,

[1] आत्मकथा भाग ५ सस्ता सा० म० प्रकाशन, पृष्ठ ४२४ ४२६

जिसके लिए मैं तीस वर्षों से झीख रहा हू आत्मदर्शन है ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरी सारी क्रियाए इसी दृष्टि से होती हैं। मेरा सारा लेखन इसी दृष्टि से है और मेरा राजनीतिक क्षेत्र म आना भी इसी वस्तु के अधीन है।"

आइस्टीन ने गाधी के लिए कहा कि गाधी एक एसे राजनीतिक थे जिसकी सफलता न चालाकी पर आधारित थी और न किन्ही शिल्पिक उपायो या ज्ञान पर वल्कि मात्र उनके व्यक्तित्व की दूसरो को कायल कर देने की शक्ति पर ही आधारित थी।

एक बार प्रफुल्लचद घोष ने मिस्टर पियर्सन स पूछा कि आपका गाधी के बारे मे क्या विचार है ? उत्तर म उल्टे उन्होने अपने दो प्रश्नो को दुहराया जो उन्होने गाधी से पूछे थे। पहला प्रश्न था—आपका महानतम गुण क्या है ? दूसरा आपका महानतम दोष क्या है ? गाधी का उत्तर था "पहले के बारे म केवल दूसरे जानते हैं म नही। दूसरे के बारे मे—दोष मुझमे इतने हैं कि एक चुनना कठिन है। ऐसा उत्तर केवल वैष्णव जन ही द सकता है—जो अपनी किसी गलती को हिमालयन ब्लडर' कह सकता है।

१९२० मे लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद गाधी काग्रेस के नेता बने। उस समय शातिमय असहयोग का जो आन्दोलन देश मे शुरू हुआ था वह १९२४ म रोक दिया गया। तब से १९३० का स्वातन्त्र्य सग्राम शुरू होने तक काग्रेस की राजनीति की वागडोर गाधी ने स्वराज्य पक्ष के पडित मोतीलाल नेहरू जस नेताओ के हवाले कर दी। १९३० के आदोलन के समय फिर से गाधी ने नेतृत्व सभाला। १९३० का आन्दोलन, उसके बाद १९३१ मे गोलमेज परिषद के समय काग्रेस की तरफ से ब्रिटेन से हुई बातचीत और उसके असफल होने पर १९३२ ३३ म फिर से छिडा सत्याग्रह य सब घटनाए गाधी के प्रत्यक्ष नेतृत्व मे हुई थी। १९३२ म सत्याग्रह की जो दूसरी चेतना निकली, वह सामुदायिक रूप से चली और बाद मे व्यक्तिगत सत्याग्रह के रूप मे १९३४ तक किसी तरह चली। उसके बाद गाधी ने यह सत्याग्रह भी रोक दिया और काग्रेस का सूत्र सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद, राजेन्द्रप्रसाद राजगोपालाचार्य, सुभाषचद्र बोस और जयप्रकाश जैसे नये नेताओ के हवाले कर दिए और खुद काग्रेस से अलग हो गए। जब प्रातो मे काग्रेस मन्त्रिमडल बने तो यह तय हुआ कि उन पर निगरानी रखकर उनमे मेल रखने के लिए एक पार्लियामेंट्री बोर्ड नियुक्त किया गया, जिसके सरदार पटेल, राजेन्द्रप्रसाद और मौलाना आजाद सदस्य थे। यह गाधी की सलाह थी कि निगरानी रखी जाए।

१९३८ म सुभाषचद्र बोस काग्रेस के अध्यक्ष बने। उस समय काग्रेस म एक पुराना और एक नया ऐसे दो दल थे। जयप्रकाश, नरेन्द्रदेव, अच्युत पटवर्धन, डा० लोहिया आदि युवक नेता काग्रेस के भीतर समाजवादी दल की स्थापना कर चुके थ। राजेन्द्रप्रसाद, सरदार पटेल, मौलाना आजाद, पुरानी पीढी के

नेता थे। जवाहरलाल नेहरू इन दोनों दलों के बीच में थे और नए दल के नेता थे। जवाहरलाल हालांकि गांधी के विचारों से सहमत नहीं थे फिर भी उनके नेतृत्व के खिलाफ नहीं थे।

पुराने नेताओं को नई पीढ़ी के नेता अपने मार्ग के रोड़े मालूम होते थे पर गांधी को वैसा नहीं लगता था। कांग्रेस का कार्य और उसकी शक्ति बढ़ाने के लिए इन नए नेताओं की आवश्यकता गांधी समझते थे। यही उनकी क्रांतिकारी प्रवृत्ति की विशेषता और उनके चरित्र की श्रेष्ठता थी। सुभाषचंद्र बोस की नीति इन दोनों दलों से अलग थी। जब उन्होंने द्वितीय महायुद्ध छिड़ने की संभावना देखी तो उन्हें लगा कि कांग्रेस की तरफ से अंग्रेजों से मांग की जाए कि एक साल के भीतर भारत को स्वाधीन करें वरना हम प्रत्यक्ष आंदोलन करेंगे और अपना स्वतंत्र राज्यतंत्र कायम करके आजाद हो जाएं।

गांधी इस नीति से असहमत थे। इसलिए उन्होंने सुभाष से पट्टाभि सीतारमैया की हार को अपनी हार कहा। इसी के फलस्वरूप सुभाष ने अपना अध्यक्ष पद त्यागकर कांग्रेस के अंदर फारवर्ड ब्लाक की स्थापना की। महायुद्ध के थोड़े दिनों बाद ही सुभाष ने देश से बाहर निकलकर पूर्वी एशिया में आजाद हिंद की एक अस्थायी सरकार बनाई और आजाद हिंद फौज खड़ी की तथा अंग्रेजों से सीधे युद्ध छेड़ दिया। गांधी इससे असहमत थे। अपनी नीति के हिसाब से उन्होंने नवंबर १९४० से व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया। १९४२ में 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू होने को ही था कि गांधी समेत सभी नेता गिरफ्तार कर लिए गए। गांधी की गिरफ्तारी से उनके इक्कीस दिन के अनशन तक की छः महीने की अवधि को सन् '४२ के आंदोलन का प्रथम चरण कहना चाहिए। इसके बाद का दूसरा चरण क्रांतिकाय का है जिसके नेता थे जयप्रकाश और डा० लोहिया।

गांधी की राजनीति तथा भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में उनके योगदान की चर्चा करते हुए लार्ड पैथिक लारेंस ने एक बड़े मार्के की बात कही है, दो महायुद्धों के बीच के काल में हिंदुस्तान के स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व गांधी के हाथों में था। उस समय उनके सामने तीन मार्ग थे—पहला था ब्रिटिश जो अधिकार दें उनको कृतज्ञतापूर्वक कबूल करके उनमें स्वराज्य की शिक्षा मिलने के जो भी अवसर मिलें उनका पूरा-पूरा लाभ उठाना। स्वराज्य के लिए अपनी योग्यता को सिद्ध करने का यह मार्ग था। आमतौर पर अंग्रेज यही चाहते थे कि हिंद के लोग इसी रास्ते से चलें। भारत के अनेक लोग भी इस रास्ते को पसंद करते थे। पर गांधी जी ने तीन कारणों से इस रास्ते को

है—सहस्र पिताओं से एक माता श्रेष्ठ है।

गाधी से अलग जो राजनीति थी और है आज उस राजनीति म सब कुछ मान्य है। गाधी न इसी 'अराजनीति' का आजीवन विरोध किया। गाधी को जहा जब भी लगा कि सत्य की जगह असत्य पैठ गया, वहा उन्होंने आदोलन वापस ले लिया।

उपनिषद मे आता है—जिसे भास हुआ कि मिल गया उसको वह मिला ही नही। वह प्राप्ति नही भास है। जिसे सचमुच मिल जाएगा वह तो चुप हो जाएगा। बापू को विनोबा ने बहुत ही पास से देखा था। बापू को सतत भास होता था कि अभी और आगे जाना है, और जहा जाता है वह अभी दूर है। वे ऐसा कहते थे, लोगो का ठगते नही थ परतु लोग इसम ठग गए। वह जो दूरी थी अतर था, वह भगवान न आखिर मे तोड डाला। यदि भीतर भगवद-भक्ति रहे तो अतिम क्षण मे वह अतर भगवान के हाथो टूट जाता है। जैसे वृक्ष से फल टूट जाता है। इसी को क्राति कहते हैं। विकास करते करते एक क्षण ऐसा आता है जहा सारा अतर मिट जाता है—सब कुछ शून्य म विलीन हो जाता है। यही है गाधी की क्राति—हे राम।

गाधी की व्यक्तिगत क्राति तो हुई। उन्हे मोक्ष मिला। राजनीति मे अहिंसा और सत्य के साधन से उन्हे उनकी मुक्ति (साध्य) मिली। पर राष्ट्रीय, जातीय और मानवीय स्तर पर क्रमश तीन सीमाए तीन विफलताए सामने आई। गाधी अपने सपूर्ण व्यक्तित्व से शुद्ध भारतीय मनीषा और सगमनी चरित्र के थे। पर अपने राष्ट्रीय जीवन मे 'राम नाम' सत्य', 'अहिंसा, चर्खा, आश्रम', प्रार्थना सभा' आदि जो प्रतीक उन्होंने स्वीकार किए वे सब हिंदू धर्म के थे। इसलिए गाधी के तमाम प्रयत्नो, तपस्याओं और अतत आत्म बलिदान के बावजूद मुसलमान ईसाई और निम्न जातियो के लोग भारतीय राष्ट्र धारा (सगमनी) म सपूर्ण रूप से नही आ सके।

भारतीय मनीषा की सबसे बडी विशेषता है कि यह अपने धर्म विचार राष्ट्र की सीमा, जाति, शास्त्र, विश्वास इन सबसे (ट्रासिडेंट) ऊपर उठी हुई है। एक ओर सीमा से असीम होती है दूसरी ओर स्थूल म शून्य होती है। गाधी स्थल मे शून्य तो हुए पर धर्म विचार देश जाति और राष्ट्र की सीमा से परे नही जा सके।

गाधी की धार्मिकता साधन की पवित्रता और खासकर उनकी नैतिकता के मापदड ऐसे थे कि एक खास वर्ग के लोग विशेषकर वैश्य लोग और उच्च वर्ग के लोग ही उनके इद गिर्द आ सके। स्वभावत इसी वर्ग ने लाभ भी

उठाया ।

गाधी के नैतिक मापदड ऐसे थे कि व्यक्तिगत स्तर पर किसी व्यक्ति के लिए 'आत्मदमन' और 'ढोग' के अलावा और कोई विकल्प नही था ।

गाधी के सत्य से जितना झूठ, उनकी तपस्या और त्याग से जितनी अस्वाभाविक भोग-लिप्सा पैदा हुई वह किस सच्चाई का सबूत है ?

गाधी न असभव की बात की—रामराज्य, स्वराज्य, ग्रामस्वराज्य आदि इसीलिए उनका महानतम भाव अहिंसा (प्रेम) कायरता, आलस्य और कम-हीनता मे बदल गया ।

गाधी का सत्य व्यक्ति से भी बडा था, इसीलिए गाधीयुग का व्यक्ति 'दमन' से ही छोटा हो गया, कुठित, अमुक्त, असतुष्ट । विचार और व्यवहार के बीच कम और आचरण के बीच जो अतर राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुआ उसे भरने का केवल एक ही उपाय था—ढोग, झूठ जितना छोटा उतना ही बडा दिखने का आडवर ।

गाधी के अद्वैत से जो द्वैत पैदा हुआ उसम अतत 'काग्रेस' तो गाधी के साथ चली गई और पार्टी जवाहरलाल नहरू के साथ ।

गाधी आत्मप्रेम के पुरुष थे । उनका यह आत्मप्रेम इतना विशाल था कि इसमे सारा देश आ गया । देश प्रेम के माध्यम से ही उन्हान अपना प्रेम भोगा । इसीलिए गाधी को तो आत्ममुक्ति मिल गई पर सारा देश मानसिक रूप स पराधीन रह गया—इसे स्वराज्य नही हासिल हुआ ।

गाधी ने अपन सत्य के प्रयागो स अपना स्वधम ढूढा, उसे प्राप्त किया और आत्मप्रेम के कारण ही उन्ह अपन स्वधम को दूसरो पर आरोपित करना चाहा । इसी अतरविरोध से स्वधम प्राप्ति और जीने की धारा यहा रुक गई । जो 'मैं' हू उसे मैं स्वीकार नही करता—जो मैं नही हू वही बनने और दिखन की करुणा ही गाधी युग की राजनीति की करुणा है ।

गाधी के निजी सत्य का दूसरो पर आरोपण यही है वह वस्तु जिससे देश, समाज व्यक्ति का सत्य ढका हुआ है और उसी से जिस राजनीतिक सस्कृति का अधकार चारो ओर छाया है, उसमे यह देख पाना कठिन हो गया कि कौन क्या है, क्या है कहा है ।

जहा जीवन गौण हो जाए और राजनीति केवल जीवन के हर क्षेत्र मे प्रमुख हो जाए, यह सच्चाई उस सास्कृतिक विषमता स पैदा हुई जहा हर चीज दो म बटकर रह गई—अमीर और गरीब, गाव और शहर, धम और राज-नीति, व्यक्ति और समाज, वचन और कम, नीच और ऊच, साक्षर और निरक्षर, हिंदू और मुसलमान, सवण और शूद्र, आदि ।

बाटना और बटत चल जाना चाह कोई राजनीतिक दल हो या समाज, इसका बुनियादी कारण वह व्यक्ति है, जो स्वय को नही देखता, स्वय को नही

स्वीकारता। वह स्वय से दूसरा होना चाहता है जो कि वह नही है---गाधी न इस असत्य को देखा और कहा, "आओ, देखो सत्य का मेरा प्रयोग।" हम चमत्कृत रह गए गाधी के सत्य से, और हम सब अपने अपने सत्य के प्रयोग से विमुख हो गए। हमने मान लिया कि सत्य वही है जो दूसर के पास है।

गाधी अपनी पूरी सफलताओ और असफलताओ के बीच उठे हुए शायद आज कह रहे हैं कि अधेरा कभी इतना घना नही होता और न परिस्थितिया इतनी प्रतिकूल होती हैं कि वे प्रकाश के आगमन म बाधा बन सकें। वस्तुत तुम्हारे अतिरिक्त और कोइ बाधा नही है!

नवां अध्याय

संकल्प से महत्त्वाकांक्षा
जवाहरलाल नेहरू

जवाहरलाल नेहरू ने १९२६-२७ में यूरोप विशेषकर फ्रांस, जर्मनी और रूस की यात्रा की। इस दौरान उन्होंने अपने जीवन में इतने पहले, बल्कि इतनी जल्दी यह अनुभव कर लिया कि समाजवाद के ध्येयों की प्राप्ति केवल लोकतन्त्र द्वारा ही संभव है।

इसी समय नेहरू ने यह भी अनुभव कर लिया कि कृषि-प्रधान विकास और बहुसंख्या प्रधान देश के लिए विज्ञान और तकनीक द्वारा औद्योगीकरण की अनिवार्यता है। तीसरी निश्चित धारणा उनकी १९३६ में यह हो चुकी थी कि साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में राजनीतिक सिद्धांतों, मतवादों का कोई स्थान नहीं है।

नेहरू की ये तीनों दृष्टियां वस्तुतः उनके विश्वजनीन ऐतिहासिक बोध और चेतना में प्रतिष्ठित थीं और इसी चेतना से उन्होंने भारत और भारत की विदेश नीति का निर्धारण किया।

आजादी से इतने पहले नेहरू अपने चरित्र में, मानस में एक सुनिश्चित, स्थिर और निर्भीक व्यक्ति थे। इसी दृष्टि से उनका संकल्प यथासंभव अनुप्राणित और परिचालित था। लोकतन्त्र और समाजवाद के इतिहास में यह त्रिविध दृष्टि महत्त्वपूर्ण है। उनका 'व्यक्तित्व', 'बुद्धि' और 'व्यवहार' यह भी एक विचित्र त्रिमूर्ति है। उनका व्यक्तित्व लोगों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचता है। और उनकी स्पष्ट बुद्धि और सौम्य व्यवहार उसे बांधे रखता है। ऐसे भारतीय ने आजादी के बाद प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में जिस तत्त्व से बिखरते और टूटते भारतवर्ष को बांधा उसका नाम है—सबके प्रति स्निग्ध बंधुत्व भावना' रखने वाला जवाहरलाल नेहरू।

हिंदुस्तान की कहानी में नेहरू ने भारतीय राजनीति में गांधीजी के प्रवेश का उल्लेख अत्यंत भावुकता में किया है, "हम क्या कर सकते थे? गरीबी और पस्तहिम्मती के इस दलदल से जो हिंदुस्तान को अपने अंदर खींचे जाती थी, हम उसे किस तरह बाहर ला सकते थे? उत्तेजना, तकलीफ, उलझन के

कुछ वर्षो से ही नही बल्कि लबी पीढ़ियो से हमारी जनता ने अपने खून और मेहनत, आसू और पसीने का भेंट दी थी। हिंदुस्तान के शरीर और आत्मा म यह प्रक्रिया बहुत गहरी घुस गइ थी और उसने हमारे सामाजिक जीवन म हर एक पहलू मे जहर डाल दिया था। यह सब उस बीमारी की तरह था जो नसो नाडियो और फफडा का क्षय करती है और जिसमे मौत धीरे धीरे लेकिन यकीनी तौर पर होती थी और तब गाधीजी का आना हुआ। गाधी जी ताजी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फलना और गहरी सास लेना सभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे, जो अधकार मे पैठ गई और जिसने हमारी आखो के सामने से पर्दे को हटा दिया। तब राजनीतिक आजादी की एक नई शक्ल सामने आई और उसमे से एक नया अर्थ पैदा हुआ।"[1]

भारतीय राजनीति मे, विशेष कर गाधी के चरित्र मे इस अर्थ ने नेहरू के विवेक को इस तरह छुआ कि नेहरू भारत को देखने म समर्थ हुए। जैसे काइ मनोविश्लेषण रोग के अतस म घुस जाने का सकल्प कर ले, यही किया नेहरू ने। हिंदुस्तान की कहानी', 'भारत की खोज', 'मेरी कहानी', विश्व इतिहास की झाकी' उसी देखने, ढूढने', 'पता लगाने' के ही तो साक्ष्य है। वर्तमान से अतीत मे घुसकर जा भूतकाल के अधकार मे छिप चुका है, जो प्रत्यक्ष है पर रोग के कारण दिखता नही है, नेहरू ने उस बीमार देश, अस्वस्थ समाज और व्यक्ति के मानसिक विकार के कारण को जानकर उसे रोगी के सामने खोल देने की सार्थक कोशिश की और इस तरह उसको उसके बोझ से छुटकारा दिला देना चाहा।

यह सकल्प' कई शताब्दिया बाद गाधी मे फिर से उगकर आगे जवाहर लाल नेहरू मे एक स्वाभाविक सीमा तक समादृत हुआ।

इसी सकल्प भाव की वह मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया भी थी जिसमे जवाहर लाल को उस विदेशी राज्य के सामने लबे अरसे से सिर झुकाए रखने पर शर्म महसूस हुई, जिसने हमे गिरा दिया था और इतना हमारा अपमान किया था। तभी उस सकल्प मे यह इरादा स्पष्ट था कि "चाहे नतीजा कुछ भी हो अब आगे सिर न झुकाया जाए।'

सन १९१७ मे लिए हुए इस सकल्प पर नेहरू अपने जीवन के अतिम क्षणो तक अडिग रह होते।

विख्यात शायर इकबाल से उनकी एक आखिरी मुलाकात मे (इकबाल रोग शय्या पर थे) इकबाल ने कहा था कि 'तुममे और जिन्ना म क्या बात एक सी है? वह एक राजनीतिज्ञ है और तुम देशभक्त हो।"

१ हिंदुस्तान की कहानी, पृष्ठ ४८८ ८९

देशभक्त के अर्थ के साथ ही राष्ट्र की सीमा की चौहद्दी का पहली बार नेहरू ने तोडा। उन्होने बडी गभीरता से कहा, "जहा तक मेरे देशभक्त होने का सवाल है मुझे नहीं मालूम कि इन दोना मे, कम स कम इस शब्द के सकुचित मानो म, यह कोई एक विशेषता की बात है। लेकिन इस बात मे इत्मीनान सही थे कि मै कोई राजनीतिज्ञ नही हू, अगरचे मैं राजनीति के शिकजे म आ फसा हू और उसका शिकार बन गया हू।'[1]

राजनीति म गाधी युग की एक विशेषता यह थी कि एक व्यक्ति न स्थाई रूप से अनेक एस व्यक्तियो को अपना अनुगत बना लिया था जाकि ज्ञान, बुद्धि, अनुभव तथा राजनीतिक सूझ-बूझ म बढे चढे थे। मोतीलाल, जवाहरलाल, चितरजन दास, राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटल जैसे व्यक्तियो न अपनी सफल वकालत छोडकर गाधीजी का अनुसरण किया। गाधीजी भौतिक साध्यो के लिए भी त्याग और तपस्या पर जोर देते थे। इसीलिए उनके अनुयायियो की प्रतिष्ठा भी उनके त्याग के अनुपात म ही होती थी। गाधी के अलावा जवाहर-लाल के आस पास जो प्रभामडल बना उसका प्रमुख कारण यही था कि उन्होन एक आदर्श के लिए तथा गाधीजी का अनुसरण करन के लिए कितना बडा त्याग किया है।

गाधी किसी अतद ष्टि के सहारे चलत थे और अपनी आत्मा की प्रेरणाओ पर उनका सपूर्ण विश्वास था भले ही उसने हिमालय-सी बडी भूल कराई हो। ठीक इसके विपरीत जवाहरलाल थे। वह बुद्धि के सहारे चलते थ और अपनी सकल्प शक्ति पर उन्हे पूर्ण विश्वास था।

गाधी और नेहरू क बीच सारे विरोधो का यही मूल था। गाधी स्वभावत चुप हो जाते थे, पर नेहरू गाधी पर झल्लाते थे। फरवरी १९२२ म चौरी चौरा म उत्तेजित भीड द्वारा थाने को आग लगा देने पर गाधी द्वारा सपूर्ण असहयोग आन्दोलन को ही स्थगित कर देना, जवाहरलाल का पसद नही था। नेहरू सारे आदोलन का वैज्ञानिक दष्टि स देखत थे, गाधी उस आत्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि स देखते थे।

दरअसल गाधी की बातो और व्यवहारो म धार्मिकता का पुट जवाहर-लाल का अच्छा नही लगता था। परतु अहिंसक आदोलन और असहयोग के आदर्श और नैतिक मूल्यो की ओर नेहरू आकृष्ट हुए और आगे इसी के साथ वह गाधी द्वारा पवित्र साध्य के लिए पवित्र साधना पर दिए जाने वाले जोर से भी प्रभावित हुए।

पर ईश्वर के मामले म गाधी और नेहरू दोनो दो छोर पर थे। व्यक्तिगत सत्याग्रह के दिनो मे जवाहर गाधी से मिलने सेवाग्राम गए। विदा होते समय

1 हिंदुस्तान की कहानी पृष्ठ ४८० ८१

कस्तूरबा ने कहा— ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे।' नेहरू ने कहा "बा ! ईश्वर कहा है ? अगर वह है तो गहरी नींद में सोया होगा।"

इस पर गाधीजी हम पडे। कहा कि जवाहरलाल अनेक आस्तिकों की अपेक्षा ईश्वर के अधिक निकट है।' जवाहरलाल पहली बार १९२१ में ६ दिसबर को हडताल की नोटिस बाटने में इलाहाबाद में गिरफ्तार हुए और उसी रात लखनऊ जेल के लिए रवाना किए गए। जवाहरलाल नेहरू की जिला जेल लखनऊ की डायरी उस समय का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसे नेहरू ने बहुत सयम से लिखा है। कही भी कोई भावुकता नही।

सन १९२०-२१ में अपना राजनीतिक जीवन आरभ करने के पूर्व नेहरू ने सयुक्त प्रात (यू० पी०) का दौरा करना आरभ किया। उन्होंने हर मौसम में देहाती इलाकों की छानबीन की— इन यात्राओं और दौरों ने मेरे अध्ययन की भूमिका के साथ मिलकर मुझे अतीत के प्रति एक अतद ष्टि दी। नीरस बौद्धिक ज्ञान को एक रागात्मक ग्रहणशीलता मिली और धीरे धीरे भारतवर्ष के मेरे मानसिक चित्र में एक नई यथार्थता आई। इस प्रकार धीरे धीरे भारत के इतिहास की दृश्यावली, उसके उत्थान पतन, उसकी जय पराजय मेरे सामने उदघाटित हुई।'

जवाहर के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण अनुभव था विशेषकर इसलिए कि वह बचपन से ही भारतीय जीवन के प्रेरणा स्रोतों से दूर रह थे। राजनीतिज्ञों को भारतवर्ष को समझने के लिए गावों में भेजना गांधीवादी राजनीति का प्रधान अग था। जवाहरलाल ने उस जीवन नीति के रहस्य को समझा था, हम लोगों के आदर्श ऊचे थे और लक्ष्य दूर। अवसरवादी राजनीतिक दृष्टि से हम कदाचित बडी बडी भूल करते थे, लेकिन हम यह कभी नही भूले कि हमारा मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता के जीवन स्तर को ऊचा उठाना है, न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी। हम जनता की सच्ची आतरिक शक्ति को ही दृढ करना चाहते थे क्योंकि हम जानते थे इसी से और सब ध्येयों की भी प्राप्ति होगी। हमें एक विदेशी शासन की दीन और लज्जाजनक दासता की कई पीढियों का प्रभाव दूर करना था।

जवाहर लगातार देश भर में दौरा करते थे। उन्होंने यह समझा कि भारत की जिस यथार्थता को वह पकड नही पा रहे थे उसका रहस्य भारत के विस्तार में या उसके निवासियों की विविधता में नही, बल्कि किसी अथाह गहराई में छिपा हुआ था जिसको वह माप नही सके थे और जिसका उन्हें आभास मात्र कभी कभी हो जाता था।

वह जैसे-जैसे राष्ट्रीय सग्राम द्वारा भारत की राजनीति में गहरे उतरते गए वैसे-वैसे इनमें एक भीतरी विश्वास हो रहा था। भारत उनके लिए

बौद्धिक अवधारणा नही रहा था, बल्कि एक गहरी रागात्मक अनुभूति का सजीव रूप ले रहा था।

मार्च १९२६ से नवबर १९२७ तक पडित जी यूरोप मे थे। और उन्होने नवीन परिस्थितियो और नवीन समाजशास्त्र, समाजवाद और उसके व्यावहारिक पक्ष का निकट से अध्ययन किया। फरवरी सन् १९२७ मे ब्रुसल्स मे साम्राज्य-विरोधी सम्मेलन मे भाग लिया। इस सम्मेलन मे इनका सपर्क ससार के अनेक महत्त्वपूर्ण कम्युनिस्टो, सोशलिस्टो और उग्र राष्ट्रीयतावादियो से हुआ। इस सम्मेलन मे भाग लेकर नेहरू ने पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर प्रवेश किया।

उस समय नेहरू कम्युनिज्म के मार्क्सवादी सिद्धात से उतने प्रभावित नही थे जितने कि सोवियत पद्धति की सफलता से। लेनिन के व्यक्तिगत नेतृत्व से और उनकी सफलता से उन्हे विशेष प्रेरणा मिली थी। इनकी तुलना मे 'सोशल डेमोक्रेट' लोगो की रीति नीति और उनके आचरण को वे ठीक नही मानते थे।

नेहरू साम्यवाद के लक्ष्य—वर्गहीन समाज की स्थापना के प्रति आकृष्ट हुए थे लेकिन उनके वर्ग सघर्ष और सर्वहारा के अधिनायकवाद के सिद्धात को वे पसद नही करते थे। मार्क्सवाद के ऐतिहासिक विकास के सिद्धात को मानते हुए भी अतिरिक्त श्रम और उनके दार्शनिक पक्ष को, उसके द्वद्वात्मक भौतिक-वाद को पूरी तरह स्वीकार नही करते थे।

इस प्रकार मार्क्सवाद और समाजवाद की बहुत-सी बातो को स्वीकार करते हुए भी वे पक्के मार्क्सवादी नही बन सके। दिसबर १९२७ मे स्वदेश लौटने के बाद नेहरू ने काग्रेस कार्य समिति की बैठक मे भाग लिया। उनमे एक प्रस्ताव भारत के लिए पूर्ण स्वतत्रता के सबध मे था। युद्ध के सकट और साम्राज्यवाद विरोधी लोगो से काग्रेस को सबधित करने के सबध मे भी उन्होने प्रस्ताव रखे।

मद्रास काग्रेस अधिवेशन के अवसर पर वहा एक रिपब्लिकन सम्मेलन हुआ उसकी अध्यक्षता नेहरू ने की। मद्रास काग्रेस अधिवेशन के बाद ४ जन-वरी, १ २८ को गाधी ने नेहरू को चेतावनी दी, 'तुम बहुत तेज जा रहे हो। तुम्हे सोचने और परिस्थिति के अनुकूल बनने को समय लेना चाहिए था। पता नही तुम अब भी विशुद्ध अहिंसा मे विश्वास रखते हो या नही।"
१७ जनवरी, १९२७ को गाधी ने अपने दूसरे पत्र मे लिखा, 'अगर मुझसे कोई स्वतत्रता चाहिए तो मैं उस नम्रतापूर्वक अचूक वफादारी से तुम्हे पूरी स्वतत्रता देता हू। तुम्हे मेरे और मेरे विचारो के विरुद्ध खुली लडाई करनी चाहिए मैं तुमसे अपना यह दुख छिपा नही सकता कि मैं तुम्हारे जैसा बहा दुर, वफादार, योग्य और ईमानदार साथी खोऊ, पर कार्यसिद्धि के लिए साथी-

पन का कुर्बान करना पडता है।

उस समय नेहरू पर सोवियत रूस और समाजवाद का विशेष प्रभाव था और इस बात से गाधी अत्यत दुखी थे।

सन १९२८ म नेहरू एक ओर अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस के अध्यक्ष चुने गए दूसरी ओर इन्होने इसी वर्ष युवक सगठनों और युवक आन्दोलन का भी नेतत्व किया। स्थान स्थान पर 'यूथ लीग' सगठित की गई। युवको मे समाजवादी और क्रातिकारी विचारो का प्रचार होने लगा।

१९२९ म लाहौर काग्रेस के अध्यक्ष पद से नेहरू ने देश के लिए पूर्ण स्वाधीनता के सघर्ष की घोषणा की। उन्होने यह भी घोषणा की कि 'मैं समाजवादी और प्रजातात्रिक हू।

सविनय अवज्ञा आदोलन के कारण बन्दी नेहरू जब अगस्त सन् १९३४ म 'पेरोल' पर रिहा हुए तो उन्होने गाधी को एक लबा पत्र लिखकर उसम अपने मन के असतोष और गाधीजी से अपने मतभेदो की चर्चा की। नेहरू ने अपने पत्र मे लिखा

जब मैंने सुना कि आपने सत्याग्रह आदोलन बद कर दिया है तो मुझे दुख हुआ। ऐसा करने के जो कारण आपने बताए और आगे के काम के लिए जो सुझाव आपने दिए उन्होने मुझे हैरत म डाल दिया। मैंने अचानक और जोरो से महसूस किया कि मानो मेरे भीतर की कोई चीज टूट गई है। ऐसा बधन टूट गया जिसकी मेरे लिए बडी कीमत थी। मैंने अपने को इस लबी चौडी दुनिया म भयानक रूप से अकेला महसूस किया। लेकिन मैंने जो देखा वह रुकावट और हार नही थी, बल्कि आध्यात्मिक हार थी, जोकि सबसे अधिक भयकर है। ऐसा न समझिए कि मेरा इशारा कौसिल म प्रवेश के सवाल की ओर है। उसे मैं बहुत महत्त्व नही देता। किन्ही हालात म इन व्यवस्थापिका सभाओ म खुद जाने की कल्पना कर सकता हू। लेकिन मैं चाहे व्यवस्थापिका सभाओ म खुद जाकर काम करू चाहे बाहर से, मैं सिर्फ एक क्रातिकारी के तौर पर काम कर सकता हू, जिसका मतलब ऐसे इसान से है जो कि बुनियादी और क्रातिकारी परिवर्तन चाहता है वह चाहे राजनीतिक हो या सामाजिक क्योकि मुझे विश्वास हो गया है कि किन्ही और तरह की तब दीलियो से हिंदुस्तान और दुनिया को न शाति मिल सकती है न सतोष।

गाधी ने इस पत्र का उत्तर १७ अगस्त १९३४ को दिया 'मैं तुम्हे विश्वास दिलाना चाहता हू कि तुमने मुझमे अपना साथी खोया नही है। मैं वही हू जैसा तुम मुझे १९१७ म और उसके बाद से जानते हो। मुझे देश के लिए पूरे अर्थ म सपूर्ण स्वाधीनता चाहिए और प्रत्येक प्रस्ताव जिससे तुम्हे पीडा हुई है उसी लक्ष्य को ध्यान म रखकर तैयार किया गया है। इन प्रस्तावो के लिए और उनकी सारी कल्पना के लिए पूरी जिम्मेदारी मेरी है। विचार

हीन बाता के बारे मे प्रस्ताव को निर्विकार हाकर जरूर पढो। समाजवाद के विषय मे उसमे एक भी शब्द नही है। समाजवादियो का अधिक से अधिक लिहाज रखा गया है। क्योकि उनम म कुछ के साथ मरा घनिष्ठ परिचय है। क्या मुझे उनका त्याग मालूम नही है ? मगर मैंन देखा है कि सब के सब जल्दी म हैं। क्यो न हो ? बात इतनी ही है कि यदि मैं उनकी तरह तज नही चल सकता ता मुझे उनम कहना पडता है कि ठहरो और मुझे अपन साथ ले लो। अक्षरश मेरा यही रवया है। मैंने शब्दकोश म समाजवाद का अथ देखा है। परिभाषा पढन स पहले जहा था, उसमे आग नही पहुच सका।"

पडित जी न अपने तत्कालीन विचारा को अपनी पुस्तक 'विदर इडिया' और 'रीसेंट एसज एड राइटिंग्स' नामक पुस्तका के लेखो मे व्यक्त किया। उन म मार्क्सवाद स प्रभावित आस्ट्रियाई समाजवादियो के विचारो की झलक मिलती है। उसम प्रजातात्रिक व्यवहार और आर्थिक स्वतत्रता के सिद्धाता को एक साथ रखन की चेष्टा की गई है। उस समय काग्रेस के दक्षिणपथी नेतागण नहरू के विचारो को छद्मवेशी कम्युनिस्ट विचार मानते थे और कम्युनिस्ट लोग उन्हे वैधानिक सुधारवादी समाजवादी मानत थ। नहरू के इन विचारो का सबसे अधिक प्रभाव काग्रेस के भीतर रहकर राष्ट्रीय आदोलन मे काम करने वाले युवका पर पडा जिन्होने आग चलकर काग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना की।

१७ जनवरी, १९३६ को नेहरू न लार्ड लाथियन के नाम जो पत्र लिखा है, वह उनके समाजवादी रूप और भविष्य के प्रधानमत्री व्यक्तित्व का समझन देखने की कुजी है। 'प्रिय लार्ड लाथियन, पूजीवाद ने परिग्रह की और इन गहरी प्रेरणाओ को, जिनस हम छुटकारा पाना चाहते हैं, उत्तजित कर दिया है। शुरू शुरू मे उसने बहुत भलाई भी की और उत्पादन बढाकर रहन सहन की सतह बहुत ऊची कर दी। परतु मालूम हाता है अब उसकी उपयोगिता नही रही और आज वह समाजवादी दिशा म सब तरह की प्रगति को न सिर्फ रोकता है बल्कि हममे अनेक बुरी आदता और वृत्तियो को बढावा देता है। मेरी समझ मे नही आता कि जिस समाज का आधार परिग्रह हो और जिस मे प्रमुख प्रेरणा लाभ के हेतु की हो, उसम हम समाजवादी ढग पर कसे आगे बढ सकते हैं। जैसा आप कहत हैं यह सच है कि पूजीवादी व्यवस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता पैदा नही की, वह तो महज उसकी वारिस है। इसने राज्य के भीतर भूतकाल म गहयुद्ध को मिटाया या कम किया है, पर इसने वग सघर्ष को तज किया है और वह इस हद तक बढ गया है कि भविष्य मे गृहयुद्ध का खतरा पैदा हो गया है। समाजवाद कसे आएगा ? आप कहत हैं कि वह उत्पादन और वितरण के साधना के विश्वव्यापी राष्ट्रीयकरण स नही आएगा। क्या उसस लाभ और परिग्रह का हेतु समाप्त नही हो जाएगा ?

और उसके बजाय सामुदायिक और सहकारी हेतु स्थापित नहीं हो जाएगा ?

मेरे ख्याल से सिद्धांत रूप में लोकतंत्री उपायों से समाजवाद कायम करना मुमकिन है, बशर्ते कि पूरी लोकतंत्री प्रक्रिया उपलब्ध हो। क्योंकि समाजवाद के विरोधी जब अपनी सत्ता को खतरे में देखेंगे तब वे लोकतंत्री उपाय को अस्वीकार कर देंगे। क्या इंगलैंड में इस बात का अनुभव किया जाता है कि भारत के लिए पिछले कुछ वर्ष कैसे रहे हैं ? किस प्रकार मानव गौरव और शिष्टता को कुचलने के प्रयत्न ने और शरीर से अधिक आत्मा पर जो आघात हुए हैं, उन्होंने हिंदुस्तानी जनता पर एक स्थायी असर छोड़ा है। मैंने पहले कभी इतनी अच्छी तरह अनुभव नहीं किया कि कैसे सत्ता के अत्याचारी प्रयोग से जो उसका प्रयोग करते हैं और जो उस प्रयोग में कष्ट उठाते हैं उन दोनों का पतन होता है। क्या स्वतंत्रता और सत्ता का किला हस्तांतरित करने की यही भूमिका है ? अत्याचार की प्रतिक्रिया लोगों पर अलग अलग होती है। कुछ हिम्मत छोड़कर बैठ जाते हैं, कुछ और मजबूत हो जाते हैं।[1]

सन १९३७ के आम चुनाव में नेहरू ने देश का तूफानी दौरा किया। इससे उन्होंने भारत के विराट पुरुष को उसके स्वातन्त्र्य अधिकार से पुनर्जागृत किया। १९३७ के आम चुनाव में कांग्रेस को बड़ी विजय मिली। पर नेहरू ने उस १९३५ के 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट' में छिपे सत्य को पहचाना था जो उस प्रांतीय स्वशासन और संघीय ढांचे में निहित था। "इस तरह इस ढांचे के प्रतिक्रियावादी होने के साथ ही उसमें स्वविकास का तो कोई भी बीज नहीं था, ताकि किसी क्रांतिकारी परिवर्तन की नौबत न आए। इस एक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाड़ों से, जमींदारों से और हिंदुस्तान की दूसरी प्रतिक्रियावादी जमातों से दोस्ती और भी ज्यादा मजबूत हो गई। पृथक् निर्वाचन पद्धति को इससे बढ़ावा दिया गया और इस तरह अलग होने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला।"[2]

इसी सच्चाई के फलस्वरूप नेहरू का निजी मत था कि कांग्रेस को मंत्रिमंडल नहीं बनाना चाहिए। लेकिन कांग्रेस में अधिकांश लोग उसके लिए लालायित थे।

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ने के बाद ही पंडित नेहरू ने कांग्रेस की युद्ध उपसमिति के अध्यक्ष की हैसियत से एक वक्तव्य में कहा कि हमने अंग्रेजी हुकूमत के सामने सौदा करने की भावना से अपनी मांगें नहीं रखी हैं। हम संसार की स्वाधीनता मिलने और संसार की उस स्वाधीनता में भारत के स्थान का विश्वास होना चाहिए। तभी हमारे और हमसे भी अधिक हमारे मस्तिष्क

१ 'कुछ पुरानी चिट्ठियां', पृष्ठ १९५-२१२
२ हिंदुस्तान की कहानी, पृष्ठ ४९८

श्रार हृदय के लिए युद्ध का कुछ अथ हो सकता है, क्योकि तब हम ऐसे ध्येय की प्राप्ति के लिए लड सकेंगे जो सिफ हमारे लिए नही बल्कि ससार की जनता के लिए उपयुक्त होगा।

१९४० म गाधी के व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आदोलन म पहले सत्याग्रही विनोबा भावे थे और दूसरे जवाहरलाल। १३ अक्तूबर को अपनी गिरफ्तारी पर गोरखपुर के मजिस्ट्रेट के सामने उन्होने बयान दिया कि निजी व्यक्ति की तरह हमारी गिनती कम भी की जा सकती है, लेकिन भारतीय जनता के प्रतिनिधि अथवा प्रतीक के रूप म हमारा बडा महत्त्व है। भारतीय जनता की ओर से हम स्वाधीनता के अधिकार की माग करते है और किसी भी दूसरी ताकत को चुनौती देते है जो हमारे इस अधिकार मे बाधक है।

१५ अगस्त, १९४७ को भारत और पाकिस्तान दो स्वतत्र देश स्थापित हो गए। भारत मे जवाहरलाल नेहरू प्रथम प्रधानमत्री बने।

सन १९४७ म आजादी मिलने के प्रश्न पर लोगो मे अनेक आशकाए व्याप्त थी। समाजवादी विचारधारा के नेतागण देश मे प्रजातात्रिक क्रांति की तयारी मे लगे थे। उनको इस बात मे विश्वास नही था कि अग्रेज भारत को छोडकर इस प्रकार चले जाएगे। यही कारण है कि समाजवादी नेताओ ने सविधान परिषद का बहिष्कार किया और धारा सभाओ म पहुचकर भी काग्रेस मत्रिमडलो मे हिस्सा नही लिया।

काग्रेस के भीतर, आजादी मिलने पर सत्ता हथियाने का मानो उन्माद पैदा हो गया था। काग्रेस के मत्रिगणों म सत्ता की लालुपता भयकर रूप धारण कर चुकी थी। काग्रेस के भीतर एक विचारधारा और एक नेता का नारा लगाने वाले जे० बी० कृपलानी ने जो उस समय काग्रेस के अध्यक्ष थे, अपने पद से इस्तीफा दे दिया। उन्होने सत्ताधारी काग्रेस मत्रियो की कडी आलोचना की।

समाजवादी लोग काग्रेस की दक्षिणपथी नीतियो से असतुष्ट थे। उनकी ओर से यह कहा जाता था कि आजादी की प्राप्ति के बाद काग्रेस को भग कर देना चाहिए और उसके कायकर्ताओ को लोक सेवक सघ के रूप मे काय करना चाहिए। बाद मे गाधी ने भी इस विचार का समथन किया।

द लास्ट डेज आफ ब्रिटिश राज के लेखक लियोनार्ड मोसले ने जवाहर-लाल के बारे मे लिखा है कि 'सर्वोच्च सत्ता की चोटी तथा भारतीय जनता के हृदय पर सम्पूर्ण आधिपत्य तक नेहरू के पहुचने का माग तीर्थयात्री का मार्ग अवश्य था, किंतु उस रास्ते म इतने खदक थे, इतनी खाइया थी कि अगर भाग्य और सयोग ने नेहरू का साथ नही दिया होता तो रास्ते से वह विचलित

भी हो सकते थे। सुभाषचंद्र बोस को कांग्रेस ने बर्दाश्त नहीं किया, यह पहला संयोग था। गांधी से नेहरू अपनी तमाम असहमतियों, विरोधों के बावजूद कभी उनसे अलग नहीं हुए यह दूसरा संयोग था। सरदार पटेल नंबर एक बनने की होड में नेहरू के रास्ते में नहीं आए यह भी एक संयोग था। और अंतिम संयोग यह था कि समाजवादी लोग जब कांग्रेस छोड रहे थे, तब भी नेहरू ने कांग्रेस नहीं छोडी।"

किंतु संयोग भी अकारण उत्पन्न नहीं होते। उनके भी कारण होते हैं। कारण नेहरू की विद्वत्ता में था, चरित्र में था, निश्छल देशभक्ति में था और एक सजीव व्यक्तित्व में था।

भारतीय संविधान की कल्पना उन्होंने की। योजनाबद्ध विकास का स्वप्न सबसे पहले उन्होंने ही देखा और समस्त संसार में भारत की क्या भूमिका होनी चाहिए, इसकी भी भावी देश के सामने उन्होंने ही प्रस्तुत की।

नेहरू क्रांतिकारी थे पर उनका विश्वास सुधार और विकास के दर्शन में था। वह शांतिप्रिय थे थोडा वैराग्यभाव भी था, पर सत्ता पर आरूढ होने के प्रति उनमें जरा भी वैराग्य नहीं था। वे ऐसे राष्ट्रवादी थे, जिसके भावतंतु अंतर्राष्ट्रीयता से बंधे हुए थे। वह एकाकी थे, निस्संग थे, अगाध शांति की खोज में थे, किंतु जिंदगी से उन्हें अनन्य प्रेम भी था।

अपने आपके प्रति उनमें अन्यय विश्वास था। वे मानते थे कि मैं किसी भी विषय पर बोल सकता हूं। कितना भी कठिन काम हो, कर सकता हूं। पराधीन भारत में, आजादी की लडाई लडते हुए भी नेहरू स्वतंत्र भारत के भावी निर्माण की बातें बहुत बडे पैमाने पर सोचते थे। और उनकी वे बातें उनके वरिष्ठ साथियों को पसंद नहीं आती थीं। वे उन बातों को हवाई समझते थे। और गांधी की कठिनाई यह थी कि उन्हें गांधीवादियों के साथ समाजवादी, गांधीवादी जवाहर को लेकर चलना पडता था। गांधी ने उस समय एक पत्र में लिखा है 'योजना के बारे में जवाहरलाल की सारी कोशिशें बेकार हैं, मगर वह ऐसी किसी चीज से खुश नहीं होता जो बडी नहीं हो।"

भारत के आर्थिक विकास के मामले में जवाहरलाल गांधी के बहुत से विचारों को पिछडा समझते थे। और गांधी भी जवाहर की बहुत सी बातों को फालतू और भारत के लिए अनुपयुक्त मानते थे। गांधी का विचार था कि आदमी की आवश्यकताएं जितनी कम हों उतना ही अच्छा है। जवाहरलाल का विश्वास था कि आदमी की आवश्यकताएं न होंगी तो उसका विकास कैसे होगा?

गांधी का मनुष्य 'व्यक्ति' था, जवाहरलाल का मनुष्य 'इंडिविजुअल' था। यद्यपि दोनों का बौद्धिक विकास सकाने की अंग्रेजी शिक्षा और भाषा के माध्यम से हुआ था, पर गांधी ने उस शिक्षा, उस भाषा के पार जाकर भारत को उसके स्वधर्म में देखा था। जवाहरलाल उस सीमा को नहीं तोड पाए। इसका मूल

कारण यह है कि नेहरू अपनी सारी विद्वत्ता, ऐतिहासिक दृष्टि के बावजूद भारत के धम का रहस्य नही प्राप्त कर सके। वह धम को बड़े संदेह यहा तक कि एक प्रतिक्रियावादी भाव म देखत थ। "मेरी प्रकृति धार्मिक नही थी और धम के दमनकारी बधना को मैं पसद भी नही करता था, इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे जीवन माग की खोज करता।"[1]

नेहरू का वह दूसरा जीवन माग 'उपभोग' का था 'मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूरा तथा विविध आनद लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इनकार करता था कि मैं उसम पाप की कोई बात समझू। साथ ही खतरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करत थ। पिताजी की तरह मैं भी हर वक्त कुछ हद तक जुआरी था। पहले रुपए का जुआरी, और फिर बडी बडी बाजियो का—जीवन के बडे बडे आदर्शों का।'[2]

भोग ही तो भारतीय धम का रहस्य है। पर जो धम को बिना अनुभूत किए इस पश्चिम के रिलिजन के अथ म देखेगा वह धम के प्रति क्रिया का बोध न पाकर केवल प्रतिक्रिया का बोध पाएगा। इस प्रतिक्रिया का ही फल है उपभोग। स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का दर्शन उपभोग का था इसीलिए इनकी सारी राजनीति, अर्थव्यवस्था, शासनव्यवस्था म उपभोक्ता समाज पैदा हुआ।

हम कज्यूम करते है रचना नहा करत। हम बनते ह होते नही। हम भोगते हैं, सजन नही करत। इतिहास साक्षी है जिसके हाथ म ताकत है वहा विचार नही। हर वक्त कपडे बदलते रहते हैं।'[3]

आवडी म २२ जनवरी, १९५५ को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ६०वें अधिवेशन के भाषण मे नेहरू ने कहा, भारी मात्रा म उत्पादन अनिवायत भारी खपत को जन्म देता है, जिससे आग और कई चीजें निकलती हैं। खास तौर म उपभोक्ता की क्रय शक्ति अथ शक्ति या खरीदने की ताकत काफी कमा, खरीदने की ताकत बढाने के लिए फैलना होगा जिससे कि उत्पादन और खपत का चक्कर पूरा होता रहे। फिर आप ज्यादा पैदा करेंगे ज्यादा खपाएगे और इसका नतीजा यह होगा कि आपका जीवन स्तर ऊचा होगा।'

केवल ज्यादा उपभोग की शक्ति म जीवन स्तर ज्यादा ऊचा उठेगा नेहरू की इसी आर्थिक योजना दृष्टि से आजाद भारत का वह मनुष्य निकला है जो अनुभव करता है, 'मुझे सभी कुछ मिला पर सब बर्बादी का। शिक्षा मिली, पर

१ मेरी कहानी पृष्ठ ४२
२ मेरी कहानी, पृष्ठ ४२
३ व्यक्तिगत (नाटक), डा० लाल

उसकी नीव भाषा नहीं मिली, आजादी मिली, लेकिन उसकी नीव आत्मगौरव नहीं मिला, राष्ट्रीयता मिली लेकिन उसकी नीव अपनी ऐतिहासिक पहचान नहीं मिली।'

सकल्प का आधार आस्था है। पर आस्था किस पर आधारित है ? वह किस चीज पर स्थित है ? वह 'अस्ति' क्या है ? मानव के लिए जितने उपादेय तत्त्व (अभ्युदय और निःश्रेयस) है, ध्येय या लक्ष्य है, उनकी दृष्टि ही आस्था बनाए रखती है। ऐसी आस्था को हमारे यहा प्रज्ञामयी आस्था कहा गया है।

अगर आस्था प्रज्ञामयी नही है, तो सकल्प से रचना शक्ति, सृजन शक्ति क्षीण हो जाती है, और सकल्प के भीतर से महत्त्वाकाक्षा का उदय होता है।

जवाहरलाल की राजनीति के सदर्भ मे यह महत्त्वाकाक्षा अमर और महान हो जाती गई और भारत की जनता की महत्त्वाकाक्षा उपभोग की रह गई। नेहरू का उपभोग महान वस्तुए है पर सामान्य जन का उपभोग केवल सामान्य वस्तुए हो गई। धन, पद सत्ता, शक्ति केवल उपभोग के लिए। इसका फल यह हुआ कि प्रधानमत्री नेहरू के चारो तरफ—(१) सामतवादी (२) आधुनिक, पश्चिमवादी, (३) अभिजातवादी (एलीट) शक्तिया घिर आई और समाज वाद के नाम पर एक नव पूजीवाद सारे देश मे फलने लगा। व्यक्ति की जगह 'इडिविजुअल', रचना के स्थान पर 'उपभोग', स्वतन्त्रता के नाम पर कुछ भी कर बैठने की आजादी, उदारता के नाम पर राष्ट्रीय भ्रष्टाचार और अत्याचार के प्रति क्षमा और माफी अतर्राष्ट्रीय महानता के स्थान पर राष्ट्रीय हानि की आत्मस्वीकृति, विकास और विज्ञान के नाम पर भारत का पश्चिमीकरण—ये सारी सच्चाइया जवाहरलाल नेहरू की महत्त्वाकाक्षा का सबूत है।

जिस सकल्प शक्ति से पडित नेहरू ने दिसबर १९१८ से लेकर १९४५ तक अग्रेजो से भारत की इज्जत और स्वतन्त्रता के लिए इतनी विकट और बडी लडाई लडी प्रधानमत्री बनने के कुछ ही वर्षो बाद अमरीका और पश्चिम के इस फँसने का उन्होने कैसे क्या मान लिया कि भारतवर्ष एक अविकसित देश है ? हमारे विकास का प्रतिमान कोई दूसरा हो जाए यह कैसी करुणा है नेहरू के भारतवर्ष की ? निश्चय ही इस करुण नाटक के नायक है जवाहरलाल।

मध्य से नहीं पहि[illegible] [illegible] से पैदा[illegible] [illegible] का मध्यवर्ग, जिसके ऊपर का [illegible]सा प[illegible] [illegible] नीचे [illegible] [illegible]वादी (यह दानो के मध्य मे रहता है—[illegible] [illegible]ति ही जवाहर लाल नेहरू की [illegible] [illegible] [illegible] मर का प्रधान [illegible] मध्यवर्ग की [illegible] [illegible]) [illegible]

के लोगो की राजनीति जवानी थी। क्या नरम और क्या गरम, दोनो विचार के लोग मध्यवर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते थे और अपने अपने ढग से उसकी भलाई चाहते थे।[1]

उसी जबानी राजनीति के अनुसार पडित नेहरू ने कहा था कि "आजाद हिंदुस्तान मे काला बाजार करने वाले को निकट के बिजली के खभे पर लटका कर मार दिया जाएगा।' पर व्यवहार में १९४७ से लेकर १९६४ तक जब तक पडित नेहरू आजाद हिंदुस्तान के प्रधानमत्री रहे हैं और इस काल मे हिंदुस्तान का सारा बाजार काला बाजार करने वालो से भर गया था, कही एक भी काला बाजारी उस तरह पकडा तक नही गया, वैसी सजा देने की बात तो 'जबानी बातें है' जबानी राजनीति की।

कथनी और करनी विचार और व्यवहार, आदर्श और यथार्थ, नैतिकता और राजनीति गरीबी और अमीरी मेहनत और कमाई, शहर और गाव, मनुष्य और मनुष्य के बीच जितना गहरा फासला पडित नेहरू के शासन काल मे आया वह आश्चर्यजनक है।

मन से समाजवादी दिल से गाधीवादी और बुद्धि से पश्चिमवादी वैज्ञानिक जवाहरलाल ने प्रजातत्र के माग से समाजवाद लाने का प्रयत्न किया और इसके लिए मशीनरी, तत्र, वही स्वीकार कर लिया जो अग्रेजो का था। जिस तत्र का एक ही काम था—सरकारी गुलामो से आम गुलामो पर शासन कराया जाए और जिदगी की धारा को हर मोड पर लाल फीते से रोका जाए।

अगर आस्था ही खडी है द्वैत पर विकल्प पर और सशय पर तो ऐसी आस्था से निकले हुए सकल्प मे कोई अन्य फल नही निकल सकता सिर्फ एक फल (परिणाम) निकलेगा—महत्वाकाक्षा जिसकी पूर्ति हो असभव है। आकाक्षा मेरे भीतर है और उसकी पूर्ति बाहर पर निर्भर है, तो आकाक्षा की पूर्ति कैसे होगी? आकाक्षापूर्ति के नाम पर उल्टे आकाक्षाओ का शत शत गुना बढते जाना, यही तो है जवाहरलाल नेहरू के युग का परिणाम। जितनी ऊची-ऊची आधुनिक इमारतें बनती गईं, उतना ही उसकी छाया मे आम इसान छोटा होता चला गया।

आदमी कर्ता के स्थान पर उपभोक्ता हुआ, इसान की जगह मशीन का एक पुर्जा होने को बाध्य हुआ। वह व्यक्ति के स्थान पर 'वोटर' हुआ। आधुनिक के नाम पर वह प्रतिक्रियावादी आधुनिक हुआ। प्रजातत्र, समाजवाद, समानता, धर्म निरपेक्षता, गुट निरपेक्षता, शाति और पचशील के रग बिरगे, वस्त्र पहनकर भारतवासी बिना अपने चेहरे का हो गया। जहा उसका चेहरा होना चाहिए वहा यह लिखा हुआ टगा मिला—'बिकाऊ है'।

1 मेरी कहानी पृष्ठ ८०

उसकी नींव भाषा नहीं मिली, आज़ादी मिली, लेकिन उसकी नींव आत्मगौरव नहीं मिला, राष्ट्रीयता मिली लेकिन उसकी नींव अपनी ऐतिहासिक पहचान नहीं मिली।"

संकल्प का आधार आस्था है। पर आस्था किस पर आधारित है? वह किस चीज पर स्थित है? वह 'शक्ति' क्या है? मानव के लिए जितने उपादेय तत्त्व (अभ्युदय और निःश्रेयस) हैं, ध्येय या लक्ष्य हैं उनकी दृष्टि ही आस्था बनाए रखती है। ऐसी आस्था को हमारे यहां प्रज्ञामयी आस्था कहा गया है।

अगर आस्था प्रज्ञामयी नहीं है, तो संकल्प से रचना शक्ति, सृजन शक्ति क्षीण हो जाती है, और संकल्प के भीतर से महत्त्वाकांक्षा का उदय होता है।

जवाहरलाल की राजनीति के संदर्भ में यह महत्त्वाकांक्षा अमर और महान हो जाने की हुई और भारत की जनता की महत्त्वाकांक्षा उपभोग की हुई। नेहरू का उपभोग महान वस्तुएं हैं पर सामान्य जन का उपभोग केवल सामान्य वस्तुएं ही रहे। धन, पद सत्ता, शक्ति केवल उपभोग के लिए। इसका फल यह हुआ कि प्रधानमंत्री नेहरू के चारों तरफ—(१) सामंतवादी (२) आधुनिक, पश्चिमवादी, (३) अभिजातवादी (एलीट) शक्तियां घिर आईं और समाजवाद के नाम पर एक नव पूंजीवाद सारे देश में फलने लगा। व्यक्ति की जगह 'इंडिविजुअल', रचना के स्थान पर 'उपभोग' स्वतंत्रता के नाम पर कुछ भी कर बैठने की आजादी उदारता के नाम पर राष्ट्रीय भ्रष्टाचार और अत्याचार के प्रति क्षमा और माफी अंतर्राष्ट्रीय महानता के स्थान पर राष्ट्रीय हानि की आत्मस्वीकृति विकास और विज्ञान के नाम पर भारत का पश्चिमीकरण—ये सारी सच्चाइयां जवाहरलाल नेहरू की महत्त्वाकांक्षा का सबूत हैं।

जिस संकल्प शक्ति से पंडित नेहरू ने दिसंबर १९१८ से लेकर १९४५ तक अंग्रेजों से भारत की इज्जत और स्वतंत्रता के लिए इतनी विकट और बड़ी लड़ाई लड़ी प्रधानमंत्री बनने के कुछ ही वर्षों बाद अंग्रेज और पश्चिम के इस फैसले को उन्होंने कैसे क्या मान लिया कि भारतवर्ष एक अविकसित देश है? हमारे विकास का प्रतिमान कोई दूसरा हो जाए यह कैसी करुणा है नेहरू के भारतवर्ष की? निश्चय ही इस करुण नाटक के नायक हैं जवाहरलाल!

संघर्ष से नहीं पश्चिमी शिक्षा से पैदा हुआ भारतवर्ष का मध्यवर्ग, जिसके ऊपर का हिस्सा पूंजीवादी है और नीचे का हिस्सा सामंतवादी (यह दोनों के मध्य में रहता है—जैसे शरीर के मध्य में हृदय) इसकी राजनीति ही जवाहरलाल नेहरू की राजनीति थी। 'मेरी राजनीति वही थी, जो मेरे वर्ग अर्थात मध्यवर्ग की राजनीति थी। उस समय (और बहुत हद तक अब भी) मध्यवर्ग

१ प्रयतन, सं. सच्चिदानंद वात्स्यायन पृष्ठ ८५

क लोगा की राजनीति जबानी थी। क्या नरम और क्या गरम, दोनो विचार के लाग मध्यवग का ही प्रतिनिधित्व करते थे और अपन अपने ढग से उमकी भलाई चाहत थे।'[1]

उमी जबानी राजनीति के अनुसार पडित नेहरू ने कहा था कि "आजाद हिंदुस्तान मे काला बाजार करन वाले का निकट के बिजली क खभे पर लटका कर मार दिया जाएगा। पर व्यवहार मे १९४७ से लेकर १९६४ तक जब तक पडित नेहरू आजाद हिंदुस्तान के प्रधानमत्री रहे हैं, और इस काल मे हिंदुस्तान का सारा बाजार काला बाजार करने वालो से भर गया था कही एक भी काला बाजारी उस तरह पकडा तक नही गया, वैसी सजा देने की बात ता 'जबानी बातें है जबानी राजनीति की।

कथनी और करनी विचार और व्यवहार, आदश और यथाथ नैतिकता और राजनीति गरीबी और अमीरी मेहनत और कमाइ, शहर और गाव, मनुष्य और मनुष्य के बीच जितना गहरा फासला पडित नेहरू के शासन काल म आया वह आश्चयजनक है।

मन से समाजवादी दिल से गाधीवादी और बुद्धि से पश्चिमवादी वैज्ञानिक जवाहरलाल न प्रजातत्र के माग स समाजवाद लाने का प्रयत्न किया और इसके लिए मशीनरी, तत्र वही स्वीकार कर लिया जो अग्रेजा का था। जिस तत्र का एक ही काम था—सरकारी गुलामो स आम गुलामो पर शासन कराया जाए और जिंदगी की धारा को हर माड पर लाल फीते स रोका जाए।

अगर आस्था ही खडी है द्वत पर, विकल्प पर और सशय पर तो ऐमी आस्था स निकले हुए सकल्प म कोई अन्य फल नही निकल सकता, सिफ एक फल (परिणाम) निकलेगा—महत्त्वाकाक्षा जिसकी पूर्ति ही असभव है। आकाक्षा मेरे भीतर है और उसकी पूर्ति बाहर पर निभर है, तो आकाक्षा की पूर्ति कसे होगी? आकाक्षापूर्ति के नाम पर उलटे आकाक्षाओ का शत शत गुना बढते जाना, यही तो है जवाहरलाल नेहरू के युग का परिणाम। जितनी ऊची-ऊची आधुनिक इमारतें बनती गई उतना ही उसकी छाया मे आम इसान छोटा हाता चला गया।

आदमी कर्ता के स्थान पर उपभोक्ता हुआ, इसान की जगह मशीन का एक पुर्जा होने को बाध्य हुआ। वह व्यक्ति के स्थान पर 'वोटर हुआ। आधुनिक के नाम पर वह प्रतिक्रियावादी आधुनिक हुआ। प्रजातत्र, समाजवाद, समानता, धम निरपेक्षता, गुट निरपेक्षता, शाति और पचशील के रग बिरगे, वस्त्र पहनकर भारतवासी बिना अपने चेहरे का हो गया। जहा उसका चेहरा होना चाहिए वहा यह लिखा हुआ टगा मिला—'बिकाऊ है'।

१ मेरी कहानी, पृष्ठ ८०

ऐसा क्यों हुआ जवाहरलाल नेहरू के भारतवर्ष में ?

दरअसल सुभाषचंद्र बोस, राजेन्द्र प्रसाद, जे० बी० कृपलानी, सरदार पटेल, मौलाना आजाद, डा० लोहिया, जयप्रकाश, आचार्य नरेन्द्र देव आदि की अपेक्षा जवाहरलाल नेहरू अनेक मनोभावों, अनेक विकल्पों और रूपों वाले व्यक्ति थे। उन्होंने भारत की खोज तो की थी, पर 'धर्म' जैसी चीज पर अविश्वास के कारण स्वभावतः स्वधर्म की खोज नहीं की, इसका फल यह हुआ कि उन्होंने अपने विविध रूपों और मनोभावों में कोई सामंजस्य नहीं स्थापित किया। उन्होंने बहुत लिखा, बहुत बोले, उससे भी अधिक वह अथक कर्मवान व्यक्ति थे। पर इनमें क्या कोई ऐसा सूत्र है जो इन सब प्रवृत्तियों का पिरोता हो और उनकी एक समन्वित इकाई बनाता हो ?

नेहरू के राजनीतिक जीवन की कई मंजिलें हैं—१९१८ से १९३३ तक गांधी के साथ, १९३४ से लेकर १९४४ तक एक ओर गांधी के साथ दूसरी ओर समाजवादियों के साथ, तीसरी मंजिल प्रधानमंत्री के रूप में, १९५९ का वह समय जब उत्तरी सीमा पर चीन के आक्रमण के फलस्वरूप हमारे देश की सीमा का अपहरण हुआ, फिर १९६२ में चीन का बड़ा आक्रमण और हमारी पराजय। इसी तरह प्रधानमंत्री की नैतिक जीवन यात्रा में भी कई मंजिलें हैं। एक ओर समाजवादी, दूसरी ओर पूंजीवादी और इनसे कुछ बड़े सम्पत्तिवान घरानों का उदय। एक ओर समाजवादी मूल्य प्रतिष्ठा के नाम पर डा० लोहिया से इतना वैर विरोध, दूसरी ओर जयप्रकाश को अपने मंत्रिमंडल में ले आने का निमंत्रण। एक ओर गांधी का सत्य-अहिंसा और दूसरी ओर १९५१ में 'कृष्ण मेनन और जीप स्कैंडेल' १९६३ में प्रताप सिंह कैरों के उतने अतिक्रम, क्या इन सभी मंजिलों पर जवाहरलाल एक संकल्पवान व्यक्ति रहे ?

क्या कोई ऐसी आस्था की कड़ी हो सकती है जो इन विविध आत्मविरोधी, परस्परविरोधी घटकों को एक सूत्र में बांधती हो ?

जे०बी० कृपलानी ने इस प्रश्न का उत्तर इस तरह दिया है, 'अगर मुझमें कोई ऐसी क्षमता हो तो भी मैं इसे अपनी विश्लेषक और विचारक क्षमता के परे समझता हूं।'[1]

जवाहरलाल का अपने और अपने देश के लिए क्या जीवनदर्शन था ? यह सही है कि आजादी के पहले भी वह समाजवाद की चर्चा करते थे किंतु उन्होंने उसकी व्याख्या कभी नहीं की। इस देश के गंभीर साम्यवादी, समाजवादी लोग यह नहीं स्वीकार करते कि नेहरू ने समाजवादी ध्येय को प्राप्त करने के लिए कभी कोई गंभीर प्रयत्न किया। अपनी सरकार के भीतर नेहरू ने वही पुराना अंग्रेजी, नौकरशाही तंत्र, शान शौकत, फिजूलखर्ची और आडंबर दिखावा

१ नेहरू: व्यक्तित्व और विचार, पृष्ठ ५४-५५

बरकरार ही नहीं रखा, बल्कि उसे और बढ़ावा दिया। उद्घाटन, शिला न्यास, विमोचन अध्यक्षता, संभाषण, संदेश आदि की जो कर्मकांडी परंपरा नेहरू ने शुरू की, वह आज वर्तमान राजनीतिक जीवन का भयंकर रोग हो गया है।

खुद नेहरू ने अपने जीवन के आखिरी वर्षों में यह मंजूर किया कि 'धनी अधिक धनी हुए है गरीब अधिक गरीब।'

यह कहा जाता है कि जवाहरलाल विज्ञान के हिमायती थे। वह सोचते थे कि अब विज्ञान और उद्योग का अधिक प्रयोग हो तो हमारी सब मुसीबतों का अंत हो जाएगा। उन्होंने कहा है कि "भविष्य विज्ञान का है और विज्ञान से मित्रता करने वाला का है।" किंतु यह सर्वविदित है कि मंत्रिमंडल के उनके अनेक साथी, सरकार में बने रहेंगे या नहीं, इस बारे में बराबर ज्योतिषियों से परामर्श करते थे, और वाराणसी और विंध्याचल में राजनीतिक सफलताओं के लिए यज्ञ, हवन पूजापाठ कराया करते थे। और जवाहरलाल को इस तथ्य का पूरा पता था जैसे कि उन्हें अपने कई मुख्यमंत्रियों और स्वयं अपने केंद्रीय मंत्रिमंडल के कई वरिष्ठ मंत्रियों, कितने उच्च अधिकारियों के भ्रष्टाचार, बेईमानी के बारे में पूरा पता था। उनके निजी सचिवालय में कई भ्रष्ट लोग प्रवेश और संरक्षण पा चुके थे, जिसकी विस्तृत जानकारी और अनेक विस्मयकारी तथ्य, धर्मवीर लिखित 'मिमायर्स ऑफ ए सिविल सर्वेंट', एम० सी० सीतलवाड लिखित 'माई लाइफ', जी० एस० भार्गव लिखित 'इंडियाज वाटरगेट', सुरेंद्र द्विवेदी और जी० एस० भार्गव लिखित 'पॉलिटिकल करप्शन इन इंडिया' आदि पुस्तकों में मिलते हैं।

एक सच्चा क्रांतिकारी, जिसकी कोई विचारधारा या जीवनदर्शन हो अपने उद्देश्य लक्ष्य की पूर्ति के लिए निश्चय ही उपयुक्त औजार और कार्यकर्ता चुनेगा। अगर उसे ये उपयुक्त साधन नहीं मिलते तो वह उसकी रचना करेगा जवाहरलाल यह नहीं कर सके। वह स्वतंत्र भारत को आधुनिक बनाना चाहते थे, इसका अर्थ कुछ भी हो लेकिन सच्चाई यह है कि हम आधुनिकता के नाम पर पश्चिम के बाह्य की सिर्फ नकल ही कर पाए हैं।

जवाहरलाल चाहते थे कि इस देश का उद्योगीकरण हो। इसमें संदेह नहीं कि राजकीय क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण भारी उद्योग स्थापित हुए हैं। किंतु जैसा कि अब उस उद्योगीकरण का फल हुआ है—इससे प्रकट है कि यह उद्योगीकरण कृषि की उपेक्षा करके हुआ है। जबकि किसी भी देश के उद्योग का आधार कृषि ही होता है। इस संदर्भ में अमरीका और रूस में क्या अंतर है? अमरीका ने अपने उद्योग को अत्यंत विकसित कृषि के आधार पर खड़ा किया है। आठ प्रतिशत अमरीकी जनता देश भर की जरूरत का अनाज पैदा करती है और उस पर भी इतना अतिरिक्त अन्न वहां पैदा हो जाता है कि उसे जलाना पड़ता है और दूसरे देशों को भेजने के लिए बच रहता है। रूस

की खेती अमरीका जितनी विकसित नहीं है और इसीलिए वह औद्योगिक उत्पादन मे भी अभी अमरीका से पीछे है।

स्वतत्रता के बाद नेहरू ने भारत राष्ट्र के निर्माण का रचनात्मक काय अपने हाथ मे लिया। इसके लिए उन्होने विविध नीतियां बनाइ

१ योजना द्वारा आर्थिक विकास

२ राष्ट्रीय एकता

३ गुटा से अलग रहने की विदेश नीति।

उनके इन विविध कायक्रमो और नीतिया की जड उनकी लोकतत्री विचार धारा म थी। उनका विश्वास था कि अगर इस विशाल उपमहाद्वीप मे रहने वाला विभिन्न नस्लो, जातियो और धर्मों का मानने वालो का एक राष्ट्र बनता हो तो उनका जोडने वाली कोई ताकत होनी चाहिए। वह आर्थिक सबधा की ही कडी हो सकती है और अगर भारत की आर्थिक प्रगति आम जनता के कल्याण के लिए होनी है तो यह समाजवाद को अपना ध्यय और याजना को उसका साधन बनाने स ही सभव होगा।

जवाहरलाल मूलत लोकतत्री थे और लाकतत्री याजना की सफलता लोक समथन पर निभर करती है। नहरू को इतना लोक समथन मिला था, बल्कि वह इतन लबे समय तक भारत के एकक्षत्र 'राजा' थे, फिर भी नहरू की याजनाआ को उतनी सफलता क्या नही मिल सकी, इसके दो ही कारण हैं। पहला नेहरू के सकल्प में आस्था का अभाव, जिसके कारण चरित्रगत और स्वभावगत है। इस अभाव का जब भी उन्ह एहसास हुआ है—और प्राय यह एहसास सावजनिक सभाओं, कार्यों, सामूहिक योजनाओ क क्षणो पर उन्हे हुआ है और इस अतर्विरोध या अभाव का सबूत उ होन सदा अचानक अप्रसन्न होकर उबल पडना, छोटी सी अव्यवस्था, अनियमितता पर इतना क्रुद्ध हो जाना उबलने-उफनत न जान क्या-क्या कह डालना, बहद नाराज होकर भावुकतापूण चेहरा बनाकर मच स उतरकर तजी म चल जाना—ऐसे व्यव हारो से दिया है। दूसरा कारण यह है कि उन्ह लोक का समथन प्राप्त था। इससे भी आगे वह लोक ता सोया पडा था, बीमार था, भारतीय जब रोगशय्या पर था—जिसे जिलाने और इलाज करने की कोशिश गाधी ने की थी, पर नहरू ने इस लाक को केवल सरकारी लाक नत्यो के ही रूप म देखा था, उनके पास वह कभी नही पहुच सके। नेहरू के लोकतत्र म लोक की छाती पर तत्र आ कर बैठ गया! डा० लोहिया जे० बी० कृपलानी और जयप्रकाश के जवाहर लाल नेहरू के प्रति सारे विरोधो, सघर्षों क पीछे यही मूल कारण था। इन तीनो ने अनुभव किया है कि 'नेहरू के राज्य म भारत का लोक मर रहा है—अर्थात् भारत खत्म हो रहा है।"

जवाहरलाल नहरू का व्यक्तित्व इतना बडा था, भारी था कि उसके

नीचे 'लोक' ही नही दवा, माना देश की सारी समस्याए उसके नीचे दब गइ। इसका फल यह भी हुआ कि उनका व्यक्तित्व इतना महान था कि उसके नीचे उनके बराबरी के अन्य व्यक्तित्व दब गए। अपनी अहमन्यता, जो उनकी महत्त्वाकाक्षा स पदा हुई थी, के कारण ही वे किसी अन्य व्यक्ति का उठा नही पाए।

अपने राजनीतिक जीवन के अतिम चरण पर पहुचकर जवाहरलाल अपनी नीतियो और कार्यों के अतर्विरोधा और तदनुसार उसके परिणामा को देखकर बिल्कुल एक नई दिशा म सोचने लगे थे। २२ २३ फरवरी १६५६ का मौलाना आजाद स्मारक भाषण माला के अतगत भाषण देते हुए नेहरू न कहा, " परतु मुझे केवल भौतिक उन्नति की चिंता नही है, वरन अपने देशवासियों मे गुणो और गहराई की भी है। औद्योगिक प्रक्रिया से शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद क्या व व्यक्तिगत सपत्ति और आरामदायक जिंदगी की खाज मे स्वय को खो लेंगे? यह एक दुखद घटना होगी, क्योकि यह बात उन आदर्शों के विरुद्ध होगी जिन पर भारत अतीत में खडा रहा और वतमान मे गाधीजी ने जिनका प्रसार किया। क्या हम विनान, टेक्नालोजी की तरक्की को मन और आत्मा की तरक्की के साथ जोड सकत हैं?"

कौटिल्य के तीन मूल सिद्धान, जिनका नेहरू ने जाने अनजाने प्रयोग किया, इस प्रकार हैं

१ धम और काम इन दोनो का मूल अथ है। आर्थिक व्यवस्था ही समाज की सारी व्यवस्थाओं का आधार है। इसी से समाज की धम व्यवस्था (मानवीय लक्ष्य और आचार नीति) और समाज की काम व्यवस्था (व्यक्तियो का सुख) पैदा होती है। इसलिए राज्य का जो विविध लक्ष्य है वह है इन तीनो का सतुलित एव अ योन्याश्रित विकास। यह सिद्धात भारतीय मनीषा की चरम उपलब्धि है। गाधी इस उपलब्धि के पहले निरूपक हैं राजनीति मे और इसी विरासत मे नेहरू का नाम उल्लेखनीय है। यह जो सर्वांगीण, सतुलित दृष्टि है, यह आधुनिक समाजवाद की उत्तमोत्तम परिभाषा है। इस परिभाषा पर अपने कम म नेहरू अडिग रहे। इसी बिदु पर रूस और चीन के साम्यवादियो से इनका सदा मतभेद रहा। केवल यही आस्था का वह बिंदु है, जहा नेहरू ने कभी समझौता नही किया।

२ राज्य का सर्वोपरि धम है जन का अभ्युदय और उनके हितो की रक्षा, आतरिक और बाह्य दोना प्रकार की विपरीत शक्तियों के सदभ मे। नेहरू के लिए इन मौलिक राष्ट्रीय हितो की रक्षा राजनय का प्रमुख निर्णायक तत्त्व बनी।

३ अथशास्त्र का 'मडल सिद्धात' नेहरू की विदेश नीति का आधार बना। मडल सिद्धान्त का बीज यह है कि शत्रु और मित्र देशो का पारस्परिक सतुलन कर राष्ट्र हित की रक्षा करना।

इसी सदभ मे अथशास्त्र का जो मूल मत्र है वह यह कि 'जयति कृत्स्नम् शास्त्रविदशस्त्रितम ।' वह सपूण रूप से विजयी होता है जो कि शास्त्रविद है और जिसे शास्त्र के प्रयोग की आवश्यकता नही पडती ।

नेहरू के रक्त मे ये प्राचीन भारतीय सस्कार प्रकट हुए हैं, यह आश्चय जनक है। अतर्राष्ट्रीय नीति के इतिहास मे यह अभूतपूव उदाहरण है कि बिना किसी बल प्रयोग के इस नीति का (विदेश नीति—गुट निरपक्ष, अथ नीति—मध्यस्थ) की प्रतिष्ठा हुई ।

शायद इसका मूल कारण था कि इस अथ नीति का प्रयोग पहली बार भारतीय इतिहास मे अशोक ने किया और अशोक सयोग से नेहरू के मानस के बहुत करीब था ।

जवाहरलाल के वास्तविक महत्त्वपूण जीवन काय का चित्र जब आख के सामने खडा होता है, तब सम्राट अशोक का स्मरण होता है। अशोक चिह्न उ हान भारत के सामने रखा । सहयोगी सिंह खड कर लिए अशाक क अहिंसा चिह्न के तौर पर । सिंह पराक्रमी होते है, पर सहयागी नही । चीटी सहयोगी है लकिन पराक्रमी नही दुबल है । पराक्रमी और बलवान हो और सहयोग की भावना स यह दश फिर खडा हा जाए, यही स्वप्न देखा नेहरू ने ।

वह चाहते थे कि भारत पराक्रमी, बहादुर बन और निर्वैर बने। वसे दुनिया मे सब राष्ट्र बलवान हो और सब का परस्पर सहयाग हो—यही थी उनकी विदेशी नीति, यही था आधार उनके पचशील का, पर इसम फल क्या लगा ? हिंदुस्तान पाकिस्तान चीन भारत की परस्पर शत्रुता, अखड भारत के अदर भाषावार प्रातो का आपस मे वर सारे राजनीतिक दलो वर्गों, जातियों की आपस मे नफरत—दरअसल महत्त्वाकाक्षी नेहरू ने इस दश के तेरह प्रतिशत लोगो को (जिनके प्रतिनिधियो ने इस देश का सविधान तैयार किया था) निहायत महत्त्वाकाक्षी बनाया। महत्त्वाकाक्षा भावुकता की देन होती है और भावुकता का रहस्य है अभाव । प्रेम का अभाव पूजी का अभाव, साधना (रिमोर्सेज) का अभाव, शक्ति का अभाव आत्मविश्वास का अभाव, इन अभावो के फलस्वरूप नेहरू युग से जो राजनीति इस मुल्क मे शुरू हुई—उसे अगर एक शब्द म कहना चाह तो यह शक्ति की दरिद्रता का फल है।

तरह प्रतिशत महत्त्वाकाक्षी लागा के पैरा के नीचे शेष सारा भारतवष कुचला जा रहा है । दरअसल अब तक उतना हिस्सा सा रहा है। अगर जगा भी है तो वह भी भावुक और महत्त्वाकाक्षी बनाया जा रहा है ।

नेहरू की महानता से जो छोटी राजनीति यहा उदित हुई यही है उसकी पहचान ।

"आज का युग इतिहास का एक गतिमय युग है। इसम जीवित और कमरत होना कितना अच्छा है—भले ही वह कभ देहरादून जेल का एकात

भोगना ही क्या न हो।" पडित नेहरू की 'विश्व इतिहास की झलक' का एक पत्र इ ही शब्दो के साथ समाप्त होता है। और उन्होने अतिम पत्र मे लिखा है कि "हमारा युग मोह भग का युग है, सदैव अनिश्चय और जिज्ञासा का युग है। आज हम क्या ऐशिया मे क्या यूरोप और अमरीका म, प्राचीन विश्वासो और रीतियो मे से अनेक को अस्वीकार करत है उन पर से हमारी श्रद्धा उठ गई है। इसलिए नये पथ खोजो कभी-कभी इस जगत का अन्याय, दुख, नशसता हम पर छा जाते है और हमारा मन अधकार से भर जाता है, कोई रास्ता नही दीखता। किंतु इस कारण अपना दृष्टिकोण निराशावादी बना लेना इतिहास की सीख को गलत समझना है। क्योकि इतिहास हम उन्नति और विकास की बात सिखाता है और मानव के लिए अतहीन प्रगति की सभावना सूचित करता है।'

यही समझ और विश्वास नेहरू का भारतीय राजनीतिक कम विश्व राजनीतिक अधिक बनात हैं।

हमारे युग को क्या कहकर वर्णित किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर नेहरू ने दिया है— गतिमय युग' जिसम 'जीना कितना अच्छा है।' दरअसल य "दोना उत्तर उस ब्रितानी प्रधानमत्री की पुस्तक से लिए गए हैं जिसन पहले पहल उन्ह जेल मे डाला था।"[1]

हा, कितना अच्छा है जीना और कमरत होना, हा सचमुच अच्छा है जीना पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जीवन का अच्छापन, जवाहरलाल नेहरू जसे व्यक्ति की वाणी और कम के रूप मे, पहले भारतीय जनता फिर विश्व मानव के जीवन-जगत के परिवतन और सचालन में क्या भागीदार और कमरत हो सका है?

भागीदार और कर्मरत तो हुआ है, पर उसका फल क्या हुआ? काली आधी जैसी राजनीति पैदा हुई काला बाजार काला धन काले भगवान, काली राजनीति। 'चाहे तो दुर्भाग्य से कहिए या अनिवायत कहिए वक्तन-फवक्तन समझौता करना ही पडता है। आप बिना समझौता किए चल नही सकते, लेकिन अगर यह समझौता एक प्रकार से अवसरवादी है और उसका लक्ष्य सचाई की तरफ नही है तो यह समझौता बुरा है। लेकिन शायद किसी ने यह नहीं सोचा होगा। इस सारे वक्त म हमारी आत्मा ने हम कितना बचाटा है।'[2]

गाधी के बारे मे सविधान सभा नई दिल्ली मे ८ माच, १९४९ को भाषण देते हुए नेहरू ने अपने राजनीतिक जीवन से लेकर सपूर्ण काग्रेसी राजनीति

१ टाम विंट्रिगहम नेहरू अभिनदन ग्रथ पष्ठ ८५ ८६
२ जवाहरलाल नेहरू के भाषण प्रथम खंड, पृष्ठ १८०

सब एक अर्थवान प्रश्न उठाया है, "क्या हम पाखडी हैं क्या हम अपने को और दुनिया को धोखा दे रहे हैं ? अगर हम पाखडी हैं तो यकीनन हमारा भविष्य अधकारमय है। जिंदगी की छोटी मोटी चीजो के बारे म हम पाखडी हो सकते हैं, लेकिन जिंदगी की महान् चीजों के बारे मे पाखडी होना खतरनाक है।"[1]

मैं सोचता हू चाहे किसी व्यक्ति की जिंदगी हो या देश की जिंदगी वह बहुत छोटी छोटी चीजो से बनती है, और बनी होती है। ऊपर से शरीर का ढाचा, देश का ढाचा कितना भी सुगठित और महान क्या न हो पर यदि शरीर के भीतर या देश के भीतर छोटी छोटी असख्य रक्त शिराओ मे शुद्ध रक्त नहीं बह रहा है, देश के भीतर उसके देशवासी अगर अपने सही पुरुषार्थ को नही पा सके, जीवन का कोई आदर्श, लक्ष्य नही पा सके तो सारा बाहरी ढाचा पाखड है, क्योकि उसका कोई अर्थ नही है।

नेहरू के समाजवाद उनके प्रजातत्र का जो ढाचा—हा शायद केवल ढाचा, जो हम प्राप्त हुआ उसका एक महत्त्वपूर्ण अर्थ तो है कि हमे कुछ भी बोलने, कहने करने की आजादी है, और यह बहुत बडी देन है इस देश की संस्कृति की जिसमे नेहरू ने भी अपना योगदान दिया, पर नेहरू के नेतत्व मे जो राज नीतिक सस्कृति इस मुल्क मे पनपी उसम आम आदमी का मूल्य यह था

"उसका विश्वास था कि मनुष्य स्वतत्र है, इस हद तक कि वह आत्महत्या करे। वह आजाद है अन्याय सहने के लिए, पाप भोगने के लिए, अपराध जानने के लिए, और तक पागल होने के लिए।"[2]

पडित नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदुस्तान की कहानी' इन शब्दो के साथ खत्म की है, 'अब कुछ वक्त मे हिंदुस्तान मे आम चुनाव होने वाले हैं और सारा ध्यान इन चुनावो मे लग गया है। लेकिन चुनाव तो कुछ वक्त मे खत्म हो जाएगे, तब ? सभावना यह है कि आने वाला साल तूफान, उत्पात, सघर्ष और उथल पुथल से भरा होगा। हिंदुस्तान म या और जगहो मे आजादी के बिना शाति नही हो सकती।'[3]

इसी तरह अपनी आत्मकथा, जहा नेहरू ने समाप्त की है, उसकी अतिम पक्तिया हैं लेकिन कभी कभी कम से कम इस दुनिया से थोडी देर को छुटकारा मिल ही जाता है। पिछले महीने २३ बरस के बाद मैं काश्मीर हो आया। मैं वहा सिर्फ १२ दिन रहा, लेकिन ये बारह दिन बडे सुदर थे और मैंने जादूभरे उस देश की रमणीयता का भोग किया। मैं घाटी के इधर उधर घूमा, ऊचे

१ जवाहरलाल नेहरू के भाषण प्रथम खड पृष्ठ १७६ १८०
२ मिस्टर अभिमन्यु डा० लाल पृष्ठ ६७
३ हिंदुस्तान की कहानी पृष्ठ ७८४

ऊचे पहाडो की सैर की और एक ग्लेशियर पर चढा और महसूस किया कि जीवन भी एक काम की चीज है।"[1]

ये दोनो अश राजनीति और जीवन के बुनियादी अतर के ही साक्ष्य नही हैं, नेहरू की जिदगी (मेरी कहानी) और हिंदुस्तान की जिदगी (हिंदुस्तान की कहानी) की नियति के भी सबूत हैं। नेहरू ने अपनी जिदगी के ही रूप म हिंदुस्तान की जिदगी को देखना चाहा है, यह उनकी भावुकता है पर इस भावुकता मे जो फल इस देश को मिला वह सबके साम'न प्रत्यक्ष है। 'कुछ वक्त मे आम चुनाव होने वाले हैं, आजाद हिंदुस्तान मे हमारी प्रतीक्षा केवल यही रह गई है कि कुछ वक्त मे आम चुनाव होन वाले है और तब आने वाला साल तूफान उत्पात, सघप और उथल पुथल से भरा होगा।" यह बात नेहरू ने अपनी पुस्तक मे लिखी थी और वह समय था माच १६४५ जब वह अहमद नगर किले की जेल मे नजरबद थे। काग्रेस काय ममिति के सदस्य इधर-उधर तितर बितर कर दिए गए थे—अर्थात अपने अपने सूबो म चले गए थे। दर-असल ईस्वी सन १६५१ मे स्वतत्र भारत के पहले चुनाव से लेकर तब स आज तक जितने चुनाव हुए है—उन सबसे केवल वही फल बार-बार आया है इस निर्मूल राजनीति वक्ष से—तूफान, उत्पात सघर्ष और उथल पुथल।

चुनाव ही सारी राजनीति का मूल कम है। चुनाव की सारी प्रक्रिया और प्रकृति मे जिस नैतिक तत्व का सवथा अभाव है, उसी का प्रतिफलन राजनीति है।

राजनीति माने नैतिकता विहीन सत्ता सघप—यही है नेहरू युग का राजनीतिक फल। इसी फल को १६६० मे उस वृक्ष म लगते हुए देखकर नेहरू ने कहा, 'जीवन भी एक काम की चीज है।'

राजनीति के बाद जीवन को दूसरा दर्जा दिया जाना, यह नेहरू की राज-नीति का दुर्भाग्य था, पर यह पूरे देश का दुर्भाग्य बन गया, इसके दोषी हम सब लोग हैं। जीवन 'ही' नही 'भी' हो जाए इसस बडा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है किसी मुल्क का—जहा जिदगी की हर चीज राजनीति है, और हर राज-नीति जहा नौकरी है।

२६ जनवरी, १६३० के पूण स्वाधीनता दिवस के प्रतिज्ञापत्र म नेहरू ने कहा था, राजनीतिक दृष्टि स हिंदुस्तान का दजा जितना अग्रेजो के जमाने मे घटा है उतना पहले कभी नही घटा था। किसी भी सुधार योजना से जनता के हाथ मे असली राजनीतिक सत्ता नही आई। सस्कृति के लिहाज स शिक्षा प्रणाली ने हमारी जड ही काट दी है और हमे जा तालीम दी जाती है, उससे हम गुलामी की जजीरों को ही प्यार करने लगे है। आध्यात्मिक दृष्टि से

१ मेरी कहानी पृष्ठ ८५२

हमारे हथियार जबदस्ती छीनकर हमे नामद बना दिया गया।"

१९३० का जवाहरलाल भारत के प्रथम प्रधानमत्री श्री जवाहरलाल नेहरू पर वही अभियोग लगाता है जो तब उसके प्रतिज्ञापत्र का मूल अभियोग था—इतनी सारी योजनाओ, इतने निर्माण काय, इतनी ऊची-ऊची बाता, इमारतो, विचारो, विधि विधानो के बावजूद जनता के हाथ मे असली राजनीतिक सत्ता नही आई।

इसका मूल कारण यह है कि यह सरासर झूठ है कि श्री जवाहरलाल नेहरू महात्मा गाधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी थे। बिल्कुल नही थे। ससार के राजनीतिक इतिहास म अकेले महात्मा गाधी एक ऐसे महापुरुष हैं, जिनकी नीतियो और योजनाओ का प्रयोग नही हो सका। बीज धरती म बोये जाने से पहले ही उसके फल के बारे मे फैसला ले लिया गया कि 'बाज बहुत पुराना है'

भारतीय जीवन मे गाधी बिना प्रयोग के रह गए, इसके उत्तरदायी श्री जवाहरलाल नेहरू हैं।

दसवा अध्याय

विद्रोह से स्वधर्म रामनोहर लोहिया

जिस राजनीतिक क्षण से और जिस चारित्रिक बिंदु से जवाहरलाल नेहरू मे सकल्प स महत्त्वाकाक्षा का उदय हुआ, उसी क्षण स और उसी बिंदु स नेहरू की उस राजनीति और उस चरित्र के प्रति राममनोहर लोहिया मे विद्रोह पैदा हुआ। यह विद्रोह प्रतिक्रिया नही था। विद्रोह ही लोहिया का चरित्र था। यह चरित्र उनक विकल्प बाध स बना था। बेहतर मनुष्य, स्वतन्त्र मानव वाणी से स्वतत्र कम से अनुशासित व्यक्ति उनका सकल्प था। सकल्प ही लोहिया की राजनीति था। नेहरू का सकल्प बौद्धिक था, वह उनके स्वधम से, आस्था से नही जुडा था इसीलिए वह महत्त्वाकाक्षा मे बदल गया। इसीलिए नेहरू की राजनीति महत्त्वाकाक्षा की राजनीति हो गई। पर जहा सकल्प ही राजनीति हो, उसी का फल लोहिया है। ३१ अक्तूबर, १९६४ को सरदार पटेल जयती समारोह पर लोहिया ने कहा, 'मनसूबा को बीच बीच मे करतब की कसौटी पर कसत रहना चाहिए, तभी वे सकल्प होते हैं। और बिना सकल्प के राजनीति नहीं हुआ करती आखिर राजनीति म और है क्या ? नही है (सकल्प) तो फिर तरकारी बेचो जाकर कपडा बेचो, भाव मोल तोल करो।"

जितना मैंने पढा और समझा है, मेरा विश्वास है कि लोहिया ने पहली बार भारत भूमि स समाजवाद का यह अथ दिया, 'वह अथ है अनासक्ति का, मिलकियत और एसी चीजो के प्रति लगाव खत्म करन या कम करन का, मोह घटान का। किंतु जब स समाजवाद के ऊपर काल मार्क्स की छाप बहुत पडी, तब स एक दूसरा अथ ज्यादा सामने आ गया। वह है सपत्ति की सस्था का खत्म करने का, सपत्ति रहे ही नही, चाहे कानून से चाहे जनशक्ति से। पहला अथ था सपत्ति के प्रति मोह नही रहे, और अब अथ हुआ है कि सपत्ति रह ही नही।"[1]

इस दूसरे अर्थानुसार रूस अपनी क्रांति करके १९१९ मे ही सपत्ति को

1 राममनोहर लोहिया, समाजवादी आंदोलन का इतिहास, पृष्ठ १

मिटा चुका । इसके बाद से सारी दुनिया मे समाजवादी आदोलन की एक ऐसी
धारा वही जो सपत्ति को मिटाना चाहती थी लेकिन उसके साथ ही साथ हम
के साथ जुड जाती थी । साम्यवादी कहते हैं कि वह अतर्राष्ट्रीय धारा थी,
विरोधी लोग कहते हैं कि वह देशद्रोही धारा थी, पर लोहिया के शब्दो मे 'वह
परदेशमुखी धारा थी ।" तभी बहुत पहले, इतनी कम उम्र मे १९३० के आस-
पास नवयुवक लोहिया इस निणय पर पहुच चुके थे कि "माक्स और फोड म
कोई बुनियादी अतर नही है ।" माक्स सपत्ति का विनाश चाहता है और फोड
सपत्ति का विकास चाहता ह । जो भी हो सपत्ति दोनो के मूल म है—साम्यवाद
और पूजीवाद दोनो के मूल म ।

पर जब समाजवाद का अथ है अनासक्ति या मोह को घटाना, तब वस्तुत
लोहिया अपन इस अथ के साथ माक्स से आगे बढकर गाधी के पास आत हैं
और गाधी के सच्चे राजनीतिक उत्तराधिकारी होत हैं । उत्तराधिकारी बनत
नही गाधी द्वारा कभी बनाए भी नही जाते, पर अपनी शुद्ध समाजवादी अस्मिता
से अपने आप गाधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी हो जाते हैं । समाजवादी
बनने और होन म जो फक है, वही फक नेहरू और लोहिया के राजनीतिक
चरित्र मे है ।

गाधी के गहरे सपक मे आन के बाद नहरू मे सकल्प शक्ति जागी थी, पर
लोहिया का मूलभूत बौद्धिक दृष्टिकोण विदेश जाने के समय तक निश्चित हो
गया था । इस दृष्टिकोण या जीवन दशन के तीन आयाम थे, मानवीयता, तक
बुद्धि और सकल्प । ये तीनो एक म मिलकर व्यक्ति की आतरिक शक्ति हो
जाते हैं । लोहिया म विद्रोह इसी आतरिक शक्ति की नीव पर खडा है । तभी
इस विद्रोह मे एक और अपार करुणा और ममता है और कम के स्तर पर
यही उनका सकल्प है ।

नेहरू के सकल्प मे से महत्त्वाकाक्षा का फल निकला पर लोहिया के सकल्प
से विद्रोह का फल निकला, ऐसा विद्रोह फल जिसमे बीज है स्वराज्य का, समता
का वाणी का स्वतत्रता और कम के नियत्रण का । इसका बुनियादी कारण
यह है कि राजनीतिक लोहिया के व्यक्तित्व के केन्द्र मे भारत का 'व्यक्ति' है
और नेहरू के व्यक्तित्व के केन्द्र मे पश्चिम का 'इडिविजुअल' है । इसीलि
व्यावहारिक राजनीति और कम मे जहा नेहरू को अपनी निजी सकल्प शक्ति
पर विश्वास था वहा लोहिया को अपनी ही सकल्प शक्ति के समान सम्
मनुष्य जाति की सकल्प शक्ति मे अनत आस्था । इसी आस्था के फलस्व
लोहिया को मनुष्य जाति की एकता, समता और अजेय अतरात्मा पर अ
विश्वास था । 'लोहिया को जवाहरलाल नेहरू मे तक और सकल्प शक्ति
मेल दिखाई दिया और साथ ही असाधारण सवदनशीलता । जवाहरला
सवदनशीलता की तारीफ लोहिया न हमेशा की, उन दिनो भी जब रा

मे वह नहरू के सवप्रमुख विरोधी बन चुके थे, यद्यपि उस समय उनके मन मे यह शका उठने लगी थी कि नहरू की सवदनशीलता वास्तविक थी या केवल सस्कार और शिक्षा के आचरण मे अभिव्यक्ति।"[1]

समाजवाद की राजनीति के प्रसग म लोहिया के सोचन का तरीका कभी भी द्वद्व वाला नही रहा। हमशा उनकी दृष्टि समदृष्टि' थी, उनका लक्ष्य 'सम-लक्ष्य', समबोध' रहा, पर राजनीति और जीवन दोना मे क्योकि दोनो उनके लिए समान और एक ही रहे। उन्हे 'अतिवादी माना गया। अग्रेजा ने जो यहा यह राजनीति खेली थी कि हर चीज को टुकडो मे बाट दो ताकि कही कोई समदृष्टि न रहन पाए। इसी राजनीति की यह सफलता है कि हम सचमुच एक सपूण को दो म बाटकर दखत है। इसी बट हुए मानस और बुद्धि ने लोहिया का अतिवादी' के रूप मे देखा है। एसे ही मार्क्स के लोग जो व्यक्ति और समाज पुरुष और प्रकृति, पदाथ और आत्मा को अलग अलग और एक दूसरे से बाटकर दखते हैं, समाजवाद को और फलस्वरूप समाजवाद की राजनीति को केवल पदाथ मैटर मानत हैं। लोहिया का विश्वास था कि य सब अलग-अलग तत्त्व नही हैं। इनम आपस मे विरोध नही है। य एक ही तत्त्व के दो पक्ष है। लोहिया ने इसके लिए राजनीति से एक उदाहरण दिया है—बदूक और वोट का। और सिद्ध किया है कि य दोना एक ही तत्त्व के दो अलग अलग पक्ष हैं और असल मे इनका विकल्प है सत्याग्रह, सिविल नाफरमानी कानून को तोडना लेकिन अहिसक ढग से तोडना।

लोहिया के समाजवाद और उस समाजवाद के लिए राजनीति मे 'सामाजिक समता' साधन और साध्य दोना हैं। लोहिया का समाजवाद मुख्य रूप से न तो सपत्ति का सिद्धात है न राज्य का। यह आर्थिक नीतिया से ऊपर एक जीवन दशन है। यह वस्तुत जीवन के प्रत्यक क्षेत्र मे समता एव सपन्नता का सिद्धात है। लोहिया का राजनीतिक चरित्र इसीलिए मूलत विद्रोह का हुआ क्योकि उन्ह राजनीति के साथ सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक इन सभी क्षेत्रो म झूठ, पाखड और अन्याय के विरुद्ध खडा होना पडा।

हमारे यहा सस्कृति शब्द नही है, यह तो अग्रेजी 'कल्चर' शब्द के अनुवाद के रूप म आया है। हमारे यहा शब्द है सस्कार, और सस्कार है वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपन लक्ष्य के अनुरूप स्वय साधन हो जाता है। इसी सस्कार के कारण लोहिया अपन विद्रोही सस्कार के अनुरूप विद्रोह के साधन और साध्य दोनो हो गए थ।

ऐसी थी एकात्मता लोहिया की। इसका मूल कारण यह था कि 'मेरा

१ लोहिया एक असमाप्त जीवनी ओमप्रकाश दीपक दिनमान ११ सितबर १९६७ पृष्ठ १३

सोचने का तरीका कभी भी द्वन्द्व वाला नहीं रहा।"[1]

इसीलिए अन्य समताओं की अपेक्षा लोहिया ने सामाजिक समता का प्रतिपादन अधिक सशक्त ढंग से किया। उन्हें जितनी भी सामाजिक विषमताएं दिखाई दीं जातिप्रथा, नर नारी की असमानता, अस्पृश्यता, भाषा, रंगभेद नीति, साम्प्रदायिकता, व्यक्ति-व्यक्ति में आय व्यय, रोजी रोटी न्याय अन्याय की विषमता—इन सबके खिलाफ लोहिया ने आजीवन विद्रोह किया।

लोहिया हर समस्या के मूल में जाते थे और बुनियादी तथ्य सामने लाते थे। उनकी खोज थी कि भारत में जितनी भी सामाजिक विषमताएं हैं उनमें जातिप्रथा सर्वाधिक विनाशकारी है। उनका विश्वास था कि "आर्थिक गैर बराबरी और जाति पाति जुड़वा राक्षस हैं और अगर एक से लड़ना है तो दूसरे से भी लड़ना जरूरी है।"[2] लोहिया ने जाति को एक जड़वर्ग के रूप में देखा है, क्योंकि जाति में इतनी जकड़न होती है कि एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में प्रवेश के लिए असमर्थ बना दिया जाता है। इस जातिपाश के कारण भारत का समग्र जीवन निष्प्राण है। ब्राह्मण संस्कृति और ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूंजीवाद का पोषक और जनक ही नहीं बल्कि जातिप्रथा का भी जनक और पोषक है। भारत की एक हजार वर्ष की दासता का कारण जातिप्रथा है, आतंरिक झगड़े और छल कपट नहीं। लोहिया के विचार से जब भी किसी देश में जाति के बंधन ढीले होते हैं, तब वह देश विदेशी आक्रमण के समक्ष नतमस्तक नहीं होता। भारतवर्ष में जातिबंधन सदैव जकड़े रहे हैं। इसीलिए जातिप्रथा ने निचली जातियों को सामाजिक, आर्थिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक, राजनीतिक दृष्टि से नष्ट कर डाला। फलतः वे सार्वजनिक कामों और देश की रक्षा आदि जैसे महान कार्यों के प्रति स्वभावतः उदासीन रहीं। जातिप्रथा "उन्हें प्रतिष्ठान को दर्शक बनाकर छोड़ देती है, वास्तव में देश की दारुण दुर्घटनाओं के निरीह और लगभग पूरे उदासीन दर्शक।"[3]

लोहिया ने जातिप्रथा उन्मूलन के कई मार्ग और उपाय अपनाए। ब्रह्मज्ञान और अद्वैतवाद की दृष्टि, आर्थिक मार्ग, सामाजिक और राजनीतिक उपाय। इसके लिए लोहिया पिछड़ी जातियों को केवल नेतृत्व के पदों पर ही आसीन नहीं करना चाहते थे, बल्कि उनकी आत्मा को जागृत करना और उनमें अधिकार भावना पैदा करना चाहते थे। इसके लिए उनमें आत्मसम्मान जगाने के लिए लोहिया ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। उन्होंने विश्वासपूर्वक कहा, "अगर महात्मा गांधी को आत्मसम्मान न रहा होता और एक बहुत ऊंचे पैमाने

१ 'समाजवाद की राजनीति'—राममनोहर लोहिया पृष्ठ २

२ 'जातिप्रथा'—राममनोहर लोहिया पृष्ठ १८,

३ वही पृष्ठ ८४

का आत्मसम्मान, तो दक्षिण अफ्रीका म वे कभी भी हिंदुस्तानियो के अधिकार और कर्तव्य की लडाई लड नही सकते थे। जो आदमी जानता है कि कहीं मेरी इज्जत खत्म हो रही है, वही आदमी अपना काम और कर्तव्य पूरा कर सकता है।"[1]

गाधी के सच्चे राजनीतिक उत्तराधिकारी के रूप म डा० लोहिया वतमान भारतीय राजनीति मे अकेले ऐस व्यक्ति हैं, जिनकी राजनीति दृष्टि सास्कृतिक सच्चाइयो और तत्वो को अपने साथ लेकर चलती हैं। इसी का फल है लोहिया की समदृष्टि 'समन्वय और 'समबोध । इसी का बीज है समता —नर नारी समता, व्यक्ति व्यक्ति म समता लेन देन म समता कमाई और खर्च म अधिकार और कर्तव्य म, गाव और शहर म, देश और विदेश म, अहम स इदम मे, पदार्थ स सूक्ष्म म भोग स वैराग्य म समता ।

आदमी तो हम सब एक हैं। सब के एक म दोष हैं। वही तू तू मैं-मैं वही आपसी झगडा वही आलस्य वही अह वही स्वर उसम कोई विशेष अतर नहीं है, लेकिन आप मेहरबानी करके पथिक को मत देखो पथ को देखो।
हम सब भारतवासी हैं। पथिक अलग अलग हैं पर पथ एक है—सभव बराबरी का, वह पथ है मान भाषा का यह पथ है पिछडे समूहो और गरीब इलाको के लिए विशेष अवसर का यह पथ है शाति और विश्व व्यवस्था का। इस पथ पर आग जब कभी उदासी आए तो उल्लास की बात मत भूल जाना। साथ ही साथ, यह भी सही है कि उल्लास आता है तो उदासी मत भूल जाना।"[2]

वतमान भारतीय राजनीति मे यदि कोई एक व्यक्ति बडे लोगो द्वारा बहुत गलत ढग से समझा गया तो वह डा० लोहिया थे। उनकी बातो को, उनके वक्तव्यो और भाषणो को अखबारो मे बिल्कुल जगह नहीं दी जाती थी। इतना ही नही, उन्हे झूठ और असत्य म रगकर छापा जाता था। इस प्रसग मे उन्होन हमेशा कहा और माना कि 'मैं किसी का दिमाग क्यो टटोलू ? क्या फायदा होता है ? मेरा खुद दिमाग न जाने किस रग का है। अगर मैं खुद चीरकर उसको देखना चाहू तो न जाने उसमें कौन सी गदगी निकले।

हो सका तो हमेशा के लिए यह सबक सीखूगा कि मात्र भेद रहे, मात्र मान रहे, दो धुरियो को समदृष्टि स देखें—एक सगठन की धुरी दूसरी आदोलन की धुरी एक तरफ हैसियत की धुरी, दूसरी तरफ क्रियाशीलता की धुरी, एक तरफ सिद्धात और कार्यक्रम की धुरी, दूसरी तरफ जायदाद और शक्ति की धुरी। इन दोनो म समदृष्टि रखना।'[3]

१ डा० लोहिया द्वारा १७ जुलाई १९५९ को हैदराबाद मे दिए गए भाषण स।
२ समदृष्टि राममनोहर लोहिया पृष्ठ १३
३ 'समदृष्टि राममनोहर लोहिया, पृष्ठ ४८

वान हिंदुस्तान की राजनीति मे लोहिया की यह समदष्टि आ पानी ।
लोहिया मे यह थी, पर उनकी समाजवादी पार्टी म यह कभी नही आ
द । यही तत्त्व तो गायब है पूरे भारतीय जीवन मे । और लोहिया यही फिर
वापस ले आना चाह रहे थे । यह बहुत बडी बात थी, पर उनकी पार्टी हमेशा
ोटी रही । वह खुद इतने बडे थे कि लोग उनके इतने करीब परम समानता
स्तर पर भी प्रायः उनके बराबर नही हो पाते थे । वे उनके सामने छोटे
हो जाते थे । इस सच्चाई स लोहिया को बेहद चिढ थी । समता और समानता
का दर्शन उन्ही के घर मे, उन्ही के दल मे हर रोज टूटता था ।

मानना होगा कि लोहिया का समाजवादी दल उनके अपने समय मे कितना
भी छोटा क्या न रहा, लेकिन बहुत महत्त्वपूर्ण रहा । उसने भारत की राजनीति
मे सच्ची बातो को समझकर विद्रोह पर समदष्टि का वह पाठ पढाना चाहा
जिससे भारतीय जीवन मे वह फल उत्पन्न होता जिसे मानवमुक्ति फल कहते
हैं । पर इस फल के लिए यह शर्त यह चरित्र बल, यह आस्था अनिवार्य है
कि 'एक तरफ धीरज रखो, वक्त का धीरज और दूसरी तरफ गर्मी रखो आग
वाली । हमेशा दोनो धुरियों का याद रखो । कल सरकार बनने वाली है ऐसा
सोचकर चलो और शायद सौ बरस भी सरकार न बने ऐसा सोचकर चलो ।"

परतु किसी भारतीय राजनीतिक दल के लिए यह चरित्र शायद असभव
है । जहा अभाव मे स ही राजनीति निकली हो वहा यह धैर्य कहा ? शक्ति
जहा गरीबी और निबलता की प्रतिक्रिया स्वरूप हो वहा यह फल कहा ? इसी
राजनीतिक से, बल्कि सास्कृतिक बिंदु से लोहिया का विद्रोह समातर तीन मोर्चों
पर था—काग्रेस सत्ता के विरुद्ध दलबदी के विरुद्ध और खुद अपने विरुद्ध । व
दरअसल इन तीनो मोर्चों पर रचनात्मक विकल्प की तलाश मे थे । तभी लोहिया
का 'विकल्प विद्रोह की आग और नवरचना की आस्था से जुडकर सकल्प' हो
गया । यह सकल्प और लाहिया की स्वधर्म प्राप्ति दोनो एकाकार हैं । सत्ता के
विरुद्ध विद्रोह मे रहना प्रजातत्र की निष्ठा थी । भारत के सास्कृतिक पतन,
जिसका सबूत दलबदी (जानबदी जीवनबदी) था इसके विरुद्ध विद्रोह करना
उनका लक्ष्य था । और उनका आत्मविद्रोह इस सच्चाइ से था कि 'अपने आप
को चीरकर देखना चाहू तो न जाने उसमे कौन-कौनसी गदगी निकले ।'
लोहिया का वह आत्मविद्राह दरअसल भारत का आत्मविद्राह था, जो सदियो
की गुलामी, अन्याय और पतन का साक्ष्य था ।

इन तीनो विद्रोहो के समातर तीन फल थे—पक्ष या सत्ता के प्रति विद्रोह
स प्रतिपक्ष या विकल्प का फल, दलबदी के प्रति विद्रोह से लाकशक्ति फल और
आत्मविद्रोह से स्वधर्म फल ।

मैं अनुभव करता हू लोहिया का जीवन इस ग्रथ मे 'सफल' था कि उनके
पास पथिक की ताकत थी, धैर्य और अपार निष्ठा थी, कष्ट झेलन से लेक

भयकर यातना सहन करने तक का धैय था, अपमान, अकेलापन निराशा और असफलता के बीच आशा, उल्लास और आनद के प्रति अनन्य निष्ठा थी। लोहिया का विद्रोह भाव किसी प्रतिक्रियावश नही, निष्ठावश था। और वह निष्ठा भी इस आत्मबोध से उगी थी कि भारत की मानसिक धरती मे बुनियादी परिवतन का बीज डालना है। काग्रेस की हार को वह लोकतत्र के लिए अनिवाय मानते थे। वह मानते थे कि काग्रेस हारेगी तभी देश जीएगा। वह इस हार को हिंदुस्तान म एक पुण्य का स्रोत मानते थे। उनका एसा विश्वास था कि जहा काग्रेस हारती है वहा जनता के मन हिलते हैं और मन को हिलाए बिना आप क्राति के, परिवतन के बीज उसम डाल ही नही सकते। जब जनता का मन हिलता है तब क्राति के बीज उसमे पडा करते हैं। मन, बुद्धि या हृदय रूपी पात्र इतनी बेमतलब और वाहियात चीजा से भरा हुआ है कि उसे अगर हिलाओ डुलाओ नही तो उसम बीज डालने की जगह ही नही निकल पाती।

गाधी ने परतत्र भारत म आजादी की भूख पदा की। सभी आजादी के भूखे लोग एक साथ चल पडे। लोहिया ने स्वतत्र भारत मे समता या बराबरी की भूख पैदा की। भूख तो थी सैकडो वर्षों से, पर पता नही था कि यह भी कोई भूख है। अभी तक पेट की ही भूख का पता था। आजादी की भूख जितनी गहरी है, तडपाने वाली है, लोहिया ने देखा और लोगो को दिखाया कि यह बराबरी की भूख भी उतनी ही गहरी और तडपाने वाली है। बराबरी की भूख के बारे मे आज हमारी करीब करीब वही हालत है जो १६१८ के पहले आजादी के बारे म हिंदुस्तान की भूख थी। "इसलिए घबराना नही चाहिए। अगर भारत को एकाएक हजारो-लाखो की तादाद मे उमडते हुए नौजवान नही मिलते हैं किसी काम के लिए तो घबराना नही। दुखी मत होना। दुखी तो मैं होता हू। आजादी की भूख वाला मामला पका हुआ था १६२० से १६५० के बीच। अब कभी बराबरी की भूख का मामला पकेगा, दो बरस मे पके या दस बरस म पके।'[1]

आजादी की भूख को मिटाना जसे सबका समलक्ष्य था, तो उसके लिए समबोध हुआ सब का एक साथ, एकजुट होना, त्याग करना, कष्ट झेलना और उम्मीद को कभी न छोडना। समता और बराबरी के लिए वह समलक्ष्य, समबोध जगाना और तीव्र करना यह लोहिया की राजनीति का महत्त्वपूण रचनात्मक पक्ष था। इस भूख को जगाने के लिए इसका एहसास देने के लिए वह बेहद महत्त्वपूण प्रतीक या विषय उठाते थे वाद-विवाद चलाने के लिए। मसलन, 'हिंदुस्तान की नारी का प्रतीक सावित्री नही द्रोपदी है।' लोहिया की

1 'समलक्ष्य समबोध', राममनोहर लोहिया, पृष्ठ ५

यह बात सुनते ही लाखो का दिल एकदम से उद्वेलित हो गया। कुछ लोग लाल पीले होकर कहने लगे कि यह क्या सावित्री पतिव्रता नारी का प्रतीक नही है? बल्कि द्रोपदी पाच पतियो की पत्नी वाली प्रतीक है?

लोहिया के हिसाब से यह एक ऐसा विषय है जिससे भारत के अतीत को शामिल करके वर्तमान मे नर-नारी के सबध के मामले मे समाज म जबदस्त उथल पुथल ला सकते हैं बराबरी की भूख को जगा सकते है। पर अभी तो बराबरी की भूख पर चारो तरफ इतनी ज्यादा काई जमी हुई है कि उस भूख को लोग पकड ही नही पाते। जब इस तरह का वाद विवाद चलेगा तो कुछ तो काई साफ होगी।

गैर बराबरी, असमता असमलक्ष्य असमबाध जैसे मूल्य सकटो के साथ लोहिया ने वर्तमान राजनीति को देखा। यथाथ को इस तरह देखने म लोहिया न इसके कारणो को पकडा और बडे सीधे स्पष्ट और निर्भीक ढग से अपने लेखन और कथन मे व्यक्त किया। भाषा, जातिप्रथा, हिंदू और मुसलमान, नर नारी, सवर्ण और शूद्र आदि ये सच्चाइया हैं जिनके कारण हमम गैर बराबरी और असमता है। इसको लोहिया ने भारत की 'बुनियादी साम्प्रदायिकता' की सज्ञा दी है। लोहिया के अनुसार इस साम्प्रदायिकता का कारण बहुत कुछ भारत की वर्तमान राजनीति है। उन्होने दिखाया है कि भारतीय राजनीतिज्ञ साधारणत सभाए नही करते और न ही सत्य सिद्धातो का प्रचार कर साम्प्रदायिकता समाप्त करना चाहते हैं। चुनावो के समय मत और समथन की आशा मे उन्हे भाषण देना पडता है किंतु उन भाषणो मे भी वे हिंदू मुसलमान, भाषा, जातिप्रथा, नर नारी, गरीब अमीर, नीच ऊच के असतोष के भय से कतराते हैं। इनमे परस्पर जो भी घृणा और द्वेष का भाव है, उसको आधुनिक राजनीतिज्ञ ज्यो का त्यो छोड देते हैं। जीवन के हर क्षेत्र म अस मानता का जो पुराना कूडा करकट पडा हुआ है, इसके प्रति भारतीय जनता म जो गलतफहमी है अज्ञान है, उसी को उलटे तसल्ली दे दिलाकर वोट लेना चाहते हैं। यह है आज हमारे राजनीतिक जीवन की सबसे बडी बेईमानी। इस बेईमानी के खिलाफ लोहिया के विद्रोह के कारण प्राय ऐसे सारे राजनीतिज्ञो ने चाहे वे किसी भी दल और विचार के क्यो न हो, लोहिया को अपना शत्रु माना है। लोहिया के खिलाफ जितना व्यापक प्रचार हुआ है वह एक ऐसा दस्तावेज है जहा लोहिया का सत्य अपराजेय है।

अतीत को न भूल पाना अतीत को गलत ढग म याद रखने का सबूत है। जो अभाव म है वही अतीत म रहता है। लोहिया न इसी दृष्टिकोण से 'इतिहास को देखा। उन्होने २६ अप्रैल, १९६६ को लोकसभा म एक उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया मदिर टूटे मध्यकालीन युग म। अब उसको इतिहास में लिखा जाता है। अगर सिर्फ इतना ही लिख दिया जाए कि मुसलमान

विजेताम्रो ने म्राकर मदिर तोडे तो बात सही जरूर है लेकिन अधूरी सही है, सिफ एक पहलू है। ऐसा लिखा तो इतिहास एक गुस्सा-भर बनकर रह जाता है। लेकिन उसके साथ-साथ यह भी रखा जाए जो आधे सच को पूरा बनाता है कि उस वक्त के हमारे पुरखे कितने नालायक थे कि व परदेशी आक्रमण-कारियो को रोक न पाए तो किसी हद तक इतिहास पूरा बन जाता है और फिर इतिहास एक दद के रूप म हमारे सामने आ जाता है।"

१९४७ के कानपुर सम्मलन के पहले समाजवादी पार्टी की सैद्धातिक नीति मार्क्सवादी थी और सगठन तथा सिद्धात दोना ही क्षेत्रो मे जयप्रकाश नारायण पार्टी के नता थे। सोशलिस्ट जन और उनकी पार्टी काग्रेस के अदर थी जिसका नाम था, काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी। इस लोहिया ने 'मिचगुट' की सज्ञा दी है। इसके बारे मे आत्म विश्लेषण करत हुए लोहिया न राजनीति के सदभ म एक महत्वपूण बात तलाशी है, 'किसी सगठन के अदर ही उसका एक वामपथी गुट अगर है, तो उसम एक स्वाभाविक कमजोरी आ जाती है। वह वामपथी गुट सम्मेलन के अवसर पर अपने प्रस्ताव रख दता है। प्रस्ताव पर अच्छी तरह स बहस करता है, बहुत बढिया भाषण, फिर उस पर वोट हो जात हैं और हार जाता है। फिर एक सतोष हो जाता है कि हमने तो अपना काम कर दिया और गर-जिम्मेदारी की भावना उसके अदर आने लगती है, जैस आज की समाजवादी पार्टी है।'[1]

१९४७ मे ही इस 'मिचगुट का अत होता है और लोहिया और जयप्रकाश के साथ 'उफान युग शुरू होता है। लोहिया और जयप्रकाश दोना एक साथ नेहरू स मिलने जात थे पर "आश्चय होगा कि जयप्रकाश की ओर हमारी कोई बात पहले से होती ही नही थी! कितनी हालत हम लागो की बिगडी हुई थी कि आपस मे बातचीत करके फसला नही करत थे अकेले फसला कर लेते थे। कुछ सगठित प्रयास नही होता था, यह १९४६ की बात बताती है।'[2]

यह है वह यथाथ जमीन, जहा स लोहिया अपनी राजनीति के साथ आग चले। महाबलेश्वर और पटना मे पार्टी की नीति और कायक्रम म लोहिया के विचारो का समावेश हुआ। पर १९५२ के चुनावा के बाद लोहिया को अपने विचारा मे परिवतन करना पडा। उन्होने अपने पचमढी भाषण म मार्क्सवाद का स्पष्ट रूप स त्याग तो किया ही, यह भी प्रकट हो गया कि पार्टी का सद्धातिक नेतृत्व मुख्यत लोहिया ही कर सकत ह। उस पहले आम चुनाव म समाजवादी पार्टी और कृपलानी जी की किसान मजदूर प्रजा पार्टी दोनो बुरी तरह पराजित हुई थी। तब तक समाजवादी पार्टी की परपरा मार्क्सवादी थी और किसान

१ 'समाजवादी आदोलन का इतिहास,' राममनोहर लोहिया, पृष्ठ ४०
२ वही, पृष्ठ ४३

मजदूर प्रजा पार्टी की गांधीवादी। दोनों दलों के मिलन से जो नई पार्टी बनी—प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, उसमें मार्क्सवाद और गांधीवाद का मिलन था और तब लोहिया ने सोचा कि इस संगम से देश के राजनीतिक जीवन में एक नये अध्याय का आरंभ होगा। पर यहीं से लोहिया की राजनीति में मानव मूल्यहीनता के खिलाफ विद्रोह का जीवन शुरू हुआ। पी० एस० पी० के जन्मकाल तक समाजवाद का स्वरूप वामपंथी राष्ट्रीयता का रहा जिसमें एक नकली उफान था। "ख्याली पुलाव पकाने का सिलसिला था। सभाएं बहुत बड़ी बड़ी होती थीं। जवान लोगों पर बड़ा जबरदस्त असर था। कालेजों और विश्वविद्यालयों में यूनियन वाले जितने लोग होते थे वे हमारे लोगों के चेले होते थे। हमारे लोगों के दिमाग चढ़ गए थे। मैं तब भी कुढ़ता रहता था मन ही मन किस बालू पर हमारी इमारत टिकी हुई थी। वामपंथी राष्ट्रीयता के एक अंग बनकर हम आगे बढ़े थे।"[१]

तब तक लोहिया ने अपने समाजवाद के सारे अंग निश्चित कर लिए थे वामपंथी राष्ट्रीयता, उग्रपंथी आर्थिकता, उग्रपंथी धार्मिकता, उग्रपंथी सामाजिकता और उग्रपंथी राजनीतिकता। इसी संदर्भ में लोहिया ने पचमढ़ी सम्मेलन में कहा कि समाजवादी सिद्धांत रचने की जितनी जरूरत है, उतनी ही आवश्यकता आत्मशक्ति के विकास की है। नई संस्कृति बनाने और जिंदगी को नया अर्थ देने के लिए मानवता उत्कंठापूर्वक राह ताकती है। 'विलीनीकरण से कृति तक' पहुंचने की उम्मीद करते हुए लोहिया ने स्पष्ट किया कि सत्ता हासिल करने की गहरी चाह राजनीतिक दलों की सबसे बड़ी कसौटी है। पर इस देश में ऐसी इच्छाशक्ति को अजीब ढंग से छिपाने का रुख बढ़ रहा है, जैसे कि सत्ताभिलाषा पाप है या कोई बहुत बुरी चीज है। राजनीति में इस प्रकार के पाखंड या दंभ को मिटाना चाहिए तभी आत्मशक्ति को सही अभिव्यक्ति मिलेगी। पर सत्ता की इच्छाशक्ति का श्रेष्ठ मानदंड भी अनिवार्य है। इच्छाशक्ति जितनी साफ और सशक्त होनी चाहिए उतना ही इसे चारित्रिक निर्बलता और गिरावट से सतर्क और सावधान रहना चाहिए। सत्ता की आकांक्षा झूठ, फरेब और हिंसा का इस्तेमाल नहीं करती।

प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के जन्म काल में लोहिया का यह मानस था। उसी समय फरवरी १९५३ में जवाहरलाल नेहरू ने जयप्रकाश को मिलने के लिए बुलाया। प्रसंग था नेहरू सरकार से सरकारी या गैर सरकारी स्तर पर सहयोग करने का। बाद में नेहरू कृपलानीजी और आचार्य नरेन्द्र देव से भी मिले। "बिल्ली जैसे चूहों के साथ खेल खेलती है वैसा ही खेल प्रधानमंत्री ने चलाया और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को पंगु बनाने के लिए चक्रव्यूह प्रवेश कर लिया।

समाजवादी आन्दोलन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं मे यह एक महत्त्व की घटना हुई थी। आम चुनाव की भारी मार के बाद भी पार्टी ने हिम्मत पकडी थी। फावडा जेल और वोट सगठन के विविध कार्यक्रम से हिंदुस्तान की जनता के सामने एकमेव विरोधी दल की हैसियत से पार्टी खडी हो चुकी थी। प० नेहरू जैसे तानाशाह को ऐसा कडवा दल बर्दाश्त होना कैसे सभव था ? जनतत्र का नाटक खडा करने के लिए उनको देश मे विरोधी दल चाहिए था जरूर लेकिन लक्वामार और उनकी मरजी से चलने वाला। वैसे तो प्रधानमत्री हमेशा विरोधी दल के नेता की भूमिका लेकर अपने ही पैदा किए हुए अन्यायों के खिलाफ बोलते थे। लेकिन कठपुतली जैसा नाममात्र विरोधी दल रहने से जनतत्र का नाटक अधिक रोचक हो जाएगा यह भी वे जानते थे। अपनी स्वाभाविक चालबाजी से उन्होने मछली पकडने का जाल फेंका और उनके सौभाग्य से और समाजवादी आन्दोलन की बदनसीबी से मछली पकडी गई।"[1]

सयुक्त मत्रिमडल राष्ट्रीय सरकार, काग्रेस के साथ सहकार्य आदि सवालो से बिगडती हुई हालत मे लोहिया दृष्टि साफ रखने की चेष्टा कर रहे थे। उन्होने कहा कि मैं सयुक्त मत्रिमडल के खिलाफ हू और लिखा कि प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, निश्चित बुनियादी सिद्धातो पर खडी है। ये सिद्धात हैं

(१) प्रजा सोशलिस्ट पार्टी काग्रेस कम्युनिस्ट और साम्प्रदायिक दलो से अलग है। कम्युनिस्ट और साप्रदायिक दल अराजकता की पार्टिया हैं तो काग्रेस यथास्थितिप्रिय पार्टी है। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को अपना भिन्नत्व, विचार और कृतियों द्वारा दिखाना चाहिए। इसी प्रकार अटलाटिक और सोवियत गुट से भी समान पृथक्त्व रखना चाहिए।

(२) प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को अपने हित और राष्ट्रहित मे फर्क नही मानना चाहिए। असल मे पार्टिया देशहित के लिए ही बनती और बढती हैं। जब रूढियो का बोझ और सस्थाओ की जीर्णता जनता को दबाती है तब धर्म के समान राजनीति मे भी नये रास्ते आवश्यक होते हैं। मुझे विश्वास है कि गौतमबुद्ध के सारनाथ के पहले भाषण को और उनकी श्रद्धामय कृतिया को उनके समकालीनो ने तदनतर बहुत सालो तक एकातिक और सकुचित कहकर उनका धिक्कार किया होगा। दलीय पद्धति के खिलाफ सज्जन लोगो पर जोर देकर बोलने की परिणति हिटलर या स्टालिन या क्रामवेल की नैतिक तानाशाही मे होगी। अच्छे लोगो को एकत्र आना चाहिए और दलो की रूपरेखाए धुधली कर देनी चाहिए, इस विचार का मुकाबला करना होगा।

(३) प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ठोस और कालबद्ध राष्ट्रीय पुनरचना के कार्यक्रम मे सदैव व्यग्र है।

१ लोहिया सिद्धात और कर्म इदुमति केलकर पृष्ठ ७२, २७३

(४) पार्टी का ऐसा ठोस और कालनिबद्ध कार्यक्रम कांग्रेस या अन्य दल को मंजूर होने पर भी समझौता या संयुक्त मन्त्रिमण्डल के मार्ग में अन्य रुकावटें हैं। ऐसा कार्यक्रम अमल में लाने की दृष्टि से जितने उसके भिन्न भिन्न पद निर्णायक हैं उतने ही निर्णायक स्थान उस पर अमल करने वालों और प्रत्यक्षता की हवा को हैं। अमल करने वाले और प्रत्यक्षता की हवा तभी पैदा होगी जबकि जनता कार्यक्रम मान्य करके बहुमत से सत्ता सुपुर्द करेगी।

(५) प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, देश के भीतिदायक बिखराव को तलवार बनकर हटा सकती है न कि ढाल बनकर।

लोहिया ने अंत में इशारा किया कि "इन पांच श्रद्धा स्थानों से दूर जाना आत्मघातक सिद्ध होगा।"

उनका दृढ विश्वास था कि चोटी के नेताओं के कार्यक्रम मंजूर करने से कुछ नतीजा नहीं निकलेगा। अपनी इस कल्पना को स्पष्ट करते हुए एक भाषण में उन्होंने कहा, हिंदुस्तान की जनता श्री नेहरू को हटाकर उनकी जगह सोशलिज्म को मत देकर श्री जयप्रकाश को बिठाएगी तो मुझे खुशी होगी।"

इस प्रकार लोहिया और पार्टी के अन्य नेताओं के बीच अंतर बढ़ने लगा। जयप्रकाश के पक्ष के समर्थन में अशोक मेहता का यह सिद्धांत आया कि 'पिछड़ी हुई व्यवस्था की राजनीतिक मजबूरियां" होती हैं। इस थीसिस में उन्होंने लिखा कि हिंदुस्तान जैसे अविकसित देश में कांग्रेस जैसी पार्टी की नाकामयाबी से जनतांत्रिक और धर्मातीत राजनीति के बदनाम होने का खतरा सदा मौजूद रहता है। दो मार्गों से इस खतरे का मुकाबला इस प्रकार हो सकता है— (१) जनतांत्रिक दलों में कार्यक्रम के आधार पर समझौता। (२) सहमति और असहमति के क्षेत्र को तय करना। उनका विचार था कि यदि एकाधिकारशाही बेवकूफी है तो संसदीय नौकरशाही भी ज्यादा उपयुक्त नहीं है। यदि केवल दो ही दल अस्तित्व में रहेंगे तो भी विरोधी दल का काम विरोध करना है ऐसा स्वयंसिद्ध सिद्धांत मानने से आर्थिक प्रगति कठिन होगी।

इस सिद्धांतहीनता से लोहिया का विरोध और संघर्ष इसी चरण से तीव्र हुआ। लोहिया ने स्पष्ट कहा कि यह सब निरर्थक है। इसका अर्थ प्रस्थापित सारे दल तोड़ने का, या नया दल निर्माण करने का या अपनी चाह के दल की ताकत बढ़ाने का है। एकदलीय या सर्वदलीय प्रयत्नों का नतीजा तानाशाही या निजी घमंड की पार्टी खड़ी करने का होता है। दल की अड़चनें या कमजोरियां दूर करने की बात अलग है। 'मैंने भी अतीत में दल की नकारात्मकता, बाह्य दिखावा, चुनाववाद, हिंसाचार आदि दोषों पर अन्य किसी से ज्यादा मात्रा में जोर देकर कहा था, फिर भी मैं मानता हूं कि दल ही एक रास्ता है और दल नष्ट करने से रास्ता नष्ट होगा।"

"जिंदगी में भलाई की गरज मैं भलीभांति समझ सकता हूं। सन्द्रा

की राजनीति पर जोर देने की गरज झगड़े की राजनीति से अलग है। लेकिन सदइच्छा का स्वरूप दुहरा है। यह तात्विक कल्पना के साथ साथ राजकीय अवसरवादिता का भी स्वरूप है और एक को दूसरे के साथ मिलाना घातक होगा। सदइच्छा के तात्विक और भावनात्मक पष्ठभूमि के फलाव म जितना कांग्रेस का उतना ही जनसंघ और कम्युनिस्ट पार्टी का भी संबंध है। इसको एक पार्टी तक सीमित करने का मतलब सदइच्छा की विकृति और शायद अचेतन म राजकीय साजिश रचना होगा।

'दार्शनिक सदइच्छा और राजकीय संघर्ष, दोनों मानवी कृतियों का परस्पर अंतर प्रवेश होना चाहिए। फिर भी दोनों कृतियों की स्वतंत्र हस्ती को भूलना नहीं चाहिए।"

लोहिया ने आगे कहा कुछ साथी मुझे मौजूदा घटनाओं के लिए जिम्मेदार मानते हैं, क्योंकि मैंने पार्टी का मार्क्सवादी आधार नष्ट किया। लेकिन मेरी आलोचना नकारात्मक नहीं थी बल्कि नया विचार बांधने का निश्चित प्रयत्न था।

प्रधानमंत्री ने सभी स्तरों पर सहकार की मांग की, ऐसा माना जाता है। "लेकिन श्री जयप्रकाश नारायण के पत्र से यह स्पष्ट हो गया था कि प्रधानमंत्री ने सहयोग की बहुत अस्पष्ट बात की थी। हमारे साथियों ने अधिक स्पष्टता के बारे में पूछा भी था।" लोहिया ने कहा, 'मुझे डर है कि प्रधानमंत्री कभी भी इस वाक्य का इस्तेमाल पार्टी के खिलाफ करेंगे।"

अपने भाषण के अंत में लोहिया ने विरोधी दल के रूप में और सरकारी दल के रूप में दल का कार्यक्रम बनाने के लिए कमीशन नियुक्त करने की आवश्यकता बताई, इसलिए कि ऐसा कार्यक्रम जनता का राजकीय शिक्षण कर सकेगा। लोहिया की पालिसी कमीशन की सिफारिश के बावजूद जयप्रकाश नारायण, अशोक मेहता और अन्य सहमन्त्रियों ने इस्तीफा दे दिया।

सन १६५३ के २६ से ३१ दिसंबर तक इलाहाबाद में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का पहला सम्मेलन हुआ। सन १६५० के बाद समाजवादियों का यह पहला अधिकृत सम्मेलन था। लोहिया ने सम्मेलन के सामने पालिसी 'कमीशन' की रपट पेश की। रपट में चौखंभा राज, विकेंद्रीकरण आर्थिक समानता, कृषि और उद्योग नीति कार्यक्रम निश्चित और ठोस आशय से पेश किए गए थे। तेज जबान और नरम कर्म से देश का वातावरण बड़ा गंदा हो गया था। दरअसल लोहिया द्वारा इलाहाबाद के उस सम्मेलन में पचमढ़ी और बैतूल का झगड़ा मिटाने की भी कोशिश हुई। इसी का परिणाम था कि पहली बार लोहिया को पार्टी का महामंत्री पद स्वीकार करना पड़ा। लोहिया अपने व्यवहारों भाषणों और लेखों द्वारा भारतीय जनता को व्यवस्था और नेहरू सरकार से लड़ाई के लिए प्रोत्साहित करते थे। वे तरह-तरह की मिसालों और भोगे हुए जीवन

उदाहरणो से सरकारी अन्यायो के खिलाफ भारतीय जन मानस को उभारते थे। उनके भाषणो की भाषा विस्फोटक होती थी, "सरकार मे घुन लगा है हुकूमत को नशा आ गया है दिल्ली तो हमेशा ही सडी हुई रही है, क्योकि दिल्ली की उपमा मैंने कुलटा से दी है जो हर विजेता के सामने पूरी प्रतिभा और सुदरता को खोलकर बैठती है लुभाने की कोशिश करती है और यह भी सही है कि वह इतना रिझा लेती है कि उसको भी नपुसक बना दिया करती है। प्रधानमत्री जैसे बेएहसानी आदमी ने सिद्ध किया है कि चोट खाया हुआ उदार मनवादी, क्रूर दकियानूसी से भी बुरा हो सकता है। मेरी केवल दो ख्वाहिशें हैं। एक दुनिया भर मे पासपोर्ट के बिना सफर करना और दूसरी कि आपके प्रधानमत्री काफी समय तक जीवित रहे। इसलिए कि उनके गणतत्र के खिलाफ होने वाले बहुतेरे जुर्मो के कारण जनता उनको फिर एक बार जेल भेजे।"

जवाहरलाल नेहरू के राजनीतिक चरित्र से लोहिया को जिस बात से बेहद गुस्सा, यहा तक कि नफरत थी वह यह कि भारत के सभी राजनीतिक दलो मे नेहरू फूट डालने और उन्हे तोडने की चाल चलते थे। सभी दलो मे नेहरू अपने भक्त पैदा कर बाटो और राज करो की अग्रेज नीति अपनाते थे। लोहिया का विश्वास था कि नेहरू भारतीय प्रजातत्र के विकल्प पक्ष को कभी मजबूत नही होने देंगे—क्योकि नेहरू भारतीय प्रजातत्र के नाम पर एकक्षत्र सत्ताधारी बने रहना चाहते है। लोहिया ने जवाहरलाल नेहरू के लिए कहा है कि 'ऐसे सरपोश वाले तानाशाह के खिलाफ हिंदुस्तानी जनता को ज्यादा से ज्यादा प्रदर्शन करके उन्हे अपने भ्रष्ट करने वाले झूठ फैलाने से रोकना चाहिए।"[1]

काग्रेसी राजनीति के मर्म को जितना लोहिया ने समझा था उतना शायद किसी अन्य राजनेता ने नही। नेहरू सरकार के बारे मे उन्होने कहा, 'हिंदुस्तान की सरकार को हमेशा चापलूस मिलते रहेंगे क्योकि हम सडे हुए हैं, जनता सडी हुई है, देश बिगडा हुआ है एक हजार बरस का कोढ है।'[2]

लोहिया ने काग्रेसी राजनीति, जिसे उन्होने सत्तावादी राजनीति की सज्ञा दी है, के रहस्योदघाटन मे बताया है कि "यह सरकार अलग अलग सवालो को, अलग अलग मौको पर उठाकर जनता के किसी न किसी झुड को अपने साथ कर लिया करती है। क्योकि अपना मुल्क इतना टूटा हुआ है, इतना बीमार है कि उसका कोई न कोई तबका किसी न किसी बात को सुनकर खुश हो जाता है और वह सरकार के साथ चिपक जाता है।'

इस राजनीतिक चाल का ताडन के लिए लोहिया ने दो कार्यक्रम चलाए देश गरमाओ और जितना सभव हो जनता मे आर्थिक चेतना पैदा करो।

१ लोहिया इदुमति केलकर पृष्ठ २६६
२ देश गरमाओ राममनोहर लोहिया पृष्ठ ४६

इसका मूल कारण यह है कि एक पिछड़े, गरीब, दब, मिटे देश की जनता जब तक गरमाती नही है तब तक खेती, कारखाना सुधरा नही करता। देश गरमान के लिए जरूरी है कि वहा के लोगो की ग्रामदनी भाषा सपत्ति, समता, जातिभेद, अन्याय आदि के सवाल उठाए जाए। चूकि सरकार बुनियादी तौर पर बड़े लोगो की होती है इसलिए गरीब अमीर की लडाई चलाए बिना साधारण और छोटे लोगो का मन गरमा नही सकता।

आर्थिक चेतना पैदा करने के प्रसग मे लोहिया का आर्थिक चिंतन अपने देश की मिट्टी से उपजा है। मार्क्स और एगेल्स का मत है कि वर्ग की उत्पत्ति आर्थिक कारणा स हुई। डा० लोहिया के मत स वर्ग की उत्पत्ति का कारण केवल आर्थिक नही बल्कि सामाजिक और बौद्धिक भी है। उनका कहना है कि दौलत बुद्धि पद और स्थान के हिसाब स समाज म गिरोह बनत हैं, और आगे चलकर वही वर्ग म बदल जात हैं क्योकि सपत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा हमेशा साथ नही चलते। उदाहरण के लिए, भारत म ब्राह्मण वर्ग अधिकतर धनी नही होता किंतु उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा सबस ज्यादा है।

विशेषाधिकार स ही विशेष वर्ग बनता है। लोहिया के अनुसार भारत म बुनियादी किस्म के विशेषाधिकार तीन हैं—जाति, सपत्ति और भाषा सबधी विशेषाधिकार। भाषा सबधी विशेषाधिकार से लोहिया का तात्पर्य अंग्रेजी भाषा के ज्ञान स है। आज धन और प्रतिष्ठा अंग्रेजी स जुडी हुई है। इसी के कारण भारत जैसे प्रजातांत्रिक देश म करोडो लोग हीन भाव स ग्रस्त हो गए हैं। इसके भी पीछे बुनियादी बात लोहिया ने यह पकडी है कि करीब डेढ हजार सालो से हिंदुस्तान की सस्कृति म एक अजीब फूट चली आ रही है। एक तरफ तो कुछ लोगो की सामती सस्कृति और दूसरी तरफ शेष लोगो की लोक सस्कृति रही है।

वर्ग निर्माण का दूसरा कारण जाति सबधी विशेषाधिकार है। भारतीय ग्रथ इस सत्य के प्रमाण हैं कि पहले जाति नही वर्ण था, वर्ण का निर्माण स्वभाववश कार्य विभाजन के लिए किया गया था। उसम छोटे बडे, ऊच नीच का कोई भेदभाव नही था। सहयोग के आधार पर सामाजिक विकास ही इस विभाजन का लक्ष्य था। किंतु लोहिया इसम भी आग जात हैं। जातिप्रथा के प्रति विद्रोह के स्वर म वह सोचत है कि विश्व के इतिहास म सबल और निबल के बीच युद्ध हुए। सबलो न निबलो को तबाह कर उ ह नष्ट कर डाला। किंतु भारतवर्ष की विशेषता यह रही कि विजयी वर्ग न पराजित वर्ग को नष्ट करन की बजाय केवल उसके विशेषाधिकारो को सीमित किया। इस प्रकार हारे का नाश करन की बजाय उसकी ग्रामदनी को बाध रखन के प्रयास

से जाति की उत्पत्ति हुई।"[1] विजयी वर्ग सवर्ण और पराजित वर्ग शूद्र कहलाया। आर्थिक प्रक्रिया से सवर्ण धीरे-धीरे शूद्र को व्यक्तित्वहीन, तेजहीन बनाता चला गया। फलतः सारा शूद्र समुदाय (भारत का तीन चौथाई भाग) निर्जीव, उदास और व्यक्तित्वहीन बनता चला गया। परिणामतः सारा देश निर्जीव, उदास और व्यक्तित्वहीन होता चला गया। इसी गहन प्रसंग में लोहिया ने कहा, "जाति देश को तोड़ रही है। वह संतुष्टि, डर और निश्चलता के बहुसंख्यक छोटे-छोटे पोखर बनाती है, हर एक पोखर को अपने छोटे से घर की भलाई में ही दिलचस्पी रहती है। मूल्यों की एक विषम सीढ़ी ने हर एक जाति को कुछ दूसरी जातियों के ऊपर खड़ा कर दिया है।"[2]

अंतिम विशेषाधिकार संपत्ति है—इसी में से शोषक और शोषित पैदा होता है। यही जड़ है गैरबराबरी की। इन तीन विशेषाधिकारों से चार वर्गों का निर्माण होता है—पहला शासक वर्ग, दूसरा उच्च मध्यम वर्ग, तीसरा निम्न मध्यम वर्ग और चौथा सर्वहारा वर्ग। लोहिया ने वर्ग उन्मूलन निमित्त वर्ग निर्माण के लिए उत्तरदायी तत्वों के उन्मूलन का विचार दिया। उनका 'अंग्रेजी हटाओ प्रतिज्ञापत्र इसका महत्वपूर्ण दस्तावेज है।

समता की स्थापना के लिए विषमता को दूर करना लोहिया का एक महत्वपूर्ण कार्य था। उनके अनुसार आधुनिक भारत में न्यूनतम और अधिकतम आय में एक और दस का अनुपात है। लोहिया समता के साथ संपन्नता भी चाहते थे। इस प्रकार लोहिया का आर्थिक चिंतन इतने विचारों से संपूर्ण होता है—वर्ग उन्मूलन, आय नीति, मूल्य नीति, अन्न सेना और भू सेना, भूमि का पुनर्वितरण, आर्थिक विकेंद्रीकरण, राष्ट्रीयकरण अथवा समाजीकरण और की खर्च सीमा।

लोहिया का राजनीतिक विचार संपूर्ण मनुष्य के संपूर्ण पक्षों को लेकर चलता है। मनुष्य के मौलिक अधिकार का मूल्य ही उनकी राजनीतिक दृष्टि का मूल है। उनका विश्वास था कि इसी मूल्य के आधार पर मनुष्य अपनी संपूर्णता को प्राप्त हो सकता है। इस संदर्भ में लोहिया ने एक बुनियादी खोज की है। उनका ऐसा मानना था कि जब तक मानव के 'मूल' का ज्ञान (बीज) नहीं प्राप्त किया जा सकता तब तक मनुष्य की कोई भी क्रांति कभी संपूर्ण नहीं हो सकती। आखिर जल तो अपना तल पाने पर ही प्रशांत होता है। मानव का तल क्या है? उसका लक्ष्य क्या है? इसका उत्तर प्राचीन भारतीय शब्द 'मोक्ष' में निहित है, जिसका राजनीतिक संदर्भ में अनुवाद होता है स्वराज्य और जिसकी व्यावहारिक व्याख्या होगी विकास के लिए आचार और विचार का संपूर्ण स्वातंत्र्य और यही इसकी बुनियादी शर्त है।

१ जातिप्रथा, राममनोहर लोहिया, पृष्ठ ४१
२ वही, राममनोहर लोहिया, पृष्ठ ११३

इस सिलसिले मे लोहिया के राजनीतिक चिंतन के मुख्य आधार ये हैं राजनीतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या धर्म और राजनीति का संबंध, जनशक्ति का महत्त्व, चौखभा योजना, सिविल नाफरमानी, वाणी की स्वतंत्रता कर्म नियंत्रण, व्यक्ति और समाज के परस्पर संबंध। राजनीतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या के अंतर्गत वर्ग और वर्ण की अत्यधिक मौलिक व्याख्या लोहिया ने की है। उनका कहना है कि, "अब तक समस्त मानवीय इतिहास वर्गों और वर्णों के बीच आंतरिक बदलाव वर्गों की जकड़ मे वर्णों के बनने और वर्णों के ढीले पड़ने मे वर्गों के बनने का ही इतिहास रहा है।"[1]

लोहिया के अनुसार वर्ग समानता की चाह की अभिव्यक्ति है और वर्ण न्याय की चाह की। 'अस्थिर वर्ण को वर्ग कहते है और स्थायी वर्ग वर्ण कहलाते है।'[2] जब राष्ट्र उन्नतिशील होता है तब वर्णव्यवस्था की जगह वर्ग व्यवस्था जीवित रहती है। क्योंकि आमदनी शक्ति और स्थिति मे भिन्न ये वर्ग अपनी अपनी आमदनी शक्ति और स्थिति बढ़ाने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। किंतु कालांतर मे उद्योग कौशल की श्रेष्ठता और वर्ग संघर्ष की तीव्रता अनंत अव्यवस्था और पतन का कारण बनती है क्योंकि ये दोनों स्थितियां क्रमशः उत्पादन अवरोध और हिंसा को जन्म देती हैं। तब इस वर्ग संघर्ष की समाप्ति हेतु न्याय के आधार पर स्थिति और आमदनी स्थिर करके वर्णों का निर्माण किया जाता है जो अंतत राष्ट्र के पतन का साक्ष्य है।

इन दोनों स्थितियों से उबरने के लिए लोहिया ने सब देशों और लोगों के सांस्कृतिक मिलन का विचार दिया। उन्होंने कहा कि दोनों ही स्थितियों मे निहित अन्याय और शोषण राष्ट्रीयता, क्षत्रीयता और फलत हिंसा के चक्र को तोड़कर मानव बहुरंगी मिलन की ऐसी शोषणरहित, विश्व सभ्यता का निर्माण कर सकता है जो राष्ट्रों के बाह्य संघर्ष से मुक्त हो, जिसमे मनुष्य स्वतंत्र समृद्ध और भीतर मे सुखी हो और अपने संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास कर सके। इसके लिए मानव की समझदारी, साझेदारी और इतिहास की तृतीय चालक शक्ति की सर्जना अनिवार्य है।

धर्म और राजनीति के संबंध के बारे मे विचार करते हुए लोहिया ने धर्म के चार काम बताए हैं, (१) विभिन्न धर्मों के बीच बर कराना, (२) अपने अपने धर्मानुसार प्रतिष्ठित संपत्ति, जाति और नारी संबंधी व्यवस्थाओं को यथावत रखना, साथ ही (३) धर्म अच्छे व्यवहार के लिए नैतिक और सामाजिक प्रशिक्षण देता है तथा (४) सत्य, अहिंसा आदि मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा मे योगदान करता है। लोहिया ने धर्म के इन तीसरे और चौथे तत्त्वों को मानवता

१ इतिहास चक्र राममनोहर लोहिया पृष्ठ ४६
२ वही पृष्ठ ३८

के लिए मूल्यवान बताया और इह राजनीति से जोडना चाहा। सच्चा समाजवादी चाहे आस्तिक हो या नास्तिक धम के इस पक्ष से अलग नही रह सकता। लाहिया ने धम को 'कुछ ढूढ निकालने वाला' माना है। इस तरह धम का काम "अच्छाई को करना है, और राजनीति का काम बुराई से लडना है।" धम और राजनीति एक दूसरे को पूण बनात है। पर लाहिया का विश्वास है कि धम और राजनीति मे से यदि एक भी भ्रष्ट हो जाए तो दोना ही भ्रष्ट हो जात है।

प्रजातान्त्रिक समाजवादी होने के कारण लोहिया जन शक्ति क प्रबल समथक थे। जन शक्ति का सूक्ष्म तत्त्व 'जन इच्छा की प्रभुसत्ता' मे लोहिया की परम आस्था थी। इसी आस्था से लोहिया न इन सात क्रातियो की परिकल्पना की नर-नारी की समानता के लिए, चमडी के रग पर आधारित असमानताओ के खिलाफ परदेशी गुलामी के खिलाफ और विश्व लोक राज्य के लिए निजी पूजी की विषमताओ के खिलाफ और योजनाओ द्वारा उत्पादन बढान के लिए, निजी जीवन म अन्यायी हस्तक्षेप के खिलाफ, अस्त्र शस्त्र के खिलाफ और सत्याग्रह के लिए क्राति।

लोहिया की दष्टि मे पूजीवाद व्यक्ति को राजनीतिक और सास्कृतिक स्वतन्त्रता दने का भूठा प्रचार करता है और इसी प्रकार साम्यवाद व्यक्ति का आर्थिक अथवा रोटी रोजी की स्वतन्त्रता देने का भूठा दावा करता है। इसके विकल्प मे लोहिया ने चौखभा राज्य' और 'प्रशासकीय विकेंद्रीकरण की व्यावहारिक योजना दी। उनके मत स चौखभा राज्य जनता की अकमण्यता समाप्त कर भ्रष्ट व बोझिल व्यवस्था स उसको मुक्त करता है। यह राज्य जनतन्त्र के चौखटे मे हमदर्दी और बराबरी का रग भरता है। वह जनतन्त्र को सही अर्थो मे जनता द्वारा जनता के लिए, जनता का शासन मानते थे।

इस स्थिति को प्राप्त करन के लिए शाश्वत सिविल-नाफरमानी का व आवश्यक मानत थे। उनका कहना था कि सप्ताह के सातो दिना मे प्रत्यक राजनीतिक दल को कम से कम दो दिन सत्याग्रह करना चाहिए। हिंदुस्तान म सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा की रिल रस होनी चाहिए। तभी अन्यायी शासन चाहे वह किसी दल का हो, समाप्त होगा। उनकी तीव्र उत्कठा थी कि एक ऐस दल का निमाण होना चाहिए जो कभी सत्ता पर न बैठे बल्कि सत्ताधारियो के अन्यायो का अहिंसात्मक ढग स सदव प्रतिकार करे जिसस कि अत्याचारी शासनो को रोटी की तरह उलट-पलट सेंक कर एक दिन पवित्र बनाया जा सके। 'हिंदुस्तान की सरकार को उलटत-पलटत इमानदार बनाकर छोडेंग। यह भरोसा हिंदुस्तान की जनता म अगर आ जाए किसी तरह तो फिर रग आ जाएगा अपनी राजनीति म।'[1]

१ पाकिस्तान म पलटनी शासन राममनोहर लोहिया पृष्ठ २५

विचार और कर्म दोनो का एक ही नाम था डा० राममनोहर लोहिया। इसीलिए उनका विद्रोह हर जगह हर क्षण चलता था। वह इसे ही जीते थे। उनके लिए जीना ही विद्रोह का स्वधर्म था। सिविल नाफरमानी के महापुरुष के रूप मे लोहिया सदैव याद किए जाएगे। गैरकानूनी बेदखली के विरोध म मई १६५१ मे मसूर राज्य के कृषको के साथ सत्याग्रह, १६५४ मे उत्तर प्रदेश म नहर रेट वद्धि के खिलाफ सामूहिक सविनय अवज्ञा, भूमि सबधी विभिन्न मागो को लेकर १६५६ म बिहार के कृषको द्वारा सिविल नाफरमानी १६५६ से लेकर १६६२ तक अनवरत समाजवादी दल का देशव्यापी सविनय अवज्ञा— यह साक्ष्य है लोहिया के वचन और मम के महत योग का।

वाणी स्वतन्त्रता और कम नियत्रण का सिद्धात राजनीति इतिहास मे एक अनोखा, अत्यत मूल्यवान और मौलिक विचार है। इसम वयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक हित का अनूठा सम वय है।

व्यक्ति और समाज के सबध को लोहिया न सवथा नई दष्टि से देखा। जिस तरह उन्होंने 'द्वद्व सिद्धात से आगे 'सम्यक दृष्टि' का विचार किया, ठीक उसी क्रम मे पदाथ और आत्मा सगुण और निगुण धम और राजनीति, व्यक्ति और समाज के बीच द्वद्व को झूठा करार देकर समदष्टि स सपूण को देखा। "ऐसे जोडा म अतर्निहित विरोधाभास एक नकली और अस्वाभाविक विरोधाभास है।'[1] इसी आधार पर उन्होंने विचार दिया कि व्यक्ति परिवेश और वातावरण स जन्मा है किंतु परिवेश और वातावरण भी व्यक्ति स जनमा है। जिस प्रकार व्यक्ति का विकास समाज द्वारा होता है उसी प्रकार समाज का विकास भी व्यक्ति द्वारा होता है। लोहिया के राजनीतिक दशन का सार-बिंदु यह है कि 'मनुष्य साध्य और साधन दोना है। साध्य की दष्टि स वह असीम प्रेम का विकास करता है तो साधन की दष्टि स अन्याय के विरोध मे वह क्रांतिकारी क्रोध भी प्रकट करता है।"[2] जिस अन्याय, असमता और असत्य के प्रति विद्रोह उनके व्यक्तित्व म था, अतत उसका प्रतिनिधि उ ह प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के रूप म मिल गया। नेहरू के प्रति विद्रोह लोहिया क व्यक्तित्व का एक अत्यत महत्त्वपूण पक्ष है। नेहरू के खिलाफ हो जाना कुछ कम नही था, पर नेहरू के प्रति पूरी तरह से विद्रोही हो जाना, यह लोहिया क साहस, आत्मविश्वास और अतत स्वधम का अथवान् उदाहरण है। जिस तरह गाधी ने अग्रेजो के खिलाफ भारतवष को जगाया ठीक उसी स्तर पर और उन्ही उद्देश्यो से लोहिया ने नेहरू के विरुद्ध देश को जगाया। गाधी का उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करना था लोहिया का उद्देश्य इस देश म

१ मार्क्स गांधी एड सोशलिज्म राममनोहर लोहिया पष्ठ ५७५
२ वही पष्ठ ३७५

प्रजातन्त्र का स्थापित करना था। प्रजातन्त्र माने सत्ताधारी पक्ष के ही समान प्रतिपक्ष का भी बलवान होना, प्रतिपक्ष माने विकल्प, और विकल्प माने सत्ता धारण की इच्छाशक्ति।

प्रजातन्त्र में इसी प्रतिपक्ष को सजीव और शक्तिशाली बनाने तथा कांग्रेस शासन का विकल्प तैयार करने के लिए लोहिया ने प्रतीक रूप में प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू को अपने गर्व और संपूर्ण विरोध का पात्र बनाया। दोनों नायक थे अपनी अपनी भूमिका की। यद्यपि कांग्रेस की पूरी कोशिश थी कि इस लड़ाई में लोहिया को खलनायक साबित कर दिया जाए। लोहिया के पक्ष में प्रजातन्त्र की आस्था थी समाजवादी निष्ठा थी और साथ में एक छोटी सी पार्टी थी। प्रचार प्रसार का न कोई साधन था, न धन सम्पत्ति की ताकत थी। नेहरू या सत्ता के पक्ष में सब कुछ था, अपार धन और साधन, नेहरू की स्वयं की महिमा सारा सरकारी गैरसरकारी प्रचार तन्त्र। बिल्कुल कर्ण की तरह तेजस्वी और अकेले थे लोहिया। वह निर्भीक सत्याचारी थे परंतु साथ ही अप्रिय सत्यवादी थे। नेहरू के प्रति उनकी लड़ाई धर्मयुद्ध के समान थी। उसी तीव्रता, गरिमा और अनंत अपार करुणा से वह धर्मयुद्ध उन्होंने लड़ा। उस धर्मयुद्ध की मोर्चेबंदी उसके उद्देश्य बिल्कुल निश्चित थे, जैसे जवाहरलाल नेहरू की मूर्ति का भंजन ताकि प्रजातन्त्र के नागरिक को यह आत्मविश्वास प्राप्त हो कि एक साधनहीन साधारण व्यक्ति भी किसी सच्चाई के लिए, न्याय और आदर्श के लिए बड़े से बड़े साधनसंपन्न, सत्तासंपन्न और महिमामय व्यक्ति से युद्ध कर सकता है।

स्वतन्त्रता समता और मानवीय गरिमा के भाव की प्रतिष्ठा के लिए वह युद्ध लड़ा गया। नेहरू रूपी वटवृक्ष के नीचे देशवासी कहीं छोटे पौधे ही न रह जाएं इसलिए उस वटवृक्ष की महिमा को ताड़ना आवश्यक था। इस प्रसंग में लोहिया द्वारा उठाया गया 'प्रधानमन्त्री श्री नेहरू पर प्रति दिन २८ हजार रुपये खर्च का प्रश्न, 'तवलची, रईसआलम और भाड नामक मई १९६२ का उनका वक्तव्य, चुनाव दौरे पर १०,२०१६ रुपए और उन्घाटन पर १९२५०० रुपये का खर्च' खानदान का सवाल' जब प्रधानमन्त्री भाषण देते हैं 'उत्तराधिकार की राजनीति आदि वक्तव्य और तीसरी लोक सभा के पांचवें सत्र में गुरुवार २२ अगस्त १९६३ का नेहरू सरकार के प्रति अविश्वास प्रस्ताव पर लोहिया द्वारा बहस, महत्वपूर्ण दस्तावेज है।

लोहिया का गहरा विश्वास था कि भारत जैसे देश के विकास और कल्याण के लिए जवाहरलाल नेहरू से सर्वथा अलग एक नये ढंग के नेतृत्व की और जनता में एक नये गुण की जरूरत है। पूजा करना चरणों पर फूल चढ़ाना और प्रशंसा में गीत गाना जैसे काम बहुत हो चुके। राजनीति के मंच पर अकड़कर चलने वाले आज के ढोंगी नेता की अपेक्षा सच्चा नेता संभवत अपनी

जनता को बहुत अधिक आकृष्ट करेगा। वह अपने चारों ओर जभाई लेने वाले, पूजा करने वाले और लालची सूबाधिराजों की भीड़ नहीं लगाएगा, वह तो विवेकशील और मेहनती देशभक्तों को इकट्ठा करेगा। वह किसी हाथी के लिए दौड़ पड़ने वाला विष्णु या न्याय की घंटी हिलाने वाला जहांगीर नहीं बनेगा, और न आनंदपाल या नेहरू बनेगा वह तो जनता का एक अंग होगा, एकदम उन्हीं की तरह जीवनयापन करने वाला। वह एक ऐसा नेता होगा जो जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करेगा बल्कि जनता ही उसका प्रतिनिधित्व करेगी।"[1]

लोहिया के सारे विद्रोह, क्रांति और राजनीति का आधार और साध्य इस देश का साधारण 'छोटा' आदमी था। इसी के प्रसंग में उन्होंने अपने देश की संस्कृति, भाषा इतिहास, पुराण लोकसभा और नर नारी को देखा और समझना चाहा। उन्होंने कहा है कि हिंदुस्तान में इतिहास के रंगमंच के पात्र और निर्माता मुश्किल से मुट्ठी भर लोग रहे हैं। देश की करोड़ों जनता पर्दा खींचने या दर्शक का काम करती रही है। इसीलिए राजनीति में बदलाव नहीं आया। हिंदुस्तान की राजनीति में यदि बुनियादी परिवर्तन लाना है तो उसका एक ही विकल्प हो सकता है कि वे सब लोग जो पिछले सात आठ सौ वर्षों से इतिहास के रंगमंच के पात्र रहे वे अब दर्शक बन जाएं और जो दर्शक रहे हैं वे अब पात्र बन जाएं ताकि राजनीति का सारा चरित्र बदल सके, उसमें नई ताकत फूटे और उसका पूरा उद्देश्य बदल सके।

लोहिया के राजनीतिक चरित्र में द्वंद्व नहीं था पर अंतर्विरोध अवश्य था। उनकी सारी शक्ति के मूल में शायद यही था। मसलन उनकी अदम्य आशा के पीछे उनकी असीम निराशा है। "मुझको काफी समय से तीन तरह की निराशा है—एक राष्ट्रीय निराशा, दूसरी अंतर्राष्ट्रीय निराशा और तीसरी मानवी निराशा।"[2] पर निराशा के भी कर्तव्य होते हैं ऐसी आस्था थी लोहिया की। असंगठित पर बेइंतहा ढंग से आकर्षित करने वाले और उतने ही व्यक्तिवादी, मुंहफट, बेहद अहंकारी, सौंदर्यबोध वाले पर असहिष्णु, जिद्दी अक्षम्य भाव से नाराज हो जाने वाले, विरोधी के लिए अशिष्ट भाषा हिंसात्मक वचन बोलने वाले राममनोहर लोहिया ने अपने इसी स्वभाव के भीतर से अपना स्वधर्म प्राप्त किया और यह उनके लिए बहुत बड़ी प्राप्ति थी। यह स्वधर्म लोहिया की अपनी जीवनदृष्टि थी जो १९६३ में शुरू हुई और १९६७ तक उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गई।

राजनीति में विद्रोह से स्वधर्म तक पहुंचना, इसे समझने के लिए यही बेहतर होगा कि लोहिया की राजनीति असफलताओं के प्रति धर्म निर्मम बना

१ वक्त का तकाजा २६ सितंबर १९६२ को नागार्जुन सागर में दिए गए वक्तव्य से।
२ निराशा के कर्तव्य राममनोहर लोहिया पृष्ठ १

जाए। लोहिया अपने स्वयम में और मनुष्य जाति या कौम में अच्छे गुण उभारने में अप्रतिम ढंग से सफल रहे थाम कर उनकी अवक्षा जो जीवन के मुख्य स्रोतों पर असर न डालने वाले या बुरा असर डालने वाले कानूनों और फरमानों के जरिए सतही परिवर्तन करके ढिंढोरा पीटते हैं। 'हार के बाद हार केवल वही झेलते है जो तकदीर के फेर पलट से डरते नहीं या निराहस नहीं होते और जो हमेशा आजादी, सच और दूसरे बड़े गुणों के लिए लड़ने को तैयार रहते हैं।'[1] यही है लोहिया। इनकी राजनीति, जिसका नाम है जीवन और संस्कृति यह पराजय का दर्शन है, निराशा के कर्तव्य साधन का आवाहन है। इसमें पौरुष है, और आस जैसी शुद्ध आदर्शवादिता है। यही है लोहिया की राजनीति।

लोहिया का 'दर्शन' अनुभूति मिलती है कि जीत लाजिमी तौर पर सफलता नहीं है और न हार असफलता। राजनीतिक सफलता का मतलब आदमी में उन महान गुणों का उभार होना चाहिए जो पतन और अत्याचार से लड़ने की प्रेरणा दें। हार जो निरंतर हो और जिसमें प्रयास हमेशा होता रहे लाजिमी तौर पर आदमी को श्रेष्ठ बनाती है। अफसोस है कि आदमी अभी इतना कमजोर है कि अपने कंधे पर पराजय के इस दर्शन को, निराशा के इस कर्तव्य भार को तब तक नहीं ले सकता जब तक कि आसंगिक जीत के सहारे भलाई और न्याय पर अमल करने का उसे मौका न मिले।

लोहिया की राजनीति के बीच बीच में जो मध्यांतर है राजनीति के खेल में वह मूल खेल से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प है। यह खेल व्यापक विविध और बहुरंगी है। विश्वभ्रमण, राम कृष्ण और शिव, सच, कर्म, प्रतिकार और चरित्र निर्माण, योग की एक घटना, भारत की नदियाँ, रामायण मेला विश्वविद्यालय, शिक्षा, दिल्ली को देलही कहना, भारतीय वर्णमाला, भारत के लोगों में एकता, क्रिकेट, अंग्रेजी पत्रकारिता, चमड़ी का रंग और सुंदरता पत्थर में अर्थ, ओलम्पिक खेल, खजुराहो, जगन्नाथ पुरी का समुद्र, हिमालय में, शांति आदि इतने दृश्य, इतनी झांकियाँ, संपूर्ण जीवन के प्रति गहरे लगाव के साक्ष्य हैं। आत्म अन्वेषण जगत् अन्वेषण में ही संपूर्ण होता है। जो अहम है वही इदम् है, जो इदम है वही मैं है—यही है लोहिया का अहम, लोहिया का स्व। लोहिया की राजनीति, जो हर तरफ से, हर प्रकार से अपनी सीमा में असीम में जाती है, सर्वत्र है, हर क्षण में है, अपने देश में है और देश की सीमाओं के पार संपूर्ण विश्व की मानवता के साथ है।

दुनिया के किसी दूसरे पेशे में इतनी इज्जत और पैसा साथ साथ नहीं मिलता जितना राजनीति में। राजनीति की उच्चतम गद्दियाँ अनुपम होती हैं।

१ आवाहन राममनोहर लोहिया पृष्ठ २३

राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री का जो इज्जत और ओहदा मिलता है वह कभी आइंस्टीन या टैगोर जैसे लोगों को नहीं मिल सकता यह लोहिया ने देखा है। राजनीति में भयंकर से भयंकर यातना, अपमान, सजा और दंड का खतरा है। यह भी हो सकता है कि कंगाली और उपेक्षा में सारा जीवन बीत जाए, लोहिया को इसका भी अनुभव है। लेकिन लोहिया का व्यक्तित्व राजनीति के इन दोनों पहलुओं से गुजरकर उनसे पूरी तरह से मुक्त है। पर इसकी बड़ी महंगी कीमत उन्हें चुकानी पड़ी है, और उन्होंने समझ बूझकर चुकायी है आत्म नियंत्रण और अनुशासन के जरिए यह महसूस करते हुए कि आत्म-नियंत्रण धनी देशों में आसान मालूम होता है क्योंकि सत्ताधारियों और लोगों के रहन सहन में इतनी बड़ी खाई नहीं होती। इसीलिए अंतत उन्होंने पाया कि आदमी को अन्याय और अत्याचारपूर्ण रुतबे से लड़ने के लिए हमेशा तैयार रहना होगा। दरअसल अन्याय का विरोध करने की आदत बन जानी चाहिए। राजनीति में स्वार्थ साधना की जगह लगातार अन्याय से लड़ने की आदत डालने के लिए आदमी को इतिहास से मुंह मोड़ना होगा। गलत अधिकार और अत्याचारी शासन के खिलाफ स्वभावत, आदतन अवज्ञा संभव है क्योंकि इसके अलावा, चौड़ी छाती के अलावा, और किसी हथियार की जरूरत नहीं है।

लक्ष्य और स्वधर्म दोनों जब एक हो जाए तो उसी को अपनी जिन्दगी जीना कहते हैं। लोहिया ने वही जिंदगी जीकर एक बड़ा सवाल खड़ा कर दिया है कि क्या हम समर्थ हैं ऐसे आदमी पैदा करने में जो आदतन, संस्कारत सिविल नाफरमानी करें?

ग्यारहवां अध्याय

संघर्ष से लोकशक्ति : जयप्रकाश

सोलह जून १९५३ को प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के बैतूल सम्मेलन में डॉ० लोहिया ने अपने जीवन का सबसे छोटा भाषण दिया था। प्रसंग यह था कि कांग्रेस पार्टी के साथ मिली-जुली सरकार बनाने और सहयोग करने के विषय में बहस खत्म होने के पहले ही पार्टी के प्रधानमंत्री अशोक मेहता, तीनों संयुक्त मंत्रियों और जयप्रकाश नारायण (जे० पी०) ने राष्ट्रीय समिति से इस्तीफा दे दिया। स्थिति गंभीर थी और यह आवश्यक था कि नीति में मजबूती के साथ-साथ टूट भी न हो।

लोहिया का वह सबसे छोटा भाषण यह था, 'मैं आपसे प्रार्थना करूंगा कि आप मुझे दो अधिकार दें, पहला कि आपकी तरफ से मैं बोलूं और दूसरा कि मेरे इस सबसे छोटे भाषण के बाद आपमें से कोई न बोले। सम्मेलन की ओर से मैं अपने सम्मानित साथियों से निवेदन करता हूं कि वे त्यागपत्र वापस ले लें।'

राजनीति में जयप्रकाश और लोहिया का रिश्ता यह है कि दोनों ने साथ-साथ गालियों का सामना किया है। दोनों ने एक साथ लाहौर जेल में कठोरतम यातनाएं सही हैं। जीवन में "उनके अतिरिक्त, मेरा कोई भाई न था, इससे बढ़कर उनके साथ मेरे संबंध के बारे में और ज्यादा कहना जरूरी नहीं है। और इसमें क्या होता है कि पहले हम आपस में झगड़े या भविष्य में झगड़ सकते हैं।"[1]

यह रिश्ता था जे० पी० का लोहिया से। मैं समझता हूं कि जे० पी० का राजनीतिक रूप ही ऐसा था कि वह सबसे संबंध जोड़कर चलता था। वह संबंध चाहे टूट भी जाए पर कटु नहीं हो सकता था। हालांकि जे० पी० के राजनीतिक चरित्र का सारतत्व 'संघर्ष' है विद्रोह नहीं संघर्ष। विद्रोह सरकारात्मक रोमैंटिक प्रवृत्ति है। संघर्ष शुभेच्छा और आत्मानुशासन से जन

1 जून १६, १९५३ को बैतूल सम्मेलन में दिए गए भाषण से

हुए और उनमे जो विरोध, कटुता और अविश्वास के भाव पैदा हुए उनसे दुखी और निराश होकर कुछ ही दिनो बाद जयप्रकाश ने आत्मशुद्धि के लिए पूना मे इक्कीस दिनो का उपवास किया। उस उपवास के साथ ही उन्होने न केवल मार्क्सवाद का परित्याग किया, बल्कि समाजवादी राजनीति के विद्रोहमय सिद्धातो को भी छोड दिया। यह वह समय था जब लोहिया ने पूजीवाद और साम्यवाद से अलग, विकास और परिवर्तन को लाने वाली 'जेल और वोट' पर आधारित विद्रोहमयी राजनीति का प्रतिपादन किया। दूसरी ओर जयप्रकाश अच्छाई और सज्जनो की राजनीति, प्रेम और रचना की राजनीति की बातें कर रहे थे।

जे० पी० के इस विशेष मानस और राजनीतिक चरित्र की अपनी भूमिका थी। पूना का वह उपवास केवल आत्मशुद्धि का उपक्रम नही था। उसकी भूमिका काफी गहरी थी। उसका आधार था आत्मसघर्ष। आजादी के बाद जे० पी० वह विशेष व्यक्ति हैं जिन्होने बार-बार आत्मपरीक्षण किया और अनवरत आत्मसाक्षात्कार के लिए तत्पर हुए। विद्रोह और क्राति मे अतर क्या है? अगस्त आदोलन विद्रोह था। विद्रोह का काम है—जो असत्य है शोषक है अर्थहीन है उसे नष्ट कर डालना, तोड़ फेंकना। पर क्राति आमूल, सपूर्ण परिवर्तन ला देती है मानवता की उसके मूल्यो की एक नई सृष्टि करती है। जे० पी० को गाधी का आखिरी वसीयतनामा याद आया जो इस प्रकार था

'देश का बटवारा होते हुए भी, भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस द्वारा मुहैया किए गए साधनो के जरिए हिंदुस्तान को आजादी मिल जाने के कारण मौजूदा स्वरूप वाली काग्रेस का काम अब खत्म हुआ, यानी प्रचार के वाहन और धारा सभा की प्रवृत्ति चलाने वाले तत्र के नाते उसकी उपयोगिता अब समाप्त हो गई है। शहरो और कस्बो से भिन्न उसके सात लाख गावो की दृष्टि से हिंदुस्तान की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है। लोकशाही के मकसद की तरफ हिंदुस्तान की प्रगति के दरमियान फौजी सत्ता पर मुल्की सत्ता को प्रधानता देने की लडाई अनिवार्य है। काग्रेस को राजनीतिक पार्टियो और साप्रदायिक सस्थाओ के साथ की गदी होड से बचाना चाहिए। इन और ऐसे ही दूसरे कारणो से अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी नीचे दिए हुए नियमो के मुताबिक अपनी मौजूदा सस्था को तोडने और लोक सेवक सघ के रूप मे प्रकट होने का निश्चय करे। जरूरत के मुताबिक इन नियमो मे फेरफार करने का इस सघ को अधिकार रहेगा—

गाव वाले या गाव वालो के जैसी मनोवृत्ति वाले पाच बयस्क पुरुषो या स्त्रियो की बनी हुई हरएक पचायत एक इकाई बनेगी। पास पास की ऐसी हर दो पचायतो की उन्ही मे से चुने हुए एक नेता की रहनुमाई मे एक काम करने वाली पार्टी बनेगी। जब ऐसी सौ पचायतें बन जाए, तब पहले दर्जे के

पचास नेता अपने में से दूसरे दर्जे का एक नेता चुनें और इस तरह पहले दर्जे का नेता दूसरे दर्जे के नेता के मातहत काम करे। दो सौ पंचायतों के ऐसे जोड़ कायम करना तब तक जारी रखा जाए, जब तक कि वे पूरे हिंदुस्तान को न ढक लें। और बाद में कायम की गई पंचायतों का हरएक समूह पहले की तरह दूसरे दर्जे का नेता चुनता जाए। दूसरे दर्जे के नेता सारे हिंदुस्तान के लिए सम्मिलित रीति से काम करें और अपने अपने प्रदेशों में अलग अलग काम करें। जब ज़रूरत महसूस हो, तब दूसरे दर्जे के नेता अपने में से एक मुखिया चुनें, और वह मुखिया चुनने वाले चाहें तब तक सब समूहों को व्यवस्थित करके उनकी रहनुमाई करें।"

समाजवादियों में आचार्य नरेन्द्र देव अहिंसक वर्गसंघर्ष के समर्थक थे। डॉ० लोहिया गांधीवादी थे। जे० पी० मार्क्सवादी थे। और जैसे ही जे० पी० में वैचारिक मंथन, विशेष कर साधन और साध्य के बुनियादी सवाल पर, शुरू हुआ तो समाजवादी दल में जितने मार्क्सवादी थे वे सब जे० पी० से नाराज हो गए। कारण बहुत स्पष्ट था। जे० पी० के बहाने लोग आग उगलते थे, अब इसकी संभावना कहां रह गई थी?

कांग्रेस से अलग होने के पहले जयप्रकाश ने गांधी से कहा था, "बापू मैं कांग्रेस से अलग होना चाहता हूं।'

बापू चुप रह गए। पहले विरोध करते थे। उस क्षण विरोध नहीं किया। सिर्फ इतना कहा 'बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा।'

जयप्रकाश ने उसे स्वीकार कर लिया, और चल पड़े उसी अंधेरे में।

स्वतंत्र भारत अपनी नई यात्रा की तैयारी कर रहा था। जयप्रकाश इस स्वतंत्र राष्ट्र की रूप रचना पूर्ण जनाधिकार और जनतांत्रिक आधार पर करना चाहते थे। देश में संविधान सभा स्वतंत्र भारत का संविधान निर्मित करने की दिशा में लगी थी। जयप्रकाश ने संविधान सभा को वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित करने का बुनियादी प्रश्न उठाया और विरोध में संविधान सभा की सदस्यता अस्वीकार कर दी तथा आजादी को अपूर्ण घोषित कर दिया।

गांधी के निधन के बाद मार्च १९४८ के शुरू में ही कांग्रेस ने बाकायदा निश्चय किया कि किसी दूसरी पार्टी का सदस्य कांग्रेस का सदस्य नहीं हो सकता। मूल उद्देश्य कांग्रेस के भीतर से समाजवादियों को बाहर निकालना था। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के अलावा सब नेता इस निर्णय के पक्ष में थे। उनका विचार था कि गांधी की निर्मम हत्या के बाद, देश की अनेक विकट परिस्थितियों को संभालने के लिए कोई ऐसा निर्णय न लिया जाए जिसके कारण उन लोगों को, जिन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए इतनी कुर्बानियां की हैं कांग्रेस छोड़ देनी पड़े। उन्हें याद था, गांधीजी हमेशा चाहते थे कि समाजवादी कांग्रेस में बने रहें। पर वल्लभभाई पटेल समाजवादियों को कांग्रेस से निकालने पर तुल गए

थे। इसके अनेक कारण थे।

कांग्रेस के इस नये नियम के बनने के बाद उसी मार्च महीने में पुरुषोत्तमदास त्रिकमदास की अध्यक्षता में नासिक में समाजवादी पार्टी का अधिवेशन हुआ। इसी में निश्चय हुआ कि सोशलिस्ट पार्टी के सब सदस्य कांग्रेस से अपना संबंध विच्छेद कर लें। पार्टी के प्रस्ताव में कहा गया

"कांग्रेस एक राष्ट्रीय मोर्चा थी। गांधीजी उसे 'जनसेवक का छत्ता' बनाना चाहते थे। उसे 'लोक सेवक संघ' का रूप देना चाहते थे पर उसने अपने को एक राजनीतिक दल में बदल डाला है। 'शक्ति का फल चखना' ही उसका काम हो गया है। एक तरफ सोशलिस्टों को कांग्रेस से बाहर निकाला जाता है और दूसरी तरफ उसमें पूंजीपतियों और सम्प्रदायवादियों को शामिल किया जाता है। कांग्रेस के लक्ष्य और कांग्रेस सरकारों के व्यवहार में भारी अंतर पैदा हो गया है। अब कांग्रेस के अंदर जनतांत्रिक प्रक्रियाएं असंभव हो गई हैं। उसमें बने रहना असंभव है। कांग्रेस में सत्तावाद बढ़ रहा है। कांग्रेस सरकारें सर्वाधिकारी हो गई हैं। सत्ताधारी दल के विरुद्ध एक जनतांत्रिक, स्वतंत्र, निर्भीक और स्वस्थ विरोध की मांग है। सोशलिस्ट पार्टी ही इस मांग को पूरा कर सकती है। इतिहास की इस चुनौती को हमें स्वीकार करना चाहिए। कांग्रेस 'निर्जीव' होती जा रही है राष्ट्र आशा की एक नई किरण की खोज में है। नई आशा की किरण की खोज सोशलिस्ट पार्टी का उत्तरदायित्व है। हमें कांग्रेस से अलग होकर कुछ समय बियाबान में रहना होगा, पर मुझे विश्वास है कि हम समाजवादी समाज का विकास करने में, जनतांत्रिक समाजवाद को प्रतिष्ठित करने में सफल होंगे। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जनतंत्र की जड़ें जनता में है, अगर जनता सबल है तो राज्य भी सबल होगा।'

जयप्रकाश ने इसी अधिवेशन में अपने प्रतिवेदन द्वारा 'साध्य और साधन' का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया

"पश्चिम में प्रतिपक्षी दल अपने प्रतियोगी दल को कलंकित करने के लिए असत्य एवं मिथ्यात्व का सहारा लेना गलत नहीं समझते। वे यह नहीं मानते कि चुनाव में अनुकूल परिणाम प्राप्त करने के लिए रिश्वत और भ्रष्टाचार का भी सहारा लेना गलत है। कुछ ऐसे दल हैं जो असत्य एवं भ्रष्टाचार से भी बहुत आगे चले जाते हैं। उनके लिए हत्या, लूट और आगजनी भी राजनीतिक व्यूह रचना के अंग है। पिछले महीनों में हमने देखा है कि किस प्रकार इस व्यूह रचना के फलस्वरूप अत्यंत वेदनापूर्ण घटनाएं हुई हैं।"

अपने इस विचार के संदर्भ में जे० पी० ने गांधी की साधन और साध्य संबंधी दृष्टि से अपनी पूर्ण सहमति प्रकट की। साथ ही अपने एक अन्य वक्तव्य में उन्होंने जब आध्यात्मिक पुनर्जीवन की बात कही तो पार्टी के तमाम दोस्तों ने सोचा कि हाल की घटनाओं से विचलित होकर जे० पी० जीवन की कठोर

वास्तविकताम्रो से भागने की कोशिश कर रहे है। इस पर जे० पी० ने जवाब दिया

"ग्राप म से जिन लोगा ने यह सोचा होगा, व परे भ्रम मे हैं। अगर ग्राध्यात्मिक शब्द का कोई धार्मिक या तात्विक ग्रथ लिया जाए तो मुझे ऐसी बातो का भाई ज्ञान नही है। मैं अचानक ग्रात्मा या ब्रह्म जसी किसी वस्तु मे विश्वास नही करने लगा हू। मेरा जो दशन है वह पार्थिव है, मानवीय है। समाज म जैस लोगो के साथ मैं जीना चाहता हू उनका रूप क्या हा यह समस्या मेरी चिता का विषय है। स्पष्टत मैं ऐस समाज मे जीना नही चाहता जो मिथ्याभाषियो और हत्याचारिया का समाज है। ऐसे लागा का समाज होना चाहिए जिनमे सज्जनता, सहिष्णुता और बधुत्व की भावना हो।"

अपन इसी प्रतिवदन म जयप्रकाश राजनीति मे सदाचार की नीति का प्रश्न उठाते हैं। आगे वह दढतापूवक इस धारणा को अस्वीकार करते हैं कि सारी राजनीति केवल सत्ता की राजनीति है और उसम निहित इस मान्यता का भी खडन करते हैं कि राज्य ही सामाजिक कल्याण का एकमात्र साधन है। उन्होने कहा

लोकतत्र के लिए आवश्यक है कि राज्य पर जनता की निभरता यथासभव कम स कम हो। और, महात्मा गाधी तथा काल माक्स दोनो के अनुसार लोकतत्र की सर्वोच्च स्थिति वह होगी जिसमे राज्य का लोप हा जाएगा। अधिनायक तत्र जो निहित स्वार्थों के छोटे स पराजित वग पर लाखा-करोडो मेहनतकशा की सक्रमणकालीन 'तानाशाही' से भिन्न वस्तु है, पूण लोकतत्र तक पहुचने के रास्ते म, शायद ही कोई बीच की मजिल हो सकती है। पूण लोकतत्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि लोकाभिक्रम को काम करने का यथासभव अधिक से अधिक मुक्त अवसर प्राप्त हो और जनता अपन विभिन्न प्रकार के आर्थिक एव सास्कृतिक सगठनो एव सस्थाओ के माध्यम से अपनी स्थिति को सुधारने तथा अपने काम-काज की व्यवस्था करन मे समथ और समुत्साहित हो।"

पर सघष और आत्ममथन बराबर होता रहा और जे० पी० अपन रास्ते पर आग बढते रहे इस सबके बावजूद कि सारे लाग, खासकर लोहिया इस बात की तीव्र भत्सना करत रह कि जे० पी० का रास्ता राजनीति को पथभ्रष्ट करने का रास्ता है यह दगाबाजी है मुह छिपाकर भागना है,' आदि।

पर अब तक जे० पी० ने राजनीति मे जितना कुछ देखा था उसस उन्ह यकीन हो गया था कि बुनियादी परिवतन के लिए जो सघष हमे करना है उसके लिए अनिवाय है कि पहले हम अपन को अधिक शुद्ध करें। हम पसीन से ही सताप नही करके अपने खून से इस क्राति को अभिषिक्त करना पडेगा, तभी अगली क्राति एक सफल क्राति हो सकेगी।

गदगी भरे हाथो से नए समाज की स्वच्छ, सुदर, इमारत की नीव नही डाली जा सकती। यदि अपन को पूरी तरह स शुद्ध नही कर लिया, तो कोइ भी काग्रेस नेताओ की ही तरह गद्दी पर भले ही बठ जाए, उससे नए समाज का निमाण सभव नही होगा। और यदि साचत हो कि सिफ व्याख्याना से प्रचारो से, चुनावो स ही लक्ष्य तक पहुच सकेंग, ता लोग अब बेवकूफो के स्वग मे है। आत्म सशोधन और रक्तदान पर ही अगस्त की अधूरी क्राति का पूरा होना और एक नए समाज का निमाण करना सभव है—जयप्रकाश न यह ताजा सदश दिया।

सन् १९५३ मे पूना मे किए गए उपवास स पहले यह महत्त्वपूण मानवीय प्रश्न जे० पी० को मथ रहा था कि मनुष्य कोइ अच्छा काम क्यो करे राज नीति से अच्छाई का या नीति' का क्या सबध है उसका उत्तर उस मान उपवास म अपन भीतर से ही उन्होंने पा लिया। 'वतमान समाज मे, जबकि धम का प्रभाव समाप्त हो चुका है ईश्वर से विश्वास हिल चुका है नतिक मूल्यो को इतिहास के तमिस्र युगो की आधारभूत देन मानकर दूर फेंक दिया गया है, तब यह प्रश्न खडा होता है कि मनुष्य का हृदय मे भौतिकवाद के प्रतिष्ठित होन के बाद क्या अच्छाई के लिए कोई प्रेरणा रह गइ है? वास्तव मे, क्या इस प्रश्न की कोई प्रासगिकता मानव समाज के वतमान तथ्यो सम स्याओ एव आदर्शों के सदभ म है? मैं दढतापूवक यह मानता हू कि इस प्रश्न से अधिक प्रासगिक आज दूसरा काई प्रश्न नही है।

उन्होने अपने चारो ओर फैलते हुए पतन और भ्रष्टाचार के मम मे जाकर जैसे मूल सूत्र को पकड लिया 'व्यक्ति आज यह प्रश्न करता है कि वह अच्छा क्यो बने? अब तो काई ईश्वर नही है, कोई आत्मा नही नतिकता नही है। वह द्रव्य का एक समुच्चय मात्र है जो अनायास बन गया है और शीघ्र ही द्रव्य के असीम महासमुद्र मे बिखर जाने वाला है। वह अपने चारो ओर बुराई को—भ्रष्टाचार मुनाफाखोरी, झूठ फरेब क्रूरता, सत्ताधारित राजनीति, हिंसा आदि को—सफल होते देखता है। वह सहज ही प्रश्न करता है कि वह सदाचारी क्यो बने? आज हमारे जो सामाजिक रूप हैं और मनुष्यो के काय कलाप पर जिस भौतिकवादी दशन का प्रभुत्व है वे उत्तर देते हैं कि उसे सदाचारी बनने की आवश्यकता नही। अब वह जितना ही अधिक चतुर है जितना ही प्रतिभा सपन्न है उतने ही साहस के साथ इस नई निर्नैतिकता का अपन आचरण म उतारता है। और इस निर्नैतिकता के चक्कर म मानव जाति के सारे सपने और अरमान भी मुडकर और सिकुडकर रह जात है।

आगे उन्ह अनुभूति हुई कि 'अनेक वर्षों तक मैंने द्वद्वात्मक भौतिकवाद की दवी के मदिर मे उपासना की है। यह दशन मुझे अन्य किसी भी दशन की अपेक्षा बौद्धिक रूप से अधिक तुष्टिकारक प्रतीत होता था। परतु जहा दशन

की मेरी मुख्य जिज्ञासा अतृप्त ही रही है, वहा यह मेरे सामने प्रत्यक्ष हो गया है कि भौतिकवाद, चाहे वह किसी प्रकार का हो, मनुष्य को सच्चे अर्थ मे मानवीय बनने के साधनो से ही वचित कर देता है। भौतिकवादी सभ्यता से मनुष्य को अच्छा बनने के लिए कोई युक्तिसगत प्रेरणा नही मिलती। सभव है, द्वद्वात्मक भौतिकवाद के राज्य मे भय मनुष्य को अनुगत होने की प्रेरणा देता हो और दल भगवान का स्थान ले लेता हो। लेकिन जब भगवान ही बुरा हो जाता है, तो फिर बुरा होना ही एक सार्वत्रिक नियम बन जाता है।"

उपवास के उन मौन, उदास और बलात क्षणो मे जे० पी० ने पाया था "निर्लेप शिष्ट मानव सामाजिक उत्प्रेरणाओ के फलस्वरूप अचानक अशिष्ट और सलेप बन जा सकते है। हम यह कटु अनुभव प्राप्त हुआ ही है कि किस प्रकार शातिपूर्वक साथ रहने वाले अच्छे हिंदू और मुसलमान सामाजिक वासनाए उभर जाने के बाद एक दूसरे पर टूट पडे और ऐसा करने मे उन्हे कोई हिचक नही हुई। समाज के चरित्र के लिए एव उसके विकास की दिशा के लिए जो महत्त्वपूर्ण वस्तु होती है, वह अभिज्ञ जनसमूह के चरित्र मे उतनी नही, जितनी कि विशिष्ट वर्ग के चरित्र मे निहित होती है। इन विशिष्टो के समूह का जो दर्शन और जो कार्य होते है वही मनुष्यो का भाग्य निर्धारण करते है। ये विशिष्ट जिस सीमा तक निरीश्वर और निर्नैतिक होते है उसी सीमा तक बुराई मानव जाति को आक्रात करती है। अभौतिकवाद—इस नकारात्मक शब्द का प्रयोग मैं कर रहा हू इसलिए कि मेरे मन मे किसी पथ विशेष की कल्पना नही है—द्रव्य को अतिम वास्तविकता नही मानकर व्यक्ति को अविलब एक नैतिक धरातल पर उठा ले जाता है और उसको, स्वय से परे किसी लक्ष्य की ओर सकेत किए बिना, अपना ही सच्चा स्वभाव प्राप्त करने की, तथा अपने अस्तित्व को उद्देश्यपूर्ण बनाने हेतु प्रयास करने की प्रेरणा देता है। यह प्रयास एक शक्तिशाली प्रेरक तत्त्व बन जाता है जो सहज रूप से उसको अच्छाई और सच्चाई की ओर बढने के लिए प्रवृत्त करता है। इसके महत्त्वपूर्ण अनुसिद्धात के रूप मे यह प्रकट है कि भौतिकवाद के परे जाने के बाद ही वैयक्तिक मानव स्वय की ओर आता है और स्वय साध्य बन जाता है।'

गाधी की हत्या क्यो हुई, गोडसे से गाधी की क्या कोई निजी दुश्मनी थी? क्या राजनीति मे से यही फल निकलता है? समाजवादी चुनाव मे हार गए तो उनमे ऐसी प्रतिक्रियाए क्यो हुई? क्या राजनीति का लक्ष्य केवल सत्ता प्राप्ति है? गाधी की उस प्रकार की हत्या और समाजवादियो की उस दशा से उपजे हुए अधकार मे जयप्रकाश के भीतर जो हृदय मथन चल रहा था वह दरअसल सघर्ष से, समाजवाद की प्राप्ति के लक्ष्य से भागने या पलायन करने के लिए नही बल्कि पूरी सच्चाई को तलाशने और उसे प्रकाश मे लाने के लिए था। समाजवादी अपने हाथो मे सत्ता चाहते हैं, यदि उनमे कोई नैतिक मूल्य नही

गदगी भरे हाथो से नए समाज की स्वच्छ, सुदर, इमारत की नीव नही डाली जा सकती। यदि अपने को पूरी तरह से शुद्ध नही कर लिया, तो कोई भी काग्रेस नेताओ की ही तरह गद्दी पर भले ही बैठ जाए, उससे नए समाज का निर्माण सभव नही होगा। और यदि सोचते हो कि सिर्फ व्याख्यानो से, प्रचारो से, चुनावो से ही लक्ष्य तक पहुच सकेंगे, तो लोग अब बेवकूफो के स्वग मे हैं। आत्म सशोधन और रक्तदान पर ही अगस्त की अधूरी क्राति का पूरा होना और एक नए समाज का निर्माण करना सभव है—जयप्रकाश ने यह ताजा सदेश दिया।

सन १९५३ म पूना मे किए गए उपवास से पहले यह महत्त्वपूर्ण मानवीय प्रश्न जे० पी० को मथ रहा था कि मनुष्य कोई अच्छा काम क्यो करे राज नीति से अच्छाई का या 'नीति' का क्या सबध है उसका उत्तर उस मौन उपवास मे अपने भीतर से ही उन्होने पा लिया। 'वतमान समाज मे, जबकि धम का प्रभाव समाप्त हो चुका है, ईश्वर से विश्वास हिल चुका है, नैतिक मूल्यो को इतिहास के तमिस्र युगो की आधारभूत देन मानकर दूर फेंक दिया गया है, तब यह प्रश्न खडा होता है कि मनुष्य का हृदय मे भौतिकवाद के प्रतिष्ठित होने के बाद क्या अच्छाइ के लिए कोई प्रेरणा रह गई है ? वास्तव मे, क्या इस प्रश्न की कोई प्रासगिकता मानव समाज के वतमान तथ्यो, सम स्याओ एव आदर्शों के सदभ म है ? मैं दढतापूर्वक यह मानता हू कि इस प्रश्न से अधिक प्रासगिक आज दूसरा कोई प्रश्न नही है।'

उन्होने अपने चारो ओर फैलते हुए पतन और भ्रष्टाचार के मम मे जैसे मूल सूत्र को पकड लिया "व्यक्ति आज यह प्रश्न करता है कि
क्यो बने ? अब तो कोई ईश्वर नही है, कोई आत्मा नही नति
वह द्रव्य का एक समुच्चय मात्र है जो अनायास बन गया है
द्रव्य के असीम महासमुद्र मे बिखर जाने वाला है। वह
को—भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी, झूठ फरेब क्रूरता, सत्त
आदि का—सफल होते देखता है। वह सहज ही प्रश्न
क्यो बने ? आज हमारे जो सामाजिक रूप हैं
जिस भौतिकवादी दशन का प्रभुत्व है वे उ
की आवश्यकता नही। अब वह जितना
सपन्न है, उतने ही साहस के साथ
उतारता है। और इस निर्नैतिक
और अरमान भी मुडकर और
आगे उन्ह अनुभूति हुई
देवी के मन्दिर मे उपासना
अपेक्षा बौद्धिक रूप से अधिक तुष्टि

उनका कहना था कि काग्रेस के साथ मिलकर काम करना असभव होगा। चाहे जवाहरलाल जी की निजी राय कुछ भी हो, काग्रेस समाजवाद से बहुत दूर है। उनका तीसरा कारण यह था कि शासन म घुसने के बाद अपने लोगो पर बुरा असर पड सकता है और उनकी दुबलताए बढ सकती है। इन दलीलो मे ताकत थी। फिर भी मैं नरेन्द्र देव जी से सहमत नही हुआ। मैंने उनसे कहा कि हम अपन लागो पर विश्वास करना चाहिए। काग्रेस समाजवादी सस्था न होने हुए भी यदि हमारे चौदह सूत्री कायक्रम को या उसके अधिकाश को मान लेनी है ता हमार और उसके सहयोग से समाजवाद को कुछ आगे बढने का मौका मिलेगा, पार्टी की शक्ति और प्रभाव बढेगा। यदि अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि काग्रेस ने हमारे कायक्रम को सिफ ऊपरी दिल स माना था और हम आगे प्रगति नही कर रह है तो हम इस्तीफा देकर बाहर आ सकते है और जनता के सामने इस चीज को सफाई से पेश करके उसको प्रभावित कर सकते हैं। मेरा यह विचार आज तक बदला नही है और आज भी मैं मानता हू कि यदि हमारी शर्तों पर सहयाग हो पाता तो समाजवाद के लिए अच्छा हाता।" इस सदभ मे गया जात हुए ट्रेन से ४ माच १९५३ को जवाहरलाल का लिखा गया जे० पी० का पत्र विशेष रूप मे महत्त्वपूण है।

दूसरे आम चुनाव के पूव जयप्रकाश न निणय लिया कि वह पक्षगत निष्क्रिय सदस्यता का भी त्याग कर दग। किंतु उन दिनो आचाय नरेन्द्र दव अस्वस्थ थे। जयप्रकाश उनसे विचार विमश नहीं कर सके। १९ फरवरी १९५६ का नरेन्द्रदेव जी का स्वगवास हो गया। उनकी मत्यु से जे० पी० को अपार दुख हुआ। १९५७ के दूसरे आम चुनाव के पहले १९५५ मे ही समाजवादी आदोलन मे फूट पड गई। और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के दो टुकडे हो गए। डा० लोहिया के नेतृत्व म फिर सोशलिस्ट पार्टी के नाम स एक स्वतत्र समाजवादी पार्टी बनी।

इस बीच, विशेष कर चुनाव से पहले जहा सोशलिस्ट पार्टी और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी चुनाव म एक दूसरे के विरोध म लडन जा रही थी, जे० पी० की स्थिति उस करुण बुजुग की तरह थी जिसके सयुक्त परिवार मे भाई भाई लड रह हो और वह विवश होकर चुपचाप आसू पी रहा हो।

अब पार्टी और राजनीति स अलग हो जाने की पूरी स्थिति आ गई थी। पर प्रसोपा के साथियो न चुनाव तक त्याग पत्र न देने का आग्रह किया। जे० पी० मान गए। पर यह सिफ कहने की बात थी। जे० पी० न वस्तुत पार्टी और राजनीति को उसी दिन छोड दिया, जिस दिन उन्होन सर्वोदय का जीवन दान दिया। जिन कारणो से जे० पी० न एसा किया व भी कम न थे। उन्ह जे० पी० न गहरे दुख के साथ बताया है "जिन कारणो न मुझे पार्टी और राजनीति छोडकर सर्वोदय आन्दोलन म जाने का प्रेरित किया उनमे वह

तो कभी कोई अच्छा समाज नही बन सकता। उल्टे समाजवाद बदनाम हो जाएगा। हमारे ऋषि मुनियो ने अपने ढग से, अपने समयानुसार इस प्रश्न का मर्म ढूढा था। व्यक्ति के अदर ही सारी बुराइया है। इसे अच्छा बना दो, समाज अच्छा हो जाएगा। बुद्ध का यह निदान था, तृष्णा ही सब दुख का मूल है, सब अशत सही है। किंतु एक बच्चा राजा के घर मे और दूसरा रक के घर म पैदा हुआ तो इसका कारण तृष्णा तो नही है। इसी तरह हमारे लिए पूरा सच समाज था। उन्होने जिस तरह अतस को ही सब कुछ मान लिया, हमने भी बाहर को ही सब कुछ समझ लिया।

स्वराज्य के बाद हमारे दिल और दिमाग मे जो यह निराशा पैदा हो गई थी कि अहिंसा के रास्ते से समाज का रूप नही बदलने जा रहा है क्योकि अहिंसा के पुजारी सत्तारूढ थे और समाज को बदलने का कोई नकशा, कोई कार्यक्रम उनके सामने नही था। तब गाधी विहीन समाज मे अहिंसा का अर्थ सिर्फ इतना समझा जाता था कि हम किसी को मारें पीटें नही। इससे अधिक अहिंसा का अर्थ हमारे पास नही था। मतलब शोषण, दरिद्रता, विषमता का अत कैसे हो, हमारे पास इसका कोई जवाब नही था। इसीलिए देश म अधकार छाया हुआ था और चारो ओर हिंसा के बादल घिरे हुए थे। "इतने म ही वह प्रकाश सामने आया। जसे जैसे वह प्रकाश फैलता गया वसे वैसे यह बादल हटते गए। मैं मानता हू कि देश मे जो एक सर्वांगीण क्रांति होने जा रही है आर्थिक सामाजिक क्रांति उसका उदघोष भूदान यज्ञ है। भूदान यज्ञ नए समाज का शिलान्यास है, इसलिए हमारी जितनी ताकत है वह उसमे लगा देनी चाहिए।'

एक ओर पूना के उस उपवास से पैदा हुआ वह आत्मप्रकाश, दूसरी ओर भूदान यज्ञ की यह नई प्रतीति जिस जयप्रकाश को मिली थी, उसको फरवरी १९५३ म प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी सरकार से सहकार के लिए बुलाया, लेकिन शायद नेहरू को पता नही था। नेहरू राजनीतिज्ञ थे।

जयप्रकाश उससे बडी यात्रा पर मुड गए थे। वे रगून एशियन सोशलिस्ट कान्फ्रेंस से लौटकर दिल्ली मे नेहरू से मिले है। जे० पी० लिखते हैं 'दिल्ली मे जवाहरलाल जी से तीन दिना तक काग्रेस और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के परस्पर सहयोग के विषय पर चर्चा हुई बाद मे मैंने जवाहरलाल जी को एक पत्र म चौदह सूत्री कार्यक्रम लिख भेजा जिसको मैंने दोनो पार्टियो के परस्पर सहयोग का आधार बताया। लगभग तीन सप्ताह के बाद जवाहरलाल जी म मिलकर फिर आखिरी निर्णय करना था। उन दिनो कृपलानी जी हमारी पार्टी के अध्यक्ष थे। उन्होने पूरी तरह स सहयोग के विचार का समर्थन किया। दिल्ली वापस जाने के पहले मैं काशी गया और वहा काफी विस्तार से नरेन्द्र देव जी से उस विषय पर चर्चा की। वह जवाहरलाल जी के प्रस्ताव के विरुद्ध थे।

उनका कहना था कि काग्रेस के साथ मिलकर काम करना असभव होगा। चाहे जवाहरलाल जी की निजी राय कुछ भी हो, काग्रेस समाजवाद से बहुत दूर है। उनका तीसरा कारण यह था कि शासन म घुमने के बाद अपने लोगो पर बुरा असर पड सकता है और उनकी दुबलताए बढ सकती हैं। इन दलीलो मे ताक्त थी। फिर भी मैं नरेन्द्र देव जी से सहमत नही हुआ। मैने उनसे कहा कि हम अपने लोगो पर विश्वास करना चाहिए। काग्रेस समाजवादी सस्था न होत हुए भी यदि हमारे चौदह सूत्री कायक्रम को या उसके अधिकाश को मान लेती है ता हमारे और उसके सहयोग से समाजवाद को कुछ आगे बढने का मौका मिलेगा, पार्टी की शक्ति और प्रभाव बढेगा। यदि अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि काग्रेस ने हमारे कायक्रम को सिफ ऊपरी दिल स माना था और हम आग प्रगति नही कर रहे ह तो हम इस्तीफा देकर बाहर आ सकत है और जनता के सामने इस चीज का सफाई से पेश करके उसको प्रभावित कर सकत हैं। मेरा यह विचार आज तक बदला नही है और आज भी मैं मानता हू कि यदि हमारी शर्तों पर सहयाग हो पाता तो समाजवाद के लिए अच्छा होता।' इस सदभ मे गया जाते हुए टेन स ४ माच १९५३ का जवाहरलाल को लिखा गया जे० पी० का पत्र विशेष रूप से महत्त्वपूण है।

दूसरे आम चुनाव के पूव जयप्रकाश न निणय लिया कि वह पक्षगत निष्क्रिय सदस्यता का भी त्याग कर देंगे। किंतु उन दिनों आचाय नरेन्द्र दव अस्वस्थ थे। जयप्रकाश उनसे विचार विमश नही कर सके। १९ फरवरी १९५६ का नरेन्द्रदेव जी का स्वगवास हो गया। उनकी मत्यु से जे० पी० को अपार दुख हुआ। १९५७ के दूसर आम चुनाव के पहले १९५५ मे ही समाजवादी आदोलन म फूट पड गई। और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के दो टुकडे हा गए। डा० लोहिया के नेतत्व म फिर सोशलिस्ट पार्टी के नाम स एक स्वतत्र समाजवादी पार्टी बनी।

इस बीच विशेष कर चुनाव से पहले जहा सोशलिस्ट पार्टी और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी चुनाव मे एक दूसरे के विरोध म लडन जा रही थी, जे० पी० की स्थिति उस करुण बुजुग की तरह थी जिसके सयुक्त परिवार मे भाई भाई लड रह हो और वह विवश होकर चुपचाप आसू पी रहा हो।

अब पार्टी और राजनीति स अलग हो जान की पूरी स्थिति आ गई थी। पर प्रसोपा के साथियो न चुनाव तक त्याग पत्र न दने का आग्रह किया। जे० पी० मान गए। पर यह सिफ कहने की बात थी। जे० पी० न वस्तुत पार्टी और राजनीति को उसी दिन छोड दिया जिस दिन उन्होंने सर्वोदय को जीवन-दान दिया। जिन कारणो से जे० पी० न ऐसा किया व भी कम न थे। उन्ह जे० पी० ने गहरे दुख के साथ बताया है जिन कारणो ने मुझे पार्टी और राजनीति छोडकर सर्वोदय आदोलन मे जाने का प्रेरित किया उनम वह

ग्रारिमक दुख भी था जो पार्टी म चरित्र वध ग्रौर उसके विघटन के समय मुझे हुग्रा । राजनीति म मतभेद तो पदा होते ही हैं ग्रौर जब वह एक मर्यादा के बाहर चल जाते हैं तो फिर जिनके मत मिलते नही उनका ग्रलग हो जाना स्वाभाविक होता है । परतु हर मतभेद के लिए कोई गुप्त कारण है, कोई बुरी नीयत है ग्रातरिक दुबलता है, इस प्रकार से जब चचा ग्रौर प्रचार होता है तो वह ग्रत्यत दुखदायी होता है । ग्राज तक मुझे विश्वास है कि उस समय के मत-भेद इतने बडे नही थ कि उनके कारण साथी ग्रलग हो । परतु जिनको ऐसा लगा कि वह साथ नही चल सकते उनका ग्रलग होना ग्रनावश्यक होते हुए भी समझने लायक हो सकता है । परतु नीयत पर शक करना, चरित्र वध का जहर फैलाना यह तो राजनीति के दायरे के बाहर की बात होती है । मैं ग्रपने तथा साथी ग्राचाय जी दोनो के ही बारे मे कह सकता हू कि हमम स कोई भी न थक गया था न पद लालुपता का ही शिकार हो गया था, न हम यही चाहते थ कि पार्टी काग्रेस म मिल जाए । हा, इतना है कि ग्राचाय जी का ग्रौर मेरा जवाहरलाल जी से बडा निकट का सबध था । लेकिन जब हम लोगो की उनस मुलाकात हो तो उसका यह कोई मानी नही था कि उनके साथ समाज-वादी ग्रादोलन को खत्म कर देने का कोई षडयत्र हम रच रहे हैं । उस एक बार को छोडकर जब कि जवाहरलाल जी ने मेरा तथा पार्टी का सहयोग चाहा था, कभी भी उन्होने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को ग्रथवा जब सोशलिस्ट पार्टी थी तो उसको काग्रेस म मिलाने की या उसके साथ सहयोग करने की बात मुझ से नही छेडी । परतु व्यक्तिगत मित्रता का भी जब ऐसा राजनीतिक ग्रथ निकाला जाता था तो उसका हमारे पास कोई जवाब नही था ।'

निश्चय ही इस तरह जयप्रकाश द्वारा दलीय राजनीति का परित्याग एक राजनीतिक विस्फोट था । यह कदम उन्होने १९५७ म दूसरे ग्राम चुनाव के कुछ ही महीनो बाद उठाया । यह निणय उनके लिए ग्रासान न था । जीवन-भर के साथियो से एकदम सबध विच्छेद करना कभी ग्रासान नही होता, विशेष कर ऐसे साथियो से जिनके साथ काम किया हो, जेलें काटी ग्रज्ञातवास की जोखिमो से गुजरे ग्रौर साथ ही साथ स्वतत्रता की राख होते देखा ।

जे० पी० ने ऐसे क्षणो पर ग्रपने चिंतन के विकास क्रम की ग्रोर सकेत करते हुए ग्रौर ऐसा ग्रतिम कदम उठाने के कारणो पर प्रकाश डालते हुए एक लबा पत्र (पुराने साथियो को) लिखा, जो पहले वक्तव्य के रूप मे समाचार-पत्रो के कइ ग्रको मे क्रमश छपा ग्रौर बाद मे 'समाजवाद से सर्वोदय की ग्रोर' नामक पुस्तिका के रूप म प्रकाशित हुग्रा । यह बात २१ दिसबर १९५७ की है । उस समय जे० पी० कलकत्ता म थे । यह पत्र रूपी वक्तव्य भारत के ग्राधु-निक राजनीतिक इतिहास का ग्रदभुत घोषणा पत्र है । जे० पी० लिखते हैं

"राजनीति ने लोगो के दिमागो को इस तरह जकड रखा है ग्रौर फिर

इसका विकल्प भी अभी इतनी प्रारंभिक स्थिति मे है कि अपने इस वक्तव्य द्वारा अधिक पाठको को राजी करने मे शायद ही मुझे सफलता मिले। फिर भी मुझे आशा है कि इससे एक दूसरे को अधिक समझने मे मदद मिलेगी और जिन विचारो का इसमे प्रतिपादन किया गया है, उनमे लोगो की रुचि बढ़ेगी। इसका एक दूसरा पहलू भी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमिका से ही चीजो का अवलोकन करता है। जो लोग न तो उन अनुभवो से होकर गुजरे हैं जिनसे होकर मुझे गुजरना पडा है और न उन आदर्शों की खोज के पीछे पडे हैं, जो मेरे आदश रह हैं, सभव है, वे मेरी दलीलो की कद्र न करें। समाजवाद या वग सघप या राजनीतिक आदोलन अथवा ससदीय गणतत्र का जिन्ह नया नया जोश है सभव है, व मेरे आशय को अभी न समझ पाए। अपने विशेष जोश मे जब उन्ह कुछ रुकावटो का सामना करना पडेगा और उन रुकावटो का हल क्या होगा, इसकी छानबीन व करेंगे ता शायद जल्दी मेरी बात उनकी समझ मे आए। मेरा यह सकेत हरगिज नही है कि मैंने सामाजिक समस्याओ का कोई सवथा निर्दोष हल ढूढ लिया है या सर्वोदय ही समाज दशन की इति है। मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है, इसलिए वह बराबर सत्य की ओर बढ रहा है। वह पूण सत्य तक कभी नही पहुच सकता, किंतु क्रमश असत्य को कम करत करते सत्य के पथ पर थक सकता है। इसमे कोई सदेह नही कि सर्वोदय विचार और आचार की अनेक कमियो का भविष्य मे पता चलेगा और सुधार होगा। मानव मस्तिष्क इस प्रकार बराबर सत्य की ओर बढना ही जाएगा। लेकिन मैं यह जरूरी मानता हू कि सर्वोदय आज के वतमान सामाजिक तत्त्वज्ञानो और प्रणालियो स स्पष्टतया आगे बढा हुआ और उन्नत विचार है। मैं जिस प्रक्रिया से इस निष्कर्ष पर पहुचा हू उस समझाने का प्रयत्न करूगा। मैं जो लिख रहा हू वह किसी तरह भी सर्वोदय दशन का पूण चित्र नही है, मेरे पास तो उस काम के लिए पर्याप्त साधन सामग्री भी नही है। मैं अपनी उस विचार सारणी के विकास का उल्लेख कर रहा हू, जिसमे प्रेरित होकर मैंने आखिरकार राजनीति को छोडा है।

राजनीति और लोकनीति या दलीय और अदलीय राजनीति के मम म जाकर ज० पी० न पाया "जो भी हो, राजनीति न जो प्रश्न पैदा किए व मेरे दिमाग म गूजत रहे। मैं सतुष्ट नही हुआ और एक विकल्प खोजने के लिए विवश हो गया। दलीय राजनीति का परपरागत स्वभाव है सत्ता के लिए उसम सब तरह से निबल और दूषित कर दन वाले सघप होते ही हैं यही बात मुझे और अधिक चिंतित करने लगी। मैंने देखा धन सगठन और प्रचार के साधनो के बल पर विभिन्न दल कम अपने को जनता के ऊपर लाद देत हैं, कसे जनतत्र यथाथ मे दलीय तत्र बन जाता है कस दलीय तत्र अपने क्रम से स्थानिक चुनाव समितियो और निहित स्वार्थों से सबद्ध गुटो का राज्य बन

आत्मिक दुख भी था जो पार्टी मे चरित्र वध और उसके विघटन के समय मुझे हुआ। राजनीति मे मतभेद तो पदा होते ही हैं और जब वह एक मयादा के बाहर चले जाते हैं तो फिर जिनके मत मिलते नही उनका अलग हा जाना स्वाभाविक होता है। परतु हर मतभेद के लिए कोई गुप्त कारण है, कोई बुरी नीयत है आतरिक दुबलता है, इस प्रकार से जब चर्चा और प्रचार हाता है तो वह अत्यत दुखदायी होता है। आज तक मुझे विश्वास है कि उस समय के मतभेद इतन बडे नही थ कि उनके कारण साथी अलग हा। परतु जिनका एसा लगा कि वह साथ नही चल सकत उनका अलग होना अनावश्यक होते हुए भी समझने लायक हो सकता है। परतु नीयत पर शक करना चरित्र वध का जहर फैलाना यह तो राजनीति के दायरे के बाहर की बात हाती है। मैं अपन तथा साथी आचाय जी दोनो के ही बार मे कह सकता हू कि हमम स कोई भी न थक गया था न पद लालुपता का ही शिकार हो गया था, न हम यही चाहत थे कि पार्टी काग्रेस मे मिल जाए। हा, इतना है कि आचाय जी का और मरा जवाहरलाल जी से बडा निकट का सबध था। लेकिन जब हम लागो की उनसे मुलाकात हो तो उसका यह कोई मानी नही था कि उनके साथ समाजवादी आदोलन को खत्म कर देन का कोई षडयत्र हम रच रह हैं। उस एक बार को छोडकर जब कि जवाहरलाल जी ने मेरा तथा पार्टी का सहयोग चाहा था कभी भी उन्हान प्रजा साशलिस्ट पार्टी को अथवा जब सोशलिस्ट पार्टी थी तो उसको काग्रेस मे मिलान की या उसके साथ सहयोग करने की बात मुझ से नही छेडी। परतु व्यक्तिगत मित्रता का भी जब ऐसा राजनीतिक अथ निकाला जाता था तो उसका हमारे पास कोई जवाब नही था।'

निश्चय ही इस तरह जयप्रकाश द्वारा दलीय राजनीति का परित्याग एक राजनीतिक विस्फोट था। यह कदम उन्हान १९५७ म दूसर आम चुनाव के कुछ ही महीनो बाद उठाया। यह निणय उनके लिए आसान न था। जीवन-भर के साथियो से एकदम सबध विच्छेद करना कभी आसान नही होता, विशेष कर ऐस साथियो से जिनके साथ काम किया हो, जेलें काटी अज्ञातवास की जोखिमा स गुजरे और साथ ही साथ स्वतत्रता को राख हाते देखा।

जे० पी० ने ऐसे क्षणा पर अपने चिंतन के विकास क्रम की ओर सकेत करते हुए और ऐसा अतिम कदम उठान के कारणा पर प्रकाश डालते हुए एक लबा पत्र (पुराने साथिया को) लिखा, जो पहले वक्तव्य के रूप मे समाचार-पत्रो के कई अको म क्रमश छपा और बाद मे 'समाजवाद से सर्वोदय की ओर' नामक पुस्तिका के रूप म प्रकाशित हुआ। यह बात २१ दिसबर, १९५७ की है। उस समय जे० पी० कलकत्ता म थे। यह पत्र रूपी वक्तव्य भारत क आधुनिक राजनीतिक इतिहास का अदभुत घोषणा पत्र है। जे० पी० लिखत हैं

"राजनीति न लोगा के दिमागा का इस तरह जकड रखा है, और फिर

इसका विकल्प भी अभी इतनी प्रारभिक स्थिति मे है कि अपने इस वक्तव्य द्वारा अधिक पाठको को राजी करने म शायद ही मुझे सफलता मिले। फिर भी मुझे आशा है कि इससे एक दूसरे को अधिक समझने मे मदद मिलेगी और जिन विचारो का इसमे प्रतिपादन किया गया है उनमे लागो की रुचि बढेगी। इसका एक दूसरा पहलू भी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशिष्ट पष्ठभूमिका से ही चीजा का अवलोकन करता है। जो लोग न तो उन अनुभवा स होकर गुजरे हैं जिनस होकर मुझे गुजरना पडा है और न उन आदर्शों की खोज के पीछे पडे हैं, जा मेरे आदश रह हैं सभव है वे मरी दलीलो की कद्र न करें। समाजवाद या वग सघष या राजनीतिक आदालन अथवा ससदीय गणतत्र का जिन्ह नया नया जाश है सभव है वे मरे आशय को अभी न समझ पाए। अपन विशेष जोश मे जब उन्ह कुछ रुकावटा का सामना करना पडेगा और उन रुकावटो का हल क्या हागा इसकी छानबीन व करेंगे, तो शायद जल्दी मेरी बात उनकी समझ म आए। मेरा यह सकेत हरगिज नही है कि मैंने सामाजिक समस्याओ का कोई सवथा निर्दोष हल ढूढ लिया है या सर्वोदय ही समाज दशन की इति है। मनुष्य स्वभाव से ही जिनासु होता है, इसलिए वह बराबर सत्य की आर बढ रहा है। वह पूण सत्य तक कभी नही पहुच सकता, किंतु क्रमश असत्य को कम करते करते सत्य के पथ पर थक सकता है। इसम कोई सदह नही कि सर्वोन्य विचार और आचार की अनक कमियो का भविष्य म पता चलगा और सुधार होगा। मानव मस्तिष्क इस प्रकार बराबर सत्य की ओर बढता ही जाएगा। लेकिन मैं यह जरूरी मानता हू कि सर्वोदय आज के वतमान सामाजिक तत्त्व-नानो और प्रणालिया से स्पष्टतया आगे बढा हुआ और उन्नत विचार है। मैं जिस प्रक्रिया से इस निष्कष पर पहुचा हू, उसे समझान का प्रयत्न करूगा। मैं जो लिख रहा हू वह किसी तरह भी सर्वोदय दशन का पूण चित्र नही है मेरे पास तो उस काम के लिए पर्याप्त साधन सामग्री भी नही है। मैं अपनी उस विचार सारणी के विकास का उल्लेख कर रहा हू जिसमे प्ररित होकर मैंने आखिरकार राजनीति को छोडा है।'

राजनीति और लोकनीति या दलीय और अदलीय राजनीति के मम म जाकर जे० पी० ने पाया "जो भी हो, राजनीति ने जो प्रश्न पैदा किए, व मेरे दिमाग म गूजत रह। म सतुष्ट नही हुआ और एक विकल्प खोजने के लिए विवश हो गया। दलीय राजनीति का परपरागत स्वभाव है, सत्ता के लिए उसमे सब तरह मे निबल और दूषित कर दने वाले सघष होते ही हैं, यही बात मुझे और अधिक चिंतित करने लगी। मैंने देखा धन, सगठन और प्रचार के साधनो के बल पर विभिन्न दल कैसे अपन को जनता के ऊपर लाद दते हैं, कैसे जनतत्र यथाथ मे दलीय तत्र बन जाता है, कस दलीय तत्र अपने क्रम से स्थानिक चुनाव समितिया और निहित स्वार्थों से सबद्ध गुटो का राज्य बन

जाता है किस प्रकार जनतत्र केवल मतदान मे सिमट और सिकुडकर रह जाता है किस प्रकार मत दने का यह अधिकार तक, उन शक्तिशाली दलो द्वारा अपना उम्मीदवार खडा करने की पद्धति के कारण बुरी तरह सीमित हो जाता है, क्योंकि काम चलाने के लिए मतदाताओ को केवल उ ही म म किसी को चुनना पडता है किस प्रकार यह सीमित निर्वाचनाधिकार तक अवास्तविक हो जाता है, क्योंकि निर्वाचकगण के समक्ष जो मुद्दे रखे जाते हैं वे बहुत अधिक तो उनकी समझ के बाहर होते हैं। दलीय पद्धति को जैसा मैंने देखा वह लोगो को डरपोक और नपुसक बना रही थी। इसने इस तरह से काम नहीं किया कि जनता की शक्ति और अभिक्रम (इनीशियेटिव) बढ़ें या उन्हे स्वराज्य स्थापित करने और अपनी व्यवस्था स्वय सभालने म सहायता मिले। दलो को तो केवल इससे मतलब था कि सत्ता उनके हाथ म आए और वे जनता के ऊपर, बिना शक जनता की सलाह से, राज्य कर सकें। मैंने ऐसा अनुभव किया कि दलीय पद्धति लोगो को भेडो की स्थिति म ला देना चाहती है, जिनका एकाधिकार केवल नियत समय पर गडरियो को चुन लेना है, जो उनके कल्याण की चिंता करेंगे। मुझे इसमे स्वतत्रता का दर्शन नहीं हुआ, उस स्वतत्रता या स्वराज्य का, जिसके लिए मैं लडा था और इस देश के लोग जिसके लिए लडे थे।"

पर जो भी हो, अपने इस पत्र रूपी वक्तव्य मे जयप्रकाश बहुत कुछ स्पष्ट करके भी अपनी भूमिका म रहस्यवादी बन रहे। राजनीति स गहरा (राजनीति से आगे लोकनीति) सबध होने पर भी राजनीति से पृथक मान गए। राजनीति की गहराई म जहा आम आदमी है, उसके अपने ऐतिहासिक यथार्थ है जे० पी० वहा जाकर जुड गए। दलीय राजनीति के वर्तमान परिवश मे लोग उसे समझने म असमर्थ थे। यह एक ऐसा कदम था, जिसका अभी तक कोई उदाहरण नहीं था। गाधी ने सर्वोदय और लोकनीति का दर्शन दिया था, विनोबा ने उसका अभ्यास शुरू किया था और उतने से ही जो अन्य प्रकार चमका था उसे जे० पी० न देखा था। इस नए जीवन दर्शन को अपने कर्म और वाणी से समझना शुरू किया था दादा धर्माधिकारी और धीरेंद्र मजुमदार जैसे कर्मठ बनाओ ने। पर समय की अब तक इसका अनुभव नहीं था। विज्ञान इतिहास और राजनीति के इतने गहन अध्ययन और गहरे अनुभव से गुजरकर अब आत्मानुभूति के प्रकाश स जिन जिन निष्कर्षों पर जे० पी० पहुचे वे आगे उनके कार्यों और उनके चरित्र स स्पष्ट हैं।

१९५९ के अत म जे० पी० ने अखिल भारत सर्व सेवा सघ, वाराणसी द्वारा अतरग प्रसार के लिए अपना अत्यत महत्त्वपूर्ण निबध 'भारतीय राज्य व्यवस्था का पुनर्निर्माण' लिखा। व लोकतत्र के पाश्चात्य ढाचे का अस्वीकार करते हैं क्योंकि वह जनता को अपने काम काज के प्रबध म भाग लेने का अवसर नहीं प्रदान करता। जयप्रकाश की दृष्टि म, आज स्थिति यह है कि राज-

नीतिक दल जनता के वास्तविक भाग्य विधाता बन गए हैं परतु जनता का उन पर कोई नियत्रण नही चलता। यहा तक कि दलो के नामाकित सदस्यो का भी नीति निर्माण मे या आतरिक प्रशासन में कोई प्रभाव नही होता। यह दलीय व्यवस्था अनेक बुराइयो की जननी है 'दलीय प्रतिद्वद्विताए झूठी नेतागिरी को जन्म देती हैं, राजनीतिक नतिकता को दबाती हैं, विवेकहीनता तथा कपटाचरण एव षडयत्र को बढावा देती हैं। जहा एकता की आवश्यकता है वहा दलो द्वारा विवाद खड किए जाते है और जहा मतभेदो को न्यूनतम करना चाहिए वहा उनको वे अतिरजित करते ह। य दल अवसर दलीय हितो को राष्ट्रीय हितो के ऊपर रखते हैं। चूकि सत्ता का केन्द्रीकरण नागरिक को शासन-काय में भाग लेने नही देता इसलिए दल अथवा राजनताओ के लघु गुट ही जनता के नाम पर शासन करते हैं और लोकतन्त्र एव स्वशासन का भ्रम पैदा करते हैं।' लेकिन मुख्य अपराधी दलीय व्यवस्था नही बल्कि ससदीय लोकतत्र है जो उसको जन्म देता है और उसके बिना काम नही कर सकता। अत जयप्रकाश ससदीय लोकतत्र के स्थान पर, भारत की अपनी परपराओ तथा मनुष्य एव समुदाय के वास्तविक स्वभाव के अनुकूल, नए ढग की राज्य व्यवस्था की स्थापना का सुझाव प्रस्तुत करते हैं। इसको वे सामुदायिक या दलमुक्त लोकतत्र की सज्ञा देते हैं।

एक नई राज्य व्यवस्था के निर्माण की समस्या सामाजिक पुनर्निर्माण की वृहत्तर समस्या का अग है। जैसाकि जयप्रकाश कहते है "आधुनिक उद्योगवाद तथा उसके द्वारा पैदा की गइ आर्थिकवाद की भावना न, जो प्रत्यक मानवीय मूल्य का लाभ और हानि एव तथाकथित आर्थिक प्रगति के पैमाना स तौलती है मानवीय समाज को विघटित कर डाला है और मनुष्य का अपने ही मानव बघुओ के बीच पराया बना दिया है। आज की सभ्यता की समस्या सामाजिक एकीकरण की समस्या है। समस्या मनुष्य को मनुष्य के सपक म रख दने की है जिसस कि वे अथपूण बोधगम्य एव नियत्रणीय सबधो के बीच साथ साथ रह सकें। सक्षेप मे, समस्या मानव समुदाय का फिर से निर्माण करने की है। एक सच्चे समुदाय के आवश्यक लक्षण हैं—सहविभाजन, सहभाग एव साहचय विविधता के बीच एकता की भावना, स्वीकृत सामाजिक दायित्वो की रूपरेखा के अदर स्वतत्रता का बोध तथा समुदाय एव उसमे सदस्यो के कल्याण के एकमात्र लक्ष्य की ओर अभिमुख कार्यो की विभिन्नता। ऐसा एक समुदाय अतीत मे कभी रहा हो या नही, परतु भावी सामाजिक पुनर्निमाण का आदश वह अवश्य बने। केवल तभी मनुष्य के सामाजिक स्वभाव और आधुनिक सभ्यता के महान मानवीय आदर्शो की सिद्धि होगी। सच्चा लोकतत्र भी तभी होगा। य विचार जे० पी० के व्यक्तित्व के ऐसे प्रकाश पुज है जिन्हे धरती पर उतारने के लिए वह आत्मदान से आत्मदाह की ओर बढते है।

१९६१ के शुरू मे ही जे० पी० ने सहभागी लोकतत्र (पार्टिसिपेटिंग डिमोक्रेसी) के चिंतन की, यानी सही अर्थों मे जनता के राज्य की तस्वीर खडी की। उन्होने गहराई मे जाकर पाया कि हमारे लोकतात्रिक कार्यकलापो म शिक्षित मध्य वग के केवल थोडे-स लोग सलग्न हैं, और उनमे भी वही हैं जो प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक कार्यों म लग हुए हैं। "परिणामस्वरूप हम पाते हैं कि हमारा लोकतत्र बहुत ही सकीर्ण आधार पर टिका हुआ है। वह उल्टे पिरामिड की तरह सिर क बल खडा है। स्पष्टत हमारा काम लोकतत्र की इस तस्वीर को दुरुस्त करना है और पिरामिड को उलटकर उसके आधार पर खडा करना है। प्रत्येक बालिग भारतीय को वोट देने का अधिकार देने मात्र स पिरामिड अपन आधार पर खडा नही हो जाता। करोडो व्यक्ति और अस्त व्यस्त मतदाता बालू कणो के ढेर के समान ह जो किसी इमारत की बुनियाद नही हो सकत। इन कणो को ईंट बनाना होगा अथवा उ ह ठोस ढाचे म ढालना होगा। तभी व नीव के पत्थर बन सकेंगे। अत यह स्पष्ट है कि यदि अपने लोकतत्र को सुदृढ और टिकाऊ बनाना है तो उसके आधार को व्यापक रूप देना ही होगा और उसकी ऊपर की परतो का निर्माण बुनियादी रचना के अनुरूप करना होगा। यदि बुनियाद मजबूत होगी तो किसी दुरसाहसी के स्पर्श स लोकतत्र की सपूर्ण इमारत के गिरने का खतरा कम रहेगा। हमारा देश एतिहासिक खडहरो का देश है। आप किसी खडहर को जाकर देखिए तो पता चल जाएगा कि जब कोई इमारत गिरती है तो क्या होता है। हमेशा सबसे पहले छत गिरती है और तब दीवारें गिरती हैं, ऊपर की मजिलें पहल और बाद म नीचे की मजिलें गिरती हैं, परतु हजारो वर्ष बीत जाने के बाद भी नीव के पत्थर ज्यो के त्यो रह जाते हैं। कोई इमारत चाहे कितनी ही ऊची हो, उसका टिकाऊपन बुनियाद तथा नीचे के आधारभूत स्तभो की मजबूती पर निर्भर करता है।"

१९७० तक आते आते सर्वोदयी जे० पी० ने यह महसूस करना शुरू किया कि सर्वोदय मे प्रेम तत्त्व तो है, पर अन्याय, असमानता और जुल्म के खिलाफ सघर्ष का तत्त्व लडाई लडने का तत्त्व गायब है। गाधी म प्रेम और सतत सघर्ष, दोनो तत्त्व समान रूप स सक्रिय थे। सर्वोदय ने गाधी का प्रेम तत्त्व तो लिया पर सघर्ष' तत्त्व छोड दिया तभी सर्वोदय की आग ठडी हो रही है और कार्यकर्तागण निस्तेज और निष्प्राण हो रहे हैं। इसका एक कारण यह था कि सर्वोदय का काम का रूप कुछ इतना सौम्य था कि उसमे इनके व्यक्तिगत जीवन पर कोई खतरा नही उपस्थित होता और न उसमे किसी बडे बलिदान की माग की जाती थी। सयोगवश उ ही दिनो मुसहरी प्रखड मे (मुजफ्फरपुर) नक्सलवादियो म जयप्रकाश का साक्षात्कार एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

जे० पी० न मुसहरी मे उन तमाम कारणो को तलाशना शुरू किया जो

नक्सलवाद के विकास के लिए जिम्मेदार थे। उन्होने नक्सलवादी युवको से कहा कि अगर आप लोग डाकू और लुटेरे न हो और यह सारा क्राति के नाम से किया हो तो भी मैं कहना चाहता हू कि इस क्राति म जो मानव बनेगा, वह मानव नही, राक्षस होगा। इस प्रकार के काम स समाज मे जो विकार पदा होगा उसका परिणाम अमानवीय सस्कृति म ही हो सकता है।

जे० पी० का मुसहरी कथा चरित्र इनके सर्वोदयी जीवन का एक ऐसा चरम अध्याय था, जहा पहली बार अहिंसा को हिंसा के आमने सामन खडा होना पडा था। जहा ग्राम समुदाय के नैतिक और सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रश्न के सामने ध्वस और अधविश्वास आया था। लोकचेतना का राज्यशक्ति के सामने परीक्षा देनी पडी।

जे० पी० न मुसहरी की अग्नि परीक्षा देते समय 'आमने सामने' नामक एक प्रतिवेदन प्रकाशित कर कहा था "यद्यपि सभी क्रातियो मे केंद्रीय प्रश्न सत्ता का ही होता है और सभी क्रातिया का आयोजन जनता के लिए सत्ता प्राप्त करने के नाम पर किया जाता है, तथापि हमेशा क्राति करन वालो मे स एसे मुट्ठी भर लोगो द्वारा सत्ता हडप ली जाती है, जो सबस ज्यादा निमम होते हैं। ऐसा होना अनिवाय है, क्योकि (उनकी मान्यता के अनुसार) सत्ता बदूक की नली से निकलती है और बदूक सामान्य जनता के हाथ मे नही, बल्कि हिंसा के उन सगठित तत्रो के हाथ म रहती है जो हर सफल क्राति मे से क्रान्तिकारी सना तथा उसकी सहायक जमातो के रूप म पदा होत हैं। इन तत्रो पर जिनका नियत्रण होता है, उनके ही नियत्रण म सत्ता रहती है। यही कारण है कि हिंसक क्राति हमेशा किसी न किसी प्रकार की तानाशाही को ज म देती है। और फिर यही कारण है कि क्राति के बाद शासको एव शोषको का एक नया विशेषाधिकार प्राप्त वग कालातर म पदा हो जाता है, जिसके अधीन बहुसख्यक जनता फिर एक बार गुलाम हो जाती है।'

राजनेताओ, राजनीतिक दलो और प्राय सामान्यजन के लिए जे० पी० का यह सर्वोदयी रूप बहुत ही कम लोगो की समझ मे आया। इससे भी अधिक खास बात यह कि इस जे० पी० को प्रभावती के अलावा शायद ही किसी और ने पूणत स्वीकारा हो। इससे अलग अलग स्तरो और प्रसगो से जे० पी० से कौन नही नाराज, असतुष्ट और अलग हुआ—जवाहरलाल नेहरू, डा० लोहिया, कृपलानी और यहा तक कि राजनीति मे सबसे अधिक सहिष्णु, विद्वान और सज्जन पुरुष आचाय नरेन्द्र देव तक! प्रजा साशलिस्ट पार्टी से और सत्ता की राजनीति से अलग होकर कोई सबके उदय का आदोलन कसे कर सकता है? जो किसी राजनीतिक दल मे नही है, वह राजनीति मे नही है, सत्ता का भूखा नही है। जिसने राजनीति छोड दी फिर भी सब का उदय सबका कल्याण चाहता है वह क्या है? य प्रश्न नए प्रश्न थे, हैं और सदा रहेंगे और

गांधी, जयप्रकाश जैसे लोग इस प्रसग म याद किए जाएंगे। और, इस प्रश्न का उत्तर हर किसी को खुद देना होगा।

फिलहाल गांधी शायद अनुत्तरित रह जाए, पर जयप्रकाश के बारे म सोचा जा सकता है और स्पष्ट कारण भी, बल्कि तथ्य भी पाया जा सकता है। जे० पी० का बयान है, "जिन कारणो ने मुझे पार्टी और राजनीति छोड़कर सर्वोदय आदोलनो मे जाने को प्रेरित किया उनम से वह आत्मिक दु ख भी था जो पार्टी म चरित्रवध और उसके विघटन के समय मुझे हुआ। राजनीति मे मतभेद तो पैदा होने ही हैं और जब वह एक मर्यादा के बाहर चले जाते है तो फिर जिनके मत मिलते नहीं उनका अलग हो जाना स्वाभाविक होता है। परतु हर मतभेद के लिए कोई गुप्त कारण है, कोई बुरी नीयत है, कोई आतरिक दुर्बलता है इस प्रकार की जब चर्चा और प्रचार होता है तो यह अत्यत दुखदायी होता है। आज तक मुझे विश्वास है कि उस समय के मतभेद इतने बड़े नहीं थे कि उनके कारण साथी अलग हो। परतु जिनको ऐसा लगा कि वह साथ नहीं चल सकते उनका अलग होना आवश्यक होते हुए भी समझने लायक हो सकता है। पर नीयत पर शक करना चरित्रवध का जहर फैलाना यह तो राजनीति के दायरे के बाहर की बात होती है।"[1]

जे० पी०, लोहिया और आचार्य नरेन्द्र देव को साथ लेकर जो सगुण राजनीति उस समय देश म चली उसम पहली बार इतने जीवत ढग से दो युगो का दायित्वबोध महसूस हुआ— राष्ट्रीयता और समाजवाद दोनो को प्रतिष्ठित और पुष्ट करने का कर्तव्य।' एक ओर कालविपरीत जातिप्रथा और सकीर्ण साम्प्रदायिकता का परित्याग कर 'एक सामान्य चिह्न और सामान्य लक्ष्य के आधार पर हम राष्ट्रीय भावना को सुदृढ करना है और दूसरी ओर हम समाजवादी समाज का निर्माण करना है। हम केवल वर्गविहीन ही नहीं जाति-विहीन समाज के लिए भी प्रयत्नशील होना है।"[2]

आचार्य नरेंद्र देव के साथ यहा तक आकर जे० पी० ने उस समय जब यह महसूस किया कि लोगों को राजनीति पर इतना विश्वास है और उससे इतनी आशा है कि जो कुछ कर सकती है, वह केवल राजनीति ही कर सकती है तो उन्हें अपार कष्ट ही नहीं अपने पर और पूरे देश के लोगो पर तरस आया। इस गुणहीन राजनीति का विकल्प क्या है और अगर है तो वह इतनी प्रारभिक दशा म है, इस प्रसग म जे० पी० का वह ऐतिहासिक पत्र 'समाजवाद से सर्वोदय की ओर,' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उस पत्र के उपसहार मे जे० पी० ने बताया है कि सर्वोदय की भी अपनी राजनीति है परतु यह

१ आचार्य नरेन्द्र देव—'युग और नेतृत्व,' पृष्ठ ८, (जयप्रकाश की भूमिका)।
२ वही, पृष्ठ ३८८

राजनीति भिन्न प्रकार की है। राजनीति से भिन्न यह जनता की राजनीति है। यह लोकनीति है। इसका लक्ष्य सत्ता नही बल्कि सत्ता के सभी केन्द्रो को तोडना है। जितनी ही अधिक नई राजनीति बढेगी उतनी ही पुरानी राजनीति घटेगी। राज्य का वास्तविक क्षय होना तो यही है। जे० पी० की लोकनीति की राजनीति स नेताशाही को बहुत बडा धक्का लगा है। सास्कृतिक अथ और सदभ म यदि हम राजनीति को दखें तो गाधी न भारतीय प्रसग से व्यक्ति की अवधारणा की, लोहिया न जन' की और जे० पी० न 'लोक' की।

आजादी के बाद काग्रेस सरकार द्वारा गाधी के सपना का पूरा न किया जाना दखकर तथा दश की दलगत राजनीति द्वारा 'स्वराज्य' की रूपरखा न बनती दखकर जयप्रकाश न गाधी के सर्वोदय का माग अपनाया। इस माग को अपनी प्रतीतियो आत्मानुभवो द्वारा जे० पी० ने स्वीकारा, इमे सदा याद रखना हागा। क्योकि यह सच है कि हर व्यक्ति की दष्टि अपनी ही विशिष्ट भूमिका स देखने की होती है। जा लोग उन अनुभवो मे नही गुजरे हैं जिनसे जे० पी० गुजरे हैं, और न उन आदर्शों की साधना की है जो जे० पी० के आदश रह हैं वे शायद ही जे० पी० की लोकनीति या लोकशक्ति को समझ सकें। पर जे० पी० के समस्त सघर्षों, बाह्य और आतरिक सघर्षों का एक ही फल है 'लोक।'

सनातन से लोक' न यही माना है कि उनकी भलाई और विकास की फिक्र उनका नही, किसी दूसरे का काम है। वह दूसरा चाहे राजा हा, पुरोहित हो, गुरु हो, सेवा सस्था हो या सेवक हा। जनता को केवल इतना ही करना हाता है कि वह उनके प्रति वफादार रहे और उन्ह कर दे श्रद्धा-भक्ति दे या दक्षिणा दे। सस्थावाद मे इतना ही हुआ कि जनता के लिए सोचने वाली एजेंसी का आकार बढा, व्यक्ति के स्थान पर सस्था अवश्य आई लेकिन प्रजा जहा की तहा रही। उसे अपनी सुख शाति के लिए, अपन विकास और प्रगति के लिए व्यक्तिगत ठेकेदार के स्थान पर सस्थागत ठेकेदार मिला। सस्थावाद मे अधिक लोगो के साथ मिलकर जिम्मेदारी उठाने की जो परिपाटी बनी उससे जिम्मेदारी का दायरा व्यापक हुआ, लेकिन हानि यह हुई कि सोचने वाला प्रजा से अलग हा गया। व्यक्ति चेतन होता है और सस्था जड। राजा, प्रजा, पुरोहित, यजमान और गुरु शिष्य मे हार्दिक और मानवीय सबध होना था, जिससे समाज म एक आध्यात्मिक सस्कृति का निर्माण होता था। सस्थावाद मे वह सबध समाप्त हा गया। लाक सचालन, लाक कल्याण तथा लाक शिक्षण एक जड प्रवत्तिमात्र रह गई, जिससे समाज म आध्यात्मिक मूल्यो का ह्रास हो गया।

फिर भी सस्थाओ ने अपनी ताकत से लाक कल्याण काय का काफी विकास किया। दुनिया अगर एक ही ढग से चलती रहती तो आग भी यह विकास

होता। लेकिन दुनिया की परिस्थिति और मानव की मन स्थिति मे इतना अधिक परिवतन हो चुका है कि अब सस्थाओ के सहारे न ता विकास का काम हो सकता है और न आवश्यकता पडने पर शान्ति ही।

समाजवादी जे० पी० ने यह महसूस किया है कि मानवीय सबध प्रथम और द्वितीय पुरुष के बीच होता है। अन्य पुरुष का सबध किसी से नही होता। इसी कारण वह किसी के सुख दुख का भागी नहीं होता। फिर जब यह अन्य पुरुष चेतन व्यक्ति न होकर जड सस्था होता है तो वह पुरुष न रहकर एक तत्त्व बन जाता है। अन्य पुरुष भूले भटके कभी कभी जनता से कुछ सबध बना लेता है लेकिन जड सस्था के स्वभाव मे वह चीज नही होती। इसलिए मानवीय सबध के अभाव मे, उस परिस्थिति मे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो का ह्रास होता है। फलस्वरूप समाज मे स्वार्थ की वद्धि के कारण भ्रष्टाचार, शोषण तथा दमन का विकास होता है। शुरू शुरू मे जब सेवा, शिक्षण आदि सस्थाओ को सीधे जनता के सहारे जीना पडता था, तो सस्था के लोगो के लिए अनिवार्य था कि वे सस्था मे रहते हुए भी जनता से कुछ व्यक्तिगत सपर्क करें। लेकिन जब से दुनिया मे कल्याणकारी राज्यवाद का विचार आया है और सस्थाए उसी के सहारे चलने लगी, तब से सस्था सेवको के अपने गुजारे के लिए जनता से सीधा सपर्क करने की आवश्यकता नही रही। अगर सस्था सचालन के लिए जनता से कुछ धन सग्रह किया भी जाता है तो उसका सचालन मुख्य सचालको द्वारा ही होता है और सग्रह का क्षेत्र व्यापक होता है, जिससे स्थानीय सेवको को स्थानीय जनता मे सम्पर्क का कोई अवसर नही मिल पाता। ऐसे छोटे छोटे अनेक कारणो से सस्था सेवको का आम लोगो से कोई सरोकार नही रह गया। भूदान खादी या अकाल निवारण जैसे काम मे भी इतना व्यापक भ्रष्टाचार का जो वातावरण बना उसका यही कारण है।

सर्वोदय की उसी पद-यात्रा मे उडती हुई धूल के भीतर से जे० पी० को अनुभूति हुई "राजनीति नही लोकनीति। राजनीति मे प्रशासन मुख्य है लोकनीति मे अनुशासन मुख्य है। राजनीति मे सत्ता मुख्य है, लोकनीति मे स्वतत्रता मुख्य है। राजनीति मे नियत्रण मुख्य है, लोकनीति मे सयम मुख्य है। और तब धूल-कीचड भरे रास्तो और झाड जगल के पार गगा नदी का जल दिखाई पडने लगा—लोकतत्र की पद्धति लोकमूलक ही हो सकती है, जिसकी प्रक्रिया सचालित समाज की न होकर सहकारी समाज की होनी आवश्यक है। वरना 'लोक' का शोषण पूजीपति द्वारा होगा और 'तत्र' का दमन नौकरशाही और सिपाही की शक्ति द्वारा।"

इसके बाद जे० पी० की वतमान जीवन यात्रा शुरू होती है। राजनीति से लोकनीति अर्थात सर्वोदय के ससार मे प्रवेश करने से पूर्व जे० पी० ने पूना मे २१ दिनो का उपवास किया था। अब लोकनीति के सपूर्ण प्रयोग की नई यात्रा

शुरू करने म पूव आत्मदशन अनिवाय है और इसकी शुरुआत कहा स की जाए ? अपन ज म दिन से । ११ अक्तूबर १६७१ को अपने जीवन के ६६ वप पूरे करत हुए जे० पी० ने एक व्यक्तिगत पत्र का मसविदा तैयार किया । यह पत्र उन सभी सम्थाओ के नाम था जिनके वह पदाधिकारी या सदस्य थे । इस पत्र मे उ होने कहा, अगर ११ अक्तूबर १६७२ तक मैं जीवित रहा तो अपने इस व्यक्तिगत निणय के अनुसार (जिस हेतु श्रीमती प्रभावती की भी पूण सहमति है) मैं इन बारह महीनो मे अपने आपको हर तरह की गतिविधि से अलग कर रहा हू । १० अक्तूबर १६७२ को न सिफ उन सस्थाओ और सगठनो के पदों से ही मैं अलग हो जाऊगा जिनका कि मैं पदाधिकारी हू वरन अपने से सबधित सस्थाओ की साधारण सदस्यता भी त्याग दूगा ।

'अगर मैं जीवित रहा तो इस प्रकार मुक्त होने के बाद क्या करूगा मैं नही जानता । मैं नही चाहता कि मेरे इस एक वप के समय को किसी आध्या त्मिक या बौद्धिक चिंतन का नाम दिया जाए । यह समय मेरे लिए पूण विश्राम का समय होगा और इस काल मे मैं किसी भी प्रकार के सम्मेलनो, गोष्ठियो या बैठको म भाग नही लूगा । मैं सिफ वही करूगा जिस मेरी आत्मा चाहेगी ।

'समय निर्धारित करके मेरे दोस्त मुझसे इस काल मे मिल सकेंगे । पर मैं उनसे किसी भी सगठनात्मक या सस्थागत विषय पर बातचीत नहीं करूगा, न ही उ ह लोकजीवन राजनीति या किसी सीधी कायवाही के कि ही प्रश्नो पर सलाह देना चाहूगा । प्रत्यक्ष सेवा म स्वय अपने सक्रिय न रह पाने के कारण मैं यह गलत मानता हू कि एस किसी मामले पर अपनी सलाह दू ।"

'फिर भी इस विषय मे इस दौरान यदि कुछ सोचने का मौका मिला तो उसके सबध मे लिखूगा । सिफ एक स्थिति है जिसम यदि मैं चाहूगा तो अपनी तटस्थता से टूटकर आगे आ सकूगा और प्रकाशित भी करवाऊगा । और वह स्थिति शायद किसी गभीर राष्ट्रीय सकट की स्थिति होगी । लेकिन ऐसी सकट कालीन स्थिति नही, जिसकी घोषणा सरकार करेगी वल्कि जिसको मैं समझूगा कि यह वाकई सकट की स्थिति है ।

"इस समय की समाप्ति के बाद मैं क्या करूगा नही जानता । मैं सिफ यह जानता हू कि जब तक यह शरीर व दिमाग काम करता रहेगा, मैं अपने देश व ससार की सेवा करूगा । मैं यह भी जानता हू कि भविष्य के लिए मेरे काय की पद्धति म महत्वपूण परिवतन होंगे, क्योंकि वतमान कायपद्धति ने शारीरिक व मानसिक दोनो रूप म समय व शक्ति की व्यथता सिद्ध की है । अब मैं इससे ज्यादा अपने भविष्य के बारे म नही कह सकता, वह ईश्वर के हाथो म है ।

ठीक इसी आत्मदशन अवधि की वह घटना है जब चबल घाटी के सवा चार सौ वागियो ने आत्मसमपण किया । यह घटना नही, आत्मदशन था ।

इसने भारत और विश्व का ही नहीं, स्वयं जयप्रकाश को भी प्रभावित किया। प्रभाव की सीमा यह है कि जब कभी इसकी चर्चा किसी भी प्रसंग में जे० पी० को करनी पड़ी है, उन्होंने हमेशा यही कहा है कि उन्हें खुद समझ में नहीं आता कि इतनी बड़ी घटना घटी कैसे। जे० पी० ने इसे ईश्वरीय लीला माना और स्वयं को 'निमित्त मात्र'। चंबल के उस कार्य ने जे० पी० को आत्मदर्शन दिया। जे० पी० जैसे व्यक्ति के आत्मदर्शन की प्रक्रिया क्या होगी और क्या हो सकती है, इसका यह एक जीवंत उदाहरण है।

संगठन से असंगठन, बंधन से मुक्ति, परावलंबन से स्वावलंबन इसी के बीच से सर्वोदय ने जे० पी० को वह शक्ति दी थी जिससे वह अपनी जोखिम-भरी बीमारी के दौरान भी बिस्तर से उठकर सहसा बंगलादेश की आजादी के लिए विश्व जनमत तैयार करने की यात्रा पर निकल गए। चंबल के बागियों का यह निर्णय सुनकर कि अगर जयप्रकाश हमारे पास नहीं आए तो हम आत्म-समर्पण नहीं करेंगे, या जहां जयप्रकाश है वहां जाकर करेंगे, जे० पी० बीमारी के दौरान भी खतरा उठाकर चंबल घाटी की ओर रवाना हुए।

कर्म के भीतर से आत्मदर्शन यही है नई प्रक्रिया जे० पी० के दर्शन और कर्म की। जे० पी० का यह आत्मदर्शन था कि वर्तमान राजनीति से जो लोग आशा रखते हैं वे सूखी हड्डी चूस रहे हैं और अपने ही रक्त का आस्वादन प्राप्त कर तृप्त हो रहे हैं। यह राजनीति तो गिर रही है, और भी गिरेगी, छिन्न भिन्न हो जाएगी। तब इसके मलबे के ऊपर एक नई राजनीति जन्मेगी, जो इससे सर्वथा भिन्न होगी। नाम भी उसका भिन्न होगा। वह लोकनीति होगी राजनीति नहीं। उस राजनीति के बीज आज भारत की मिट्टी में घोर तप में अंतर्लीन हैं। उन बीजों को पैदा किया था गांधी ने और भारत की धरती को अपनी पदयात्रा द्वारा बार-बार जोतकर उन्हें बोया है विनोबा ने। हजारों अज्ञात सेवकों की सेवा उनका चिंतन कर रही है।

सर्वोदय कार्यकर्ता उस यात्रा में जे० पी० को रोककर सवाल करते, हमारे ग्रामदान के काम का समाज पर प्रभाव क्यों नहीं पड़ता ? नक्सलबाड़ी में एक छोटी सी घटना घटती है तो पूरे देश में हलचल मच जाती है। किंतु दूसरी तरफ इतने सारे ग्रामदान हुए, फिर भी सर्वोदय कार्यकर्ताओं को या जनता को ऐसी प्रतीति क्यों नहीं होती कि कोई बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई है ?

जे० पी० को उस यात्रा में पता लगता रहता था कि भूदान की जमीन बांटने में व्यापक भ्रष्टाचार हुआ है। उस समय लालबहादुर शास्त्री ने कहा था 'मेरी जितनी जानकारी है, उससे साफ है कि जमीन बांटने में बहुत ज्यादा भ्रष्टाचार हुआ है। अगर आप लोग इसे नहीं सुधारते तो उससे पूरा सर्वोदय समाज बदनाम होता है।

भ्रष्टाचार की बात केवल भूमि वितरण प्रसंग तक ही सीमित नहीं थी।

बिहार अकाल के लिए जे० पी० ने अपना खून-पसीना एक करके देश विदेश से जो धनसग्रह किया था, अकालग्रस्त भूखी जनता के उस ग्रास को भी काय कर्ताओ ने बेरहमी के साथ अपने घर पहुचा दिया।

यह थी उस आत्मदशन की भूमिका जिसके लिए जे० पी० ने कहा 'हम जड तक जाना है। डाल पत्ते तोडते रहेंगे तो नही चलेगा। जड मे प्रहार करना पडेगा। सारे शरीर म फोडे हुए हो तब एक एक फोडे का अलग-अलग इलाज करने से नही चलेगा। उसका इलाज रक्तशुद्धि ही हो सकता है। हिंसा, बेईमानी, भ्रष्टाचार आदि समाज के फोडे है रक्तदोष के लक्षण हैं। यह बात सबके ध्यान म आनी चाहिए कि आज हमारे सामने जो अनेकानेक समस्याए है उनकी जड म कुछ खास बातें हैं। कई कारणो से ये समस्याए खडी हुई है। समाज की आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था मे कितने ही गलत मूल्य है। मूल्य बदले बिना इन समस्याओ का समाधान नही होगा। इसलिए इन सब समस्याओ के निराकरण के लिए हमे जड तक जाना होगा। एक-एक समस्या को हाथ मे लेकर लडते रहने का कोई अर्थ नही है। सपूण व्यवस्था को जड से बदलने का प्रयास करना चाहिए। यह काम केवल दिखावा करने या जेल जाने से नही होगा। बहुत कठिन पुरुषार्थ करना पडेगा। इसलिए ऐसे नए और कठिन काम म प्रभाव वगैरह का विचार किए बिना अपने आपको सपूण रूप से उसम खपा देना होगा। खाद बन जाने की तैयारी इसमे तो होनी चाहिए। जैसे कि जमीन मे खाद डाली गई होती है तो भी पता नही चलता कि खाद डाली गई है। लेकिन उसम से अकुर फूटते हैं, पौधे निकलते हैं, फल-फूल लगते हैं। मिट्टी मे मिल जाने की ऐसी तयारी हमारी होनी चाहिए।'

अपनी यात्रा के पिछले पडाव को छोडते हुए जे० पी० ने बगलौर म सर्वोदय कायकर्ताओ से कहा कि देश मे जो भ्रष्ट दलगत राजनीति चल रही है उसका स्थान एक स्वस्थ लोकनीति को लेना चाहिए अन्यथा सत्ता का जिस तेजी से केन्द्रीकरण हो रहा है उससे देश की क्या दशा होगी, नही कहा जा सकता। उन्होंने सुझाया कि देश के उन भागो से जहा ग्रामदानी गाव किए गए सकल्पो को यथाथ म उतार रहे हैं, वहा अगले चुनाव म जनता के प्रतिनिधि खडे हो जो किसी दल से सबधित न हो। वहा की जनता ही सबसम्मति से उन्हे चुनकर भेजे।

लोहिया की राजनीति मूलत प्रतिपक्ष की राजनीति थी। और जे० पी० की राजनीति सत्ता और 'पक्ष' की राजनीति थी। लेकिन यह बात ससदीय लोकतत्र के अनुरागी तब तक नही समझ सकते जब तक कि उनम यह जिज्ञासा

नही पैदा होती कि अपने विशेष अनुराग म जो त्रुटिया उन्हें नजर आई हैं उनका निदान क्या है। सत्ता और पक्ष की राजनीति की त्रुटिया देखकर उसके निदान हेतु ही जे० पी० न सत्ता और पक्ष की प्रचलित राजनीति छोडी थी। उन्होने देखा और पाया कि "मेरी समझ मे नहीं आता कि सत्ता म चले जाने मात्र से ही कसे राष्ट्र की सेवा हो जाएगी क्या पार्लियामेंट म चले जाना या मत्री बन जाना ही राजनीति है ? वास्तव मे, जनता की विशाल राजनीति तो उसके बाहर पडी है। मैं अदब के साथ कहना चाहता हू कि दूसरे लोग पक्ष और सत्ता की राजनीति के कुए म डुबकी लगा रहे है, जबकि मैं जनता की राजनीति—लोकनीति के विशाल सागर मे तर रहा हू।'

जे० पी० ने अपने राजनीतिक विचार को द्रोणाचार्य और उनके शिष्यो के उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। वृक्ष पर बठी चिडिया की आख का निशाना लगाना था। अर्जुन ने कहा, मुझे और कुछ नही दीखता, केवल चिडिया ही दीखती है और अब तो मात्र चिडिया की आख ही दिखाइ देती है। उसी तरह यदि जे० पी० के जीवन मे पक्षी की आख भारत का प्रधानमत्री पद होता तो वह जरूर वह निशाना लगा चुके होते। "मेरी नजर यदि पहले स ही उस पद पर होती तो मैं काग्रेस न छोडता। १९४८ म काग्रेस छोडकर अलग समाजवादी पक्ष न बनाता। प्रभावती के कारण गाधीजी से भी घनिष्ठ सबध था। बापू के आश्रम वाले मुझे दामाद मानते थे। सन १९४६ मे जेल स छूटने के बाद गाधीजी ने मुझे काग्रेस का अध्यक्ष बनाने की बात कही। उनके शब्द अभी भी मुझे याद है। उन्होने कहा, 'तुम्हारी बहादुरी का लाभ ले लना चाहता हू।' इसी तरह जवाहरलाल जी के साथ भी भाई का रिश्ता था। उन्हें मैं हमेशा 'भाई' ही कहा करता था। १९५३ मे उन्होने मुझे और मेरे समाजवादी साथियो को केन्द्रीय सरकार मे शामिल होने का निमत्रण दिया था। इसीलिए यदि मैं जवाहरलाल के बाद इस देश का प्रधानमत्री बनना चाहता तो मेरे लिए यह असभव नही था। प्रधानमत्री बनने के लिए मैं भिन्न तरह से व्यवहार करता और इन सब चीजो का लाभ उठा सकता था। किंतु ऐसा कोई विचार ही मेरे मन मे नही था। मेरी दष्टि ही कभी वहा नही थी। इसीलिए चुनाव लडने का विचार तक मेरे मन मे न आया। जानबूझ और अपना उद्देश्य सामने रखकर मैंने ऐसा किया है। पक्ष और सत्ता की राजनीति मैंने छोडी है क्योकि मेरे ख्याल स उसस कुछ बनने वाला नही है। यदि कुछ बनेगा भी तो वह वानर बनेगा, विनायक नही। मुझे भरोसा है कि लोकनीति म विनायक बनेगा और जरूर बनेगा।

सत्ता और दलगत राजनीति स कुछ आशा रखने वालो को जे० पी० ने उपमा दी है कि वे सूखी हड्डिया चूस रहे हैं और अपने ही रक्त का आस्वादन कर तृप्त हो रहे हैं। लबे और विविध राजनीतिक सघर्षों स गुजरकर

जे० पी० ने यह विश्वास पाया है कि वतमान राजनीति नष्ट हो रही है गिर रही है तथा आगे और गिरेगी। तब 'इसके मलबे के ऊपर एक नई बुनियाद से नई राजनीति जनमेगी, जो इससे सवथा भि न होगी। नाम भी उसका भिन्न होगा। वह लोकनीति होगी राजनीति नही। वह ऊपर से नही बनगी, नीचे से बनगी, दिल्ली से नही, गाव गाव स मुहल्ले मुहल्ले से। उसके लिए नूतनतम पार्टी का साइनबाड टाग देना काफी नही होगा और न राजनीति के रगमच पर नए नूतनतम नेता का अवतरण काफी होगा। वह तो जनशक्ति के गभ से पैदा होगा। उस लोकनीति के बीज आज भारत की मिटटी म, घोर तप मे लवलीन हैं। उन बीजो को पैदा किया था गाधी न। और भारत की धरती का अपनी पदयात्रा द्वारा बार बार जोत करके उ ह बोया है विनोबा न।"

जे० पी० ने यह बात सन १९७० मे कही थी और सर्वोदय म ही इसी बात का अतर्विरोध लक्षकर इससे सघपरत हुए। उ हान पाया कि सर्वोदय आन्दोलन म एक सीमा शुरू से ही रही है। आदोलन काग्रेसी सरकार के सहयोग और सरक्षण को स्वीकार करके चला था। विश्वास था कि इस तरह भविष्य मे जाग्रत लोकशक्ति के दबाव स स्वत राजनीति, लोकनीति म गुणात्मक रूप से बदल जाएगी। सरकार लोकशक्ति के सामने विवश होकर झुकेगी। पर हुआ ठीक उल्टा। १९६९ म काग्रेस का उस तरह टूटकर दो हिस्सो मे बटना, राजशक्ति के साथ शासनतत्र का इतना हावी होते जाना श्रीमती गाधी का उस रूप मे अवतरण और फलत यह प्रत्यक्ष हो जाना कि नीचे से चलन वाली समाज रचना की प्रक्रिया किस भयकर ढग से कुठित हो रही है यहीं से जयप्रकाश सर्वोदयी जे० पी० से अलग होकर लोकनीति के वास्तविक, यथाथ पथ पर चले। जिस सर्वोदय म सरकारी सहयोग और सरक्षण के फलस्वरूप असहयोग और सत्याग्रह के गाधीवादी क्राति शस्त्र अस्वीकृत हो चुके थे उ हें जे० पी० ने बिहार आदोलन मे फिर स स्वीकारा और इस्तेमाल किया। इससे जे० पी० को देश न 'लोकनायक', कहा और दूसरी ओर इसम से जो शक्ति पैदा हुई उसमे भारत को 'इमरजेंसी' की कीमत चुकानी पडी और तीस वष बाद पहली बार काग्रेस राज समाप्त हुआ। बटा हुआ प्रतिपक्ष एक होकर जनता पक्ष हो गया।

परतु पक्ष और सत्ता की राजनीति से क्या फल निकलेगा ? जे० पी० के ही प्रश्न पर जयप्रकाश का प्रश्न और अधिक रेखाकित हो जाता है। इसी का उत्तर है सपूर्ण क्राति की कल्पना। यह कल्पना सर्वोदयी समाज रचना के लक्ष्य से की गई है। पर इसका साक्ष्य अब सामने है। सन १९७४ मे जयप्रकाश के नेतृत्व मे जो लोक आदोलन शुरू हुआ, उसके परिणामो से अब जे० पी० के उस प्रयोग को 'देखा जा सकता है।

आधुनिक भारतीय राजनीति मे जे० पी० की दो देन हैं—पहली, इ होने

गाधी और विनोबा के ऐतिहासिक सदभ म सत्याग्रह को सूक्ष्म से स्थूल किया। सत्याग्रह का एक निश्चित लक्ष्य प्राप्ति स जोडा, अर्थात् सत्याग्रह के लक्ष्य भाव को लोक मे प्रकट किया ' दूसरी देन यह कि इन्होने भारतीय प्रजातत्र की नीव को लोकशक्ति स जोडकर इस कदर मजबूत करना चाहा है कि आगे इसकी इमारत कभी न टटे। स्पष्ट शब्दो मे इसका आशय यह है कि इसम से कभी कोई फिर डिक्टेटर, तानाशाह न पैदा हो।

पहले हम सत्याग्रह का देखें। गाधी के जमाने म किए गए सत्याग्रह को यदि सत्याग्रह का आदश समभकर चलें तो हम आज के समय को नही देख पाएग। वह एक विशेष समय था, एक विशेष परिस्थिति थी। उस परिस्थिति मे जो काय करना था वह कार्य ही निषेधात्मक था (अग्रेजो को भारत स दूर करो अग्रेजो भारत छोडो)। इसीलिए उस निषेधात्मक काय के साथ गाधी न रचनात्मक अर्थात विधायक कम जोडे। गाधी की यह प्रतिभा थी जो उनके द्वारा पूर देश स कहती थी कि एक निषेधक, अर्थात् अभावात्मक काय करत हुए भी अगर हम विधायक वत्ति न रखेंगे तो जहा वह अभावात्मक काय सम्पन्न हागा वहा और भी कई खतरे पदा हो जाएगे। गाधी ने यह करके दिखाया है कि निषेधात्मक के साथ अगर रचनात्मक कम नही है तो राजनीतिक काय के पीछे नतिक बल नही खडा हागा। मतलब विधायक वृत्ति के बिना राजनीति मान हिंसा। इसी अथ म गाधी ने कहा है कि अहिंसा स स्वराज्य न मिले तो मुझे स्वराज्य नही चाहिए। फिर भी गाधी ने अत मे यह भी स्वीकार किया है कि 'मेरी अहिंसा निबलों की अहिंसा मेरा सत्याग्रह निबलो का सत्याग्रह रहा है। भगवान को मुझस इतना ही काय लेना था।" सबला की अहिंसा और सबला का सत्याग्रह यही परीक्षा थी डा० लाहिया और जयप्रकाश की, और इसी प्रतिमान पर इनका मूल्याकन अब हाना चाहिए।

गाधी के बाद विनोबा स ज० पी० का बुनियादी मतभेद इसी सत्याग्रह को ही लेकर हुआ। विनोबा न स्वतत्र भारत के प्रसग मे कहा "डमोक्रेसी म सत्याग्रह के लिए स्थान नही।" ठीक इसके विपरीत जे० पी० का यह विचार है कि सत्याग्रह का अब भारत के लोकतत्र म बहुत ज्यादा 'स्कोप' है, गुजाइश है। और उसका परिणाम लाकसत्ता म बहुत ज्यादा प्रभावशाली होगा। इसी लिए जे० पी० न सत्याग्रह को आदालन बनाया। और डा० लोहिया न सत्याग्रह को सिविल नाफरमानी मे बदल दिया।

इसका फल क्या हुआ ' डा० राममनोहर लोहिया स्वय प्रेम स लबालब भरे थे अहिंसक थे, पर सत्याग्रह के स्थान पर जा सिविल नाफरमानी चली, उसन द्वेष, सघष और नफरत फलाई। उसमे वग सघष मे पक्ष और प्रतिपक्ष मे हिंसा को बल मिला। अपना' स भी नफरत क्या यही नही निकला उस सिविल नाफरमानी से ?

ग्रौर जे० पी० के बिहार ग्रादोलन से क्या निकला ? बिहार ग्रादोलन के दिनो म राजनीतिक जीवन मूल्य के स्तर पर जे० पी० ग्रौर विनोबा मे (सव-सेवा सघ, पवनार, म) जो 'विचार ग्रादोलन' हुग्रा है उसे मैं बिहार ग्रादोलन से कही ज्यादा महत्त्वपूण मानता हू । जयप्रकाश के सामने विनोबा का निश्चित मत था कि गाधीजी के समय लोगो को ज्यादातर निषेधात्मक (ग्रभावात्मक) काय करना था । इसलिए जो सत्याग्रह उस जमाने मे हुए, वे सत्याग्रह के ग्रतिम ग्रादश थे ऐसा हमे नही समझना चाहिए । जहा लोकसत्ता ग्रा जाती है, वहा सत्याग्रह का स्वरूप भी कुछ भिन्न हो जाता है । "लोकसत्ता मे विधायक सत्याग्रह का ही ग्रधिक प्रभाव पडेगा । इस सत्याग्रह मे दबाव (कोग्रशन) न हो ।"[1]

लोकनीति के समान सत्याग्रह मे एक शक्ति है जिसका स्वरूप यह है कि वह सामने वाले के वैर को 'डिसग्राम' (नि शस्त्र) करती है । "जसे सूय के ग्राने से ग्रधकार मिट जाता है, वैसे सत्याग्रह मे यह शक्ति है कि जो सामने वाला मनुष्य सोचने के लिए भी राजी नही था, या विपरीत ही सोचता था, वह सत्याग्रह के दशन से सोचने लगता है ग्रौर उसका सोचना बिल्कुल निमल हो जाता है । गाधी के जमाने मे सत्याग्रह रूपी सूय का उदय हुग्रा था । वह बिल्कुल फीका सा था । ग्रब जमाना बदल गया है, लोकसत्ता ग्राई है । प्रचार के साधन खुल गए है । इस हालत म कोई उस प्रकार का निगटिव' सत्याग्रह कर, तो हम उसका यह कहकर बचाव नही करेंगे कि हम छोटे लाग है ग्रौर गाधीजी के भी सत्याग्रह मे न्यनता थी, तो हम जैसे छोट लोगो के सत्याग्रह मे ता वह रहेगी ही ।"[2]

बिहार ग्रादोलन स जनता पार्टी उदित हुई, परतु उसम से सबसे पहले 'इमरजेंसी' की काली रात फैली । जनता पार्टी से जो विधायक दल ग्राया, उसमे कितनी विधायक शक्ति है ग्रौर कितनी निषेधात्मक शक्ति है—यह प्रत्यक्ष है । काग्रेसी विधायक ग्रौर जनता पार्टी के विधायक म कोई गुणात्मक ग्रतर नही । यह ग्रतर तभी सभव था जब जे० पी० लोकशक्ति के साथ, सत्याग्रह मे जनतत्र को जोडकर यह ग्रास्था दे पाते कि लागो मे भय का हिसा ग्रौर लालच का निर्माण न हो । यह तभी सभव था जब ग्रादालन के साथ-साथ ठीक उसी शक्ति, ग्रास्था ग्रौर ग्रनुपात मे रचनात्मक कम भी उससे जुडा हाता । बिहार ग्रादोलन, छात्र सघप समिति या किसी भी सघप समिति के भीतर स जितने नए विधायक, केंद्र ग्रौर राज्य मे ग्राए है, यदि उनके चरित्र ग्रौर कम का लेखा जोखा किया जाए तो कुछ सर्वोदयी नताग्रा को छोडकर नए नताग्रा म शायद ही कोई एक उदाहरण मिले जिसका सबध कभी भी किसी

१ लोकनीति, विनोबा पष्ठ १५२ १५३
२ वही पष्ठ १५४ १५६

रचनात्मक क्रम से रहा हो।

जे० पी० ने अपने मंच से लोकशक्ति को एक नई दिशा दी, परंतु उन्होंने अपने 'आंदोलन' से सत्याग्रह को 'दबाव' में बदलने का जो कार्य किया वह जनतंत्र के लिए स्वास्थ्यकारी नहीं। यद्यपि यह विचित्र संयोग है कि डा० लोहिया और जे० पी० जनतंत्र, समता और स्वतंत्रता के सबसे बड़े आधुनिक यादगार और पक्षधर हैं परंतु दोनों ने क्रमशः 'सिविल नाफरमानी' और 'आन्दोलन' जैसे अस्त्रों को लेकर वर्तमान भारतीय प्रजातंत्र को खासा नुकसान पहुंचाया है वर्तमान अर्थात् ऐसे देश, काल और समाज में व्यक्ति को एक अस्त्र देकर जिनके बारे में उसे अभी कुछ पता नहीं है कि, यह कैसे चलाया जाए, इसका संचालक और कर्ता कौन हो कैसा हो। यद्यपि यह सच है कि सिविल नाफरमानी, और आंदोलन के बारे में लोहिया और जे० पी० ने बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें लिखी है पर इन अस्त्रों को चलाने वालों की नवरचना वे नहीं कर सके। इसी नवरचना के लिए जे० पी० ने संपूर्ण क्रांति की बात कही है। पर कृपलानी की यह बात महत्त्वपूर्ण है कि 'संपूर्ण क्रांति' के लिए कार्यकर्ता कहां है?

विचार और कर्म में अर्थात् संपूर्ण मंच से दो लक्ष्य पूरे किए जा सकते हैं—समाज क्रांति और चित्तशुद्धि। पहला लक्ष्य समाजवादी और साम्यवादी का है, और दूसरा लक्ष्य संत का है। पर ये दोनों लक्ष्य जिसमें एकाएक हो गए हों वह था गांधी का सर्वोदय—सर्वोदय माने सबका उदय नहीं, सबके उदय की बात केवल निरंकुश तानाशाह ही कर सकता है, सर्वोदय अर्थात् व्यक्ति की चेतना में परिवर्तन। व्यक्ति माने जिसमें कुछ 'अभिव्यक्त' होता है। जो अनेक में एक है। समाज विराट और अप्रकाशित को जो प्रकाशित करता है, व्यक्त करता है वही व्यक्ति, 'इंडिविजुअल' नहीं।

जे० पी० की लोकशक्ति का वाहक यही व्यक्ति है। पर इस व्यक्ति की रचना कैसे हो? रचना उसी से संभव है जो शक्ति को फैलाता है पैदा कर देता है, फिर उसका संवरण भी कर लेता है जैसे सूरज। शक्ति फैलाने और समेटने दोनों का काम वही करता है। गांधी में भी यही शक्ति थी—शक्ति फैलाना और फिर बटोर लेना, आंदोलन करना और आंदोलन को समेट लेना।

जयप्रकाश शक्ति को पैदा करने, फैलाने की ताकत तो रखते हैं जैसे बिहार आंदोलन, पर शक्ति का संवरण करना उनकी शक्ति से बाहर है। बिखरी फैली हुई शक्ति अंततः अपने आपको ही जलाती है। वर्तमान राजनीतिक संदर्भ में क्या अनियंत्रित लोकशक्ति लोकतंत्र को ही जलाने नहीं जा रही है?

बारहवा अध्याय

द्वद्व से सघर्ष नम्बूद्रिपाद

सन १६३० तक प्रात-प्रात गाधी की अपार शक्ति को देखकर उस समय की युवाशक्ति गाधी के प्रति आकृष्ट हुई। उस युवाशक्ति का एक महत्वपूर्ण भाग मार्क्सवादी था जिसने शान्ति की सारी चेतना मार्क्स और लेनिन से प्राप्त की थी। इन युवको मे प्रमुख थे जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया आचार्य नरेंद्र देव, यूसुफ मेहर अली ई० एम० एस० नम्बूद्रिपाद मीनू मसानी अच्युत पटवधन, अशोक मेहता एन० जी० गोरे एम० एम० जोशी पुरुषोत्तम विक्रमदास, नाना साहब गोरे आदि। यह युवाशक्ति उस समय सोच रही थी कि गाधी ने हमारे राष्ट्रीय आदोलन को असहयोग और सविनय अवज्ञा आदोलन से जहा तक बढाया, उसे और आगे बढाने के लिए राजनीतिक प्रश्नो के साथ उसमे आर्थिक प्रश्नो को भी जोडना होगा तथा इस राष्ट्रीय आदोलन मे जब तक पूजीपतियो और बाबुओ का बोलबाला रहेगा इससे कोई विशेष फल नही निकलेगा, और कुर्सियो का मोह असेंबली और कौंसिल की ओर खीचता ही रहेगा। इसके खिलाफ युवाशक्ति सोच रही थी कि हम उस वहत्तर समाज और नग्न वर्गो की ओर बढेंगे जिनके पास खोने के लिए सिवा जजीर के और कुछ नही है और पाने को सारा ससार है। इस तरह मार्क्स का घोषित सत्य लागू हो रहा था।

दरअसल १६२१ के असहयोग आदोलन के समय कुछ नवयुवक रूस गए थे, जैसे एम०एन० राय, शिवनाथ बेनर्जी और शौकत उस्मानी। उस समय के कामिन्टन (थर्ड इटरनेशनल) की ओर से इन्हे मार्क्सवादी विचारधारा मे दीक्षित और शिक्षित करने की चेष्टाए हुई। ये लोग भारत लौटे। विभिन्न क्षेत्रो मे मार्क्सवादी विचारो के प्रचार एव मजदूर सगठनो मे ये लग गये। तभी सन १६२७ मे मेरठ षडयत्र केस आरभ हुआ। काफी लोग उसी मे गिरफ्तार कर लिए गए और शेष अडरग्राउड चले गए।

ठीक इसी समय रूस के कोमिंटन मे मतभेद खडे हो गए। दरअसल १६२८ मे लेनिन की मृत्यु के बाद रूस का समाजवाद दो धाराओ मे बट गया। एक

का नेता था स्टालिन दूसर का था ट्राटस्की। ट्राटस्की लेनिन का साथी ही नही, उसका दाया हाथ था। वह लेनिन के काम को आगे बढाना चाहता था। उसी ने लेनिन की वह बात भारत के राष्ट्रीय आदोलन क सदभ म दुहराई थी कि हर कोमिटन को अपनी 'आइडेंटिटी' भुलाकर पहले राष्ट्रीय आदोलन को सफल बनाना होगा। ठीक इस विचार के खिलाफ स्टालिन की प्रभुता न कोमिटन की राजनीति म आमूल परिवतन कर दिया। उसने राष्ट्रीय आन्दोलन स बडा दर्जा दिया कोमिटन की नीति को। अथात कोमिटन अब अतराष्ट्रीय समाजवाद की सस्था न रहकर रूस की परराष्ट्र नीति की दुम मात्र बनकर रह गया। इस तरह स्टालिन न अपनी गलत कारवाइयो म ससार भर के समाजवादी आदोलन को आहत किया। इसी की देन थे हिटलर और मुसोलिनी समाजवाद की भ्रूणहत्या स उपजे हुए तानाशाह। इसी के अनुरूप कामिटन न माना कि भारत म काग्रेस एक प्रतिक्रियावादी सस्था है और गाधी बुजुआ लीडर है।

उसी गाधी की ताकत और प्रभाव को अपनी तरह स इस्तमाल करन के लिए उस युवाशक्ति न काग्रेस के भीतर ही काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। मतलब गाधी बूजुआ है इसे क्रातिकारी बनाओ, यही उद्देश्य था इन नव युवको का। ठीक ऐसा ही काम किया था १६२६ म लेनिन न। उन्होन एम० एन० राय को गाधी के पीछे लगाया। दो प्रस्ताव थे उनके। पहला, गाधी का तैयार करो कि वह मोतीलाल नेहरू की स्वराज्य पार्टी का समथन करें। दूसरा, बोल्शेविक क्राति की आलोचना गाधी बद करें। स्मरण रहे कि इस प्रसग म लेनिन मातीलाल नेहरू का मास्को म ही एक विशेष परामश द चुके थे।

परतु गाधी को कोई इस तरह पाठ पढाए या इस्तमाल कर सके, यह असभव था। गाधी ने स्पष्ट कहा—क्रानि म असत्य हिंसा और गुप्त रहस्य का कोई स्थान नही।

उस युवाशक्ति ने गाधी का दुबारा प्रभावित करना चाहा मई १६३४ म पटना मे प्रथम समाजवादी सगठन द्वारा सात सूत्री कायक्रम रखकर—वग सघष, सवहारा युद्ध शोषक और शोषित सामतवादी व्यवस्था बनाम पूजीवादी व्यवस्था द्वद्वात्मक भौतिकवाद, आदि आदि।

गाधी ने कहा—ये सब उधार ली हुई बातें हैं। समाजवाद काल मावस स नही शुरू हुआ। यह शुरू हुआ अपने 'बीज से उपनिषद से—'ईशावास्यइद सवम' से। इससे काग्रेस साशलिस्ट पार्टी के सदस्यो की बुद्धि चकरा गई। आगे चलकर इसके दो फल हुए—पार्टी छोड दो या पार्टी हडप लो।

ई० एम० एस० नम्बूद्रिपाद न १६३७ के मध्य मे काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी छोड दी और केरल के चार सदस्यीय साम्यवादी दल के अग हुए। अय सदस्य थे—कृष्ण पिल्लई एन० सी० शेखर के० दामादरन। पर इन सारे नामा म से नम्बूद्रिपाद एक ऐसा विशेष नाम था जिसने यह स्वीकारा है कि 'महात्मा गाधी

के व्यक्तित्व और १९२०-२१ में उनके द्वारा चलाए गए राष्ट्रव्यापी आंदोलन ने ही सर्वप्रथम मेरे अंदर राजनीतिक चेतना जगाई थी। उन दिनों मैं ग्यारह-बारह साल का बालक था। गांधीजी के तूफानी असहयोग आंदोलन ने मुझे आकृष्ट किया। उन दिनों मलयालम में कोई दैनिक पत्र न था, अतः गांधीजी के कार्यकलाप के बारे में जो थोड़ी बहुत खबरें मुझे मिलीं उन्होंने मेरे मानस चक्षु के सामने एक नई दुनिया खड़ी कर दी।

'मैं गांधीजी और उनकी शिक्षाओं की घुट्टी लेकर ही बड़ा हुआ। स्वराजियों और यथास्थितिवादियों की जबर्दस्त बहस के दौरान मेरी पूरी हमदर्दी यथास्थितिवादियों के साथ थी। मैंने गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ताओं की कुछ साधनाएं भी आरंभ कर दीं जिनके कुछ अवशेष आज भी मुझमें देखे जा सकते हैं।

"जब गांधीवादियों के मध्य वाम अथवा उग्रपंथी प्रवृत्ति (जवाहरलाल नेहरू जिस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि थे) का उदय हुआ, तो मैं नेहरू पंथ का उत्साही अनुयायी बन गया। इसके बाद गांधीजी के अनुयायियों के अंदर भी यह वामपंथी धारा और अधिक वामपंथी हो गई जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना हुई (उस पार्टी के संस्थापक, महासचिव और सर्वप्रमुख नेता श्री जयप्रकाश नारायण अब उन लोगों के सर्वप्रमुख नेता हैं जिन्हें हम गांधीजी के बाद के गांधीवादी कह सकते हैं)। मैं भी कांग्रेस समाजवादी पार्टी में सम्मिलित हो गया। गांधीजी के अनुयायियों की इस वामपंथी धारा से ही आगे चलकर मेरा गांधीवादी से मार्क्सवादी लेनिनवादी के रूप में गुणात्मक परिवर्तन हुआ। यहां इतना और कह दूं कि श्री जयप्रकाश जैसे आदरणीय सहकर्मियों ने इस धारा से निकलकर मेरी तरह मार्क्सवाद लेनिनवाद की धारा में छलांग नहीं लगाई। इसीलिए वे मार्क्सवाद के तट तक आकर फिर गांधीवाद की धारा में जा मिले।'[1]

नम्बूद्रिपाद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में न 'उतनी सक्रियता से सम्मिलित' थे और न मात्र दर्शक थे। परंतु उन्होंने आगे लिखा है कि दूसरे दशक के बाद में लेकर बीस वर्षों में, "मुझे काफी सक्रियता से उसमें शरीक होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह भी बता दूं कि गांधीवादी विचारधारा के अनेक प्रमुख नेताओं के वैयक्तिक संपर्क में आने का भी मुझे सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। १९३२-३३ में जब मैं डेढ़ वर्ष वल्लौर जेल में था, तो श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, डा० पट्टाभि सीतारमैय्या, देशभक्त कोंडा वेंकटप्पैय्या और बुलुसु साम्बमूर्ति जैसे कट्टर और प्रसिद्ध गांधीवादियों के साथ ही चौबीसों घंटे उठना बैठना होता था। हमारे जेल वार्ड के सामने शाम को डा० पट्टाभि का

1 गांधीजी और उनका वाद, ई० एम० एस० नम्बूद्रिपाद पृष्ठ २३

प्रसिद्ध 'दरबार' लगा करता था। शिष्यों का एक दल वहां इकट्ठा होता और डॉ० पट्टाभि ज्ञान का अपना अगाध भंडार बिखेरते हुए भाषण देते। दक्षिण भारत के सर्वप्रमुख गांधीवादी नेताओं के साथ बिताए वे डेढ़ वर्ष मुझे अब भी याद आते हैं।"[1]

१९३६ के आरंभ में साम्यवादी दल ने दो दस्तावेज प्रकाशित किए। इनमें पहला तो साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा स्थापित करने के बारे में था और दूसरा राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा स्थापित करने के बारे में। उस समय साम्यवादी दल ने यह भी प्रस्ताव किया था कि कांग्रेस समाजवादी दल और साम्यवादी दल को मिलाकर मार्क्सवाद के आधार पर एक मजदूर दल का रूप धारण कर लेना चाहिए। यह वह समय था जब दल के मुख्य प्रवक्ता अथवा राष्ट्रीय नेता पी० सी० जोशी थे। पी० सी० जोशी शायद प्रथम ऐसे नेता थे जिन्हें हम भारतीय या राष्ट्रीय साम्यवादी नेता कह सकते हैं। इसी का राजनीतिक फल यह था कि रणदिवे के हाथ जोशी को जो राजनीतिक दंड मिला उसे लोग आज तक नहीं भूल पाए हैं।

दरअसल १९४७ के बाद ई० एम० एस० नम्बूद्रिपाद के व्यक्तित्व ने एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप प्राप्त किया। विशेषकर जब सन १९४७ में भारत के तत्कालीन शासकों ने कांग्रेस के नेताओं को सत्ता का हस्तांतरण किया तभी साम्यवादी दल के समक्ष ई० एम० एस० ने यह समस्या उठाई कि सत्ता के हस्तांतरण के निहितार्थों का किस प्रकार सही रूप से मूल्यांकन किया जाए? इस प्रश्न पर दल के भीतर ही परस्पर विरोधी विचार प्रस्तुत किए गए। फलस्वरूप दल के भीतर एक तीव्र विचारधारात्मक, राजनीतिक और संगठनात्मक संकट उठ खड़ा हुआ। इस शताब्दी के चौथे दशक के अंतिम वर्षों और पांचवें दशक के पूर्वार्द्ध में समझौते के काफी घुमाव-फिराव के पश्चात ये परस्पर विरोधी विचारधाराएं दो विशिष्ट प्रवृत्तियों के रूप में सामने आईं। एक प्रवृत्ति के अनुसार कांग्रेस और इसकी सरकार की नीतियों को तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा दिए गए वामपंथी दिशाविन्यास को एक महत्त्वपूर्ण घटना समझा गया। इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि समर्थक थे एस० ए० डांगे जिन्होंने 'राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे' का नारा बुलंद किया और इसके फलस्वरूप एक मिली-जुली सरकार बनाने का संकल्प किया गया। इस प्रवृत्ति के जो विरोधी थे उनमें नम्बूद्रिपाद का नाम अत्यंत उल्लेखनीय हुआ। उनके अनुसार कांग्रेस की जाहिरा तौर पर क्रांतिकारी और प्रगतिशील घोषणाओं के बावजूद उसकी नीतियों और प्रथाओं का वास्तविक उद्देश्य बड़े जमींदारों और पूंजीपतियों के हितों की रक्षा करना है। नम्बूद्रिपाद के इस वर्ग ने कांग्रेस और इसकी सरकार

[1] 'गांधीजी और उनका वाद' ई० एम० एस० नम्बूद्रिपाद पृष्ठ ३४

के प्रति बुनियादी विरोध' का नारा बुलद किया यद्यपि वे काग्रेस सरकार द्वारा उठाये गए उन कदमा को सगत समथन प्रदान करते रहे जो वास्तव म साम्राज्यवाद सामतवाद, एकाधिकारपूण पूजी और अय प्रतिक्रियावादी शक्तियो के विरुद्ध थे।

दल का चौथा सम्मलन अप्रैल १९५६ म पालघाट म आयोजित किया गया। इसम एक सकल्प पारित कर यह सकेत दिया गया कि इसका उद्देश्य भारत की स्वतत्रता और प्रभुसत्ता का सुदृढ बनाना है, स्वतत्र भारत मे योजनाबद्ध विकास के प्रति रचनात्मक दष्टिकोण अपनाना है, भारत की विदेश नीति को इस प्रकार म दढ करना है कि इसस विश्वशाति की स्थापना मे सहायता मिले, जन सगठना और सयुक्त लोक तात्रिक मोर्चो का नियोजन किया जा सके, सयुक्त जन आदोलन किए जा सकें ताकि काग्रेस और विरोधी दलो की अनुयायी जनता के बीच का फक कम किया जा सके, समाजवादी राष्टो के साथ भारत के सबधो को मजबूत बनाया जा सके और साम्राज्यवाद की चालो और कुचक्रा का रहस्योदघाटन किया जा सके तथा उसके खिलाफ सघष किया जा सके।

इस सकल्प म ए० के० गोपालन के अलावा नम्बूद्रिपाद का महत्त्वपूण हाथ था। इस सकल्प की उपलब्धियो के आधार पर १९५७ के दूसरे आम चुनाव मे दल को सबसे अधिक उल्लेखनीय विजय केरल मे प्राप्त हुई, और इसका विशेष श्रेय नम्बूद्रिपाद को प्राप्त था। इसके फलस्वरूप वहा काग्रेस सरकार को अपदस्थ होना पडा और उसके स्थान पर साम्यवादी दल और नम्बूद्रिपाद के नेतत्व मे पहली साम्यवाद सरकार का निर्माण किया गया।

केरल मे साम्यवादी दल के नेतत्व की सरकार की अनेक ऐसी उपलब्धिया है, जिनसे नम्बूद्रिपाद का विशेष सबध है। निहित स्वाथ लोगा द्वारा की गई विध्वसात्मक कारवाइया के बावजूद और सविधान के भीतर आरोपित सीमाओ के होते हुए भी इनके नेतत्व मे बनी सरकार ने अपने अस्तित्व के २८ महीनो मे मजदूरा की अवस्था मे सुधार लाने के लिए कई उपाय किए। वेदखली के विरुद्ध अधिनियम, ऋण सहायता अधिनियम, शिक्षा विधेयक, भूमि सुधार विधेयक अध्यापको, ग्रामीण क्षेत्रो मे नियुक्त कमचारियो और अराजपत्रित अधिकारियो के वेतन मे वद्धि और सभी सेवाओ को समान रूप से महत्त्वपूण मानना—ये नम्बूद्रिपाद मन्त्रिमडल की उल्लेखनीय उपलब्धिया हैं।

उस समय और बहुत अर्थों म आज तक केरल ही वह एकमात्र राज्य है जिसन प्रशासन सुधार की समस्या को गभीर रूप से उठाया और उसे हल करने का प्रयत्न किया। मन्त्रिमडल की श्रम सबधी नीति और किसानो तथा मजदूरा के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित किए जाने मे औद्योगिक सबध नए स्तर पर आ गए और इससे राज्य के समस्त श्रमजीवी वग का काफी लाभ पहुचा।

परन्तु इन उपलब्धियों के कारण केरल सरकार की काग्रेसी सरकार द्वारा कड़ी आलोचना की गई। 'मुक्ति सघर्ष' का आयोजन किया गया ताकि सरकार का असंवैधानिक ग से तख्ता उलटा जा सके। और वही हुआ। काग्रेस की केंद्रीय सरकार ने ससदीय लोकतत्र की सभी मान्य परपराओं की अवहेलना करके जुलाई १९५९ मे नम्बूद्रिपाद की साम्यवादी हुकूमत को बर्खास्त कर दिया।

नम्बूद्रिपाद ने साम्यवादी दल मे काग्रेस दल समर्थक तत्वों का हमेशा पर्दाफाश किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है "१९६२ मे वे दल के सदस्यों और दल के उन बड़े नेताओं को अपने पक्ष म करने मे सफल हो गए, जिन्होंने १९५५ ५६ म उनके पक्ष का विरोध किया था और इस चीनी आक्रमण के विरुद्ध देश मे सभी देशभक्त शक्तियों को एकत्रित करने के सवाल पर बहुमत का समर्थन प्राप्त किया। जिन्होंने पहले जनसंघ और स्वतत्र दल जैसी दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध काग्रेस के साथ एकता करने का पक्ष लिया था वे 'चीनी आक्रमण के विरुद्ध एकता' के झंडे के नीचे न केवल काग्रेस को सहयोग ने के विचार के समर्थक हो गए बल्कि उन दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी दलों के साथ भी सहयोग करने के लिए तैयार हो गए जिनके व उस समय तक विरोधी रह थे।"[1]

तत्कालीन साम्यवादी दल मे दल के भीतर का सघर्ष और भी अधिक गभीर और कटु होता गया क्योंकि यह अतर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलन म तेजी म बढ़ते हुए विवाद की परिस्थितियों मे हो रहा था। सोवियत सघ के साम्यवादी दल ने अपनी बीसवीं काग्रेस म विश्व शांति प्रक्रिया की समस्याओं को जो नई दिशा प्रदान की, उससे उन लोगों को बहुत अधिक शक्ति और सहायता प्राप्त हुई जिन्होंने काग्रेस और साम्यवादी दल की एकता तथा काग्रेस साम्यवादी मिली जुली सरकार का पक्ष लिया था।

इसके अलावा सोवियत सघ और चीन के साम्यवादी दलों के बीच उत्पन्न विभेदों के कारण भारतीय साम्यवादी दल के भीतर सत्तारूढ़ दल की विचार धारा के समर्थकों म अधिक शक्ति और आत्मविश्वास का सचार हुआ। स्वाभाविक था कि इससे भारतीय साम्यवादी दल के भीतर सत्तारूढ़ दल समर्थक प्रवृत्ति को और अधिक प्रोत्साहन मिला, और दल के भीतर का विभाजन और भी अधिक गभीर रूप म सामने आया।

इस तरह अतर्राष्ट्रीय विरोध और विवाद के इस परिवेश म भारत की साम्यवादी पार्टी म पहली फूट १९६४ म उभरकर आई और उस दल म से एक हिस्सा निकलकर सी० पी० एम० के नाम से अलग हो गया। रणदिवे ज्योति बसु और नम्बूद्रिपाद इसके प्रमुख स्तभ हैं। इनमे विशेष कर नम्बूद्रिपाद

१ 'भारत के राजनीतिक दल' नम्बूद्रिपाद पृष्ठ ५८

विचारक और सगठनकर्ता दोनो है। इनका कहना है कि साम्यवादी दल का पुराना नेतत्व ससदीय माग से ही समाजवाद की स्थापना मे विश्वास करने लगा था। नम्बूद्रिपाद इसे सशोधनवाद कहते थे। इनका विश्वास है कि अतत समाजवादी समाज की स्थापना के लिए ससद के बाहर सडको पर सघर्ष करना ही पडेगा।

पर मूल बात यह है कि भारत की साम्यवादी पार्टी का बहुत बडा भाग रूस भक्त था, और साथ ही दल मे चीन भक्तो की भी कमी नही थी। जब तक रूस और चीन मे मित्रता थी तब तक भारत की साम्यवादी पार्टी म भी एकता बनी रही। बाद म मास्को भक्तो और चीन भक्तो मे सहअस्तित्व असभव हो गया। यह बात डागे ने भी स्वीकार की है और स्वय नम्बूद्रिपाद ने तथा अन्य मार्क्सवादियो ने भी। १९६२ के रूप चीन विवाद के सदभ मे डागे लिखते हैं "उसी से भारतीय साम्यवादी पार्टी मे भी फूट पड गई। जो चीन की लाइन के समथक थे वे बाहर हो गए ।"[1]

मार्क्सवादी पार्टी की स्थापना पर चीन मे प्रसन्नता व्यक्त की गई, और रूस मे इसकी निंदा की गई। चीनी नेताओ और समाचार पत्रो ने इसी दल को भारत की सच्ची साम्यवादी पार्टी कहा, तथा डागे को 'दलाल' और 'सशोधनवादी' कहा और क्राति के प्रति गद्दार साबित किया। इस बीच भारत की मार्क्सवादी पार्टी और इसके नेता नम्बूद्रिपाद ने कभी भी चीनी वक्तव्यो का विरोध नही किया और न इस बात स इनकार किया कि वह चीन के मानसपुत्र नही हैं।

द्वद्व के प्रति सघष का अन्यतम उदाहरण तब मिला जब १९६७ म चीन ने क्राति की एक नई थीसिस दी। चीन के राष्ट्रपति लिन पिआओ ने यह थीसिस प्रतिपादित की कि इ दोनशिया बर्मा और भारत म सशस्त्र क्राति का सिहनाद कर देना चाहिए। सयोग से उन दिनो भारत मे आम चुनाव होने वाले थे। देश पर अकाल की काली छाया मडरा रही थी। स्थान स्थान पर छात्र उग्र आदोलन कर रहे थे। चीन नही चाहता था कि मार्क्सवादी पार्टी चुनाव मे भाग ले। वह चाहता था कि पार्टी के नेता बदूक उठाए और हिसक क्राति मे कूद पडें।

परन्तु नम्बूद्रिपाद के विशेष प्रयत्नो से मार्क्सवादी दल ने चुनाव म भाग लिया और चीन की इच्छा के विरुद्ध सयुक्त मन्त्रिमडल का निर्माण भी किया।

५ जुलाई १९६७ को चीन के 'पीपुल्स डेली' न एक लेख म मार्क्सवादियो को ललकारा और कहा कि भारत मे साम्राज्यवाद सामतवाद, नौकरशाही, पूजीवाद और रूसी सशोधनवाद को कुचल दो। और वास्तव मे बिजली कडकी भी। इस पार्टी के अदर भी चारू मजुमदार और कानू सा याल जैसे कई लोग थे जिन्ह ज्योति बसु और नम्बूद्रिपाद का माग गलत लगता था। 'पीपुल्स डेली'

१ ह्वेन द कम्यूनिस्टस डिफर, एस० ए० डागे पष्ठ ६०

की ललकार के अनुसार सान्याल के नेतृत्व में नक्सलवाड़ी में एक हिंसक विद्रोह शुरू किया गया। परंतु यह विद्रोह कुचल दिया गया। संयोग से कुचलने वाले ज्योति बसु ही थे।

चीन की व्यवस्था ने और भारत के उग्र मार्क्सवादियों ने इस पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने कहा कि मार्क्सवादी पार्टी का नेतृत्व भी डांगेवादियों की तरह गिड़गिड़ाने लगा है। वह भी संशोधनवादी हो गया है। खूनी क्रांति से घबराता है। नम्बूद्रिपाद ने इसका खुलकर प्रतिवाद किया। उन्होंने नक्सलवादियों को 'नौसिखिए और दुस्साहसी' कहा। उन्होंने कहा कि हम संसदीय पद्धति में बिल्कुल विश्वास नहीं करते। हम इसे केवल एक साधनमात्र समझते हैं। लेकिन हम यह मानते हैं कि अभी हमारी पार्टी बहुत छोटी है। अभी वह समय नहीं आया जब हम सफलतापूर्वक हिंसक क्रांति का सिंहनाद करें। इन्होंने चीन की साम्यवादी पार्टी की भी आलोचना की कि चीन की पार्टी भारत की परिस्थितियों का गलत आकलन कर रही है।

नक्सलवादियों और चीन ने नम्बूद्रिपाद की इस नीति पर सशक्त प्रहार किए। अगस्त १९६७ में ही पीकिंग रिव्यू ने एक लेख में लिखा, "मार्क्सवादी पार्टी में जो भी क्रांतिकारी सदस्य हैं, वे पार्टी से अपना संबंध तोड़ लें। और मार्क्सवादी लेनिनवादियों की एक नई पार्टी बनाएं जो माओ त्से-तुंग के विचारों पर आधारित हो।"

इस बीच आंध्र की घटनाओं ने तीसरी साम्यवादी पार्टी के जन्म की प्रक्रिया को और तेज कर दिया। आंध्र में सिरीकाकुलम के क्षेत्र में स्थानीय क्रांतिकारी खूनी क्रांति की तैयारी कर रहे थे। नम्बूद्रिपाद इस नीति के विरोधी थे। इस तरह पार्टी के अन्दर माओवादियों को इस बात में अब किसी तरह की कोई शंका नहीं रह गई थी कि मार्क्सवादी नेतृत्व भी रूस के दलालों से भिन्न नहीं है। अतः मई १९६९ को कलकत्ता के मैदान में हजारों लोगों के बीच कानू सान्याल ने तीसरी साम्यवादी पार्टी—मार्क्सवादी लेनिनवादी पार्टी की स्थापना की घोषणा की।

इस पार्टी का उद्देश्य और लक्ष्य एकदम स्पष्ट था। माओ के आदर्शों और सिद्धांतों के अनुसार गांव गांव में शस्त्रों के द्वारा जमींदारों साहूकारों का अंत करना और गांव में अपना बेस' बनाना और फिर आगे बढ़कर शहरों को घेरना। इस क्रांति के वाहक श्रमिक नहीं भूमिहीन किसान होंगे।

परंतु यह नीति चली नहीं। १९७१ में लोकसभा के चुनाव हुए। इसके साथ ही पश्चिमी बंगाल में विधान सभा के भी चुनाव हुए। केंद्र में श्रीमती गांधी विशाल बहुमत से विजयी हुई। वे आतंकवाद को कुचलने के लिए कृत संकल्प थीं।

घटनाओं के इस संक्षिप्त विवरण से, बल्कि इन्हीं घटनाओं के कारण ही भारतीय मार्क्सवादी दल (सी० पी० एम०) का निर्माण हुआ और आपसी

सघष का दौर एक नए राजनीतिक परिवेश से शुरू हुआ। मावसवादी दल के नता के रूप मे नम्बूद्रिपाद न सी० पी० आई० भारतीय साम्यवादी दल से सीधे सघष करत हुए उसके और अपने दस्तावेजो को पेश किया—"अक्तूबर १९७१ मे कोचीन मे हुई दक्षिणपथी साम्यवादी दल की काग्रेस के लिए दल की राष्ट्रीय परिषद द्वारा तैयार किए गए राजनीतिक सकल्प की केंद्रीय राष्ट्रीय उद-घोषणा यह है कि केंद्र मे काग्रेस के नेतत्व मे वामपथी लोकतान्त्रिक सरकार की स्थापना की जाए, यद्यपि इसे व अधिकतम रूप से काग्रेस के भीतर और काग्रेस से बाहर वामपथी लोकतान्त्रिक शक्तियो का सगठन कहते हैं। इसके विपरीत मार्क्सवादी साम्यवादी दल प्रतिक्रियावाद के उस समग्र शिविर के विरुद्ध सघष का आवाहन करता है जिसका प्रतिनिधित्व समस्त सत्तारूढ वर्गों के सभी दलो द्वारा किया जा रहा है।"[1]

यह सुदर सयोग है कि नम्बूद्रिपाद मावसवादी विचारक होने के साथ ही अपने दल की सगठनात्मक सरचना के प्रमुख व्यक्ति हैं। अपने वतमान विचारो के अनुसार वह श्रमजीवी वग के नेतत्व म श्रमजीवी लोगो के सयुक्त दल के विकास के लिए बूर्जुआ लोगो के उस वग के सहयोग की अपेक्षा करते हैं जो साम्राज्यवाद सामतवाद और एकाधिकारवादी पूजी का विरोधी है। वह विभि न कारणो से समाज के उन व्यक्तियो और वर्गो से सहयोग की कामना करते है जो साम्राज्यवाद विरोधी और सामतवादी विरोधी हैं तथा पूजी के एकाधिकार के विरुद्ध मार्चा सभालने के लिए तयार हैं। नम्बूद्रिपाद का राजनीतिक विश्वास है कि राष्ट्र के इन तीन शत्रुओ के विरुद्ध सघष का व्यापक मोर्चा श्रमजीवी वग के सुदृढ और सतक नेतत्व मे ही तैयार किया जा सकता है और यह आवश्यक है कि इसका आधार मावसवादी लेनिनवादी विचारधारा हो।

नम्बूद्रिपाद का विचार है कि इनका मावसवादी साम्यवादी दल दोनो काग्रेस दलो और सत्तारूढ वर्गों के अन्य दलो के विरुद्ध लोगो के राजनीतिक और सविधानिक अधिकारो के लिए युद्धरत होगा और अन्य सच्चे लोकतान्त्रिक दलो, सगठनो, गुटो और व्यक्तियो को इनके विरुद्ध सघष करने के लिए आमन्त्रित करता है। इसके लिए इन्होने अपने दल की ओर से इन उपायो की माग की है

—निवारक निरोध अधिनियम, औद्योगिक सुरक्षा अधिनियम आदि जसे सभी निग्रहात्मक कानूनो को निरसित किया जाए।

—मजदूरो द्वारा की जानेवाली हडतालो और अन्य समर्थित सघर्षों को रोकने के लिए प्रतिबधात्मक आदेशो और सुरक्षा प्रक्रियाओ आदि का आश्रय लेने की प्रथा को बद कर दिया जाए।

१ 'भारत के राजनीतिक दल', नम्बूद्रिपाद पृष्ठ ६०

—मजदूरों और अन्य श्रमजीवी लोगों के संघर्ष के सिलसिले में पकड़े गए लोगों को मुक्त किया जाए और उन पर चलाए जा रहे मुकदमे वापस लिए जाएं।

—संविधान में निर्धारित मूल अधिकारों में आवश्यक सुधार किए जाएं, ताकि संसद और राज्य विधानमंडलों के लिए यह संभव हो सके कि वे विदेशी और भारतीय एकाधिकारवादियों, भूतपूर्व नरेशों, बड़े जमींदारों और समाज के अन्य उच्च वर्गीय लोगों की निजी संपत्ति के विरुद्ध विधान पास कर सकें, और इसके साथ ही ऐसे उपाय किए जा सकें जिनसे साधारण जन के लोकतांत्रिक अधिकारों को और भी अधिक सुदृढ़ किया जा सके ताकि भूमि संबंधी उत्पादन के साधनों और अन्य लघु संपत्ति संबंधी अधिकारों को अक्षुण्ण रखा जा सके, आदि।

संक्षेप में नम्बूद्रिपाद की राजनीति का उद्देश्य यह है कि लोगों में बढ़ते हुए व्यापक विक्षोभ और असंतोष को एक निश्चित दिशा प्रदान की जाए और इसे सत्तारूढ़ वर्गों के विरुद्ध किए जा रहे संयुक्त संघर्ष का अंग बनाया जाए।

नम्बूद्रिपाद का मूल संघर्ष गांधी जी और उनके 'वाद' से है। अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'गांधी जी और उनका वाद' में गांधीवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'गांधी जी आदर्शवादी थे, केवल इस अर्थ में ही नहीं कि उनका दर्शन दार्शनिक भौतिकवाद के विपरीत था, बल्कि इस अर्थ में भी आदर्शवादी थे कि उन्होंने अपने सामने कुछ ऐसे आदर्श निश्चित किए थे जिनका उन्होंने जीवन के अंत तक पालन किया। सत्य, अहिंसा, जीवन के सुखों का परित्याग, आदि जैसी नैतिक मूल्य मान्यताएं, स्वतंत्रता, जनतंत्र और शांति जैसे राजनीतिक आदर्श, जात पात के भेद का उन्मूलन, नारी की मुक्ति, सभी धार्मिक गुटों और संप्रदायों की एकता, आदि जैसे सामाजिक ध्येय—ये गांधी जी के जीवन और उनकी शिक्षा के अभिन्न अंग थे। दूसरी चीज यह है कि उनके आदर्शवाद ने गांवों की गरीब जनता को नींद से जगाने में बड़ा योग दिया। उनसे बात करने में गांधी जी धार्मिक शब्दावली का प्रयोग करते थे। वह सादा और आडंबरहीन जीवन बिताते थे और उनकी मांगों के लिए आवेगपूर्वक लड़ते थे। इस सबसे गांवों के करोड़ों गरीब लोग गांधी जी की ओर आकृष्ट हुए। वे उन्हें अवतार मानने लगे।

"सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रश्नों पर उनके विचारों को हम 'प्रतिक्रियावादी' मान सकते हैं (उनके अनेक विचार तो निर्विवाद रूप से प्रतिक्रियावादी थे)। लेकिन अगर हम इस बात को भूल जाएं तो बहुत बड़ी गलती करेंगे कि अपने इन 'प्रतिक्रियावादी' विचारों की बदौलत ही उन्होंने किसान जन-समुदाय और आधुनिक राष्ट्रीय जनवादी आन्दोलन के शहरी प्रतिनिधियों और नेताओं के बीच संपर्क कायम किया। यदि कोई कहे कि गांधी जी ने अपने

दूर वग और मेहनतकशों के अ य समुदायों के प्रति भी उनका रुख ऐसा था
स व्यवहारत पूजीवादी वग को सहायता मिली। ट्रस्टीशिप (न्यास) का
ा सिद्धात, राजनीतिक क्रिया कलाप क सचालन के लिए कतिपय नतिक
-मान्यताओं के पालन का उनका आग्रह, अपने गर-ससदीय कायक्लाप
नात्मक कायक्रम और सत्याग्रह) का अपने सहकारियो के ससदीय काय
प के साथ कुशलतापूवक मेल बठाना, शत्रु के विरुद्ध जनता का प्रत्यक्ष
ालन चलाते हुए उससे वातचीत भी करत जान का विशिष्ट सिद्धात ही
ावादी तरीका था। य सभी व्यवहारत पूजीवादी वग के लिए बडे उपयोगी
हुए क्योकि इनस (क) आम जनता साम्राज्य के विरुद्ध मदान म उतारी
और (ख) उस क्रातिकारी जन आदोलन शुरू करन स रोका गया।
ा का उभारन और साथ ही उस पर अकुश रखन की साम्राज्यवाद-
धी प्रत्यक्ष सघष छेडने और साथ ही साम्राज्यवादी शासको के साथ
ौता वार्ता चलात जान की गाधीजी की क्षमता ने उनको पूजीपति वग का
वाद नेता बना दिया। एस नेता म वग क सभी गुटो और समूहो को
ास था, इसीलिए वह इ ह एकताबद्ध और सक्रिय कर सकत थ।
" आखिरी बात यह है कि पूजीवादी वग के अग्रणी नता के रूप मे गाधी जी
ूमिका का यह अथ न समझ लेना चाहिए कि वह सदा और हर सवाल
ूजीपति वग क साथ रहत थे। बल्कि यह उनकी खूबी है, और उस वग
उसके वह मित्र, दाशनिक और पथ प्रदशक थे, खूबी है कि कई सवालो क
मे वह अल्पमत म होकर, बल्कि अकेले ही आवाज उठाते रहे। एस सभी
के लिए उनके और बाकी लोगो म यह आपसी समझौता था कि अस्थायी
ा वे अलग अलग मार्गो पर चलेंगे। यह चीज हमे बार बार देखन को
ी है। असहयोग आदोलन के बाद के वर्षो म (जब स्वराजियो और
रवतिवादियो मे श्रम विभाजन हो गया था), फिर १९३२-३३ के सविनय
आदोलन के वर्षो म इसके बाद कई बार ततीय विश्वयुद्ध के दिनो म,
प्रतन स्वतत्रता प्राप्ति के कुछ महीन पहले और उसक कुछ महीने बाद
वधियो मे हम उपरोक्त कथन की सत्यता देखन को मिलती है।
' उनके जीवन के अतिम दिनो म तो हम खास तौर से इस चीज को पाते
स समय उनका आदशवाद 'लौहपुरुष सरदार पटेल के व्यावहारिकता
के साथ टकराया था। उग्रवादी बुद्धिजीवी पडित नेहरू तथा कई अन्य
के आधुनिकतावाद क साथ उसकी टक्कर हुई थी। आजादी के बाद के
म उनके सहकर्मियो के बीच बढती हुई खाई ने उनके जीवन को दुखद

कि कतिपय नतिक मूल्य मान्यताओं के बारे म गाधी जी का आग्रह एक समय म पूजीपति वग के लिए काम की चीज थी, लेकिन उनके जीवन के अंतिम दिना म वह उनके राह का रोडा बन गया था।

" जिन दिनो पूजीपति वग को एक साथ दो मोर्चों पर लडना पड रहा था, यानी एक ओर साम्राज्यवाद स लडना पड रहा था और दूसरी ओर साम्राज्यवाद से लडन के लिए शहरी और देहाती गरीब जनता को मदान म लाते हुए इस जनता म उभरती क्रातिकारी काय की प्रवृत्ति से लडना पड रहा था, उस समय गाधीजी द्वारा आविष्कृत अहिंसात्मक प्रतिरोध की कायविधि पूजीपति वग के लिए अत्यत उपयोगी सिद्ध हुई। पर साम्राज्यवाद विरोधी सघष के सफल हो जान यानी पूजीवादियो और उनके वग मित्रो के राज्यसत्ता प्राप्त कर लेन के बाद दो मोर्चों पर लडन की आवश्यकता नही रह गई। अगर साम्राज्यवाद से अब भी भिडना हो तो यह काम राज्य के स्तर पर किया जा सकता था। इसके लिए आम जनता को मदान म लान की जरूरत नही रह गई। इसके अलावा राज्यसत्ता चूकि पूजीपति वग के हाथ म आ गई थी और इसका इस्तेमाल अपने वग हितो के लिए करना था, इसलिए इस वग और उसके राज्य तत्र की आम जनता से अधिकाधिक टक्करें होन लगी। सत्ता-प्राप्ति का दूसरा परिणाम यह हुआ कि पूजीपति वग के सत्तारूढ व्यक्तिगत प्रतिनिधि (मत्री ससद-सदस्य और विधान सभा के सदस्य, आदि) राज्य एव जनता के मत्थे अपने मित्रो, रिश्तेदारो और लगुओ भगुओ के घर भरने लगे। अत व भाति भाति के भ्रष्टाचारपूण तरीके अपनान लगे।

" वग के रूप मे पूजीवादियो और उनके व्यक्तिगत प्रतिनिधियो की स्थिति मे आ जानेवाल इस परिवतन ने गाधी जी के साथ टकराव पदा किया, क्योकि गाधी जी अब भी उन आदर्शों से चिपके हुए थे जिनका उन्होने साम्राज्यवाद विरोधी सघष के दिनो म प्रचार किया था।

' अत हम कह सकते हैं कि गाधी जी इसलिए राष्ट्रपिता बने कि उनका आदशवाद साम्राज्यवाद विरोध सघष के दिनो मे पूजीपति वग के हाथो म एक व्यवहाय और उपयोगी राजनीतिक हथियार था। वह जीवन के अंतिम दिनो मे पूजीपति वग से कमोवश अलग थलग हो गए, क्योकि स्वतत्रता के बाद के काल म उनका आदशवाद पूजीपति वग के स्वाथ की राह का रोडा बन गया था।"

नम्बूद्रिपाद न अपनी बातें, अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए इस तरह गाधी वाद का सहारा क्यो लिया? क्या ये अपनी बात स्वतत्र रूप से नही कह सकते थे? इसलिए कि गाधी एक ऐसे व्यक्ति थे कि उन्हे तोड मरोडकर कोई अपनी इच्छानुसार कुछ भी कह सकता था—उनम इतनी गुजाइश थी, और आज भी है। लेकिन नम्बूद्रिपाद न गाधीवाद को सही परिप्रक्ष्य म दखन का प्रयास किया।

भारत के समूचे साम्यवादी आदोलन की प्रेरणा भूमि सदव विदश रहा है —रूस म लकर चीन तक, और इसका द्वद्व मदव अपन आपसे या और सघप था गाधी म। तभी इसम दो फल लगत रहे—पहला फूट' का फल और दूसरा आत्मविश्वास हीनता का फल। फूट के फल स अब तक एक स तीन साम्यवादी दल हमारे सामने है और हर दल दूसरे को दक्षिणपथी और प्रतिक्रियावादी मानता है। इस क्रम म यदि नम्बूद्रिपाद न गाधी को प्रतिक्रियावादी, पूजीवादी वग का वैचारिक प्रतिनिधि और क्राति का विरोधी आदि कहा तो कोई आश्चय नही।

आत्मविश्वास हीनता के फल स इ हे यह अधविश्वास मिला कि परिवतन का आधार जनता या व्यक्ति नही बल्कि राज्य है। मूल शक्ति बाहर है—परिस्थिति म, भीतर कही कुछ नही है।

ठीक इसके विपरीत गाधी न सपूण आत्मविश्वास के साथ देखा था कि राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद अहिंसक समाज का निर्माण करके राज्य को अधिक-से अधिक अहिंसक वत्ति स चलाना, यही भारत की मुख्य समस्या है। इस देश म प्रगति करने की इच्छा रखन वाल राज्य का निर्माण आर्थिक समता के आधार पर ही होना चाहिए—इसक बारे म गाधी को जरा भी सदह नही था। अपने अनुयायियो को उ होन यह साफ कह दिया था कि जब तक आर्थिक समता के आधार पर समाज नही बनता है तब तक अहिंसक समाज तथा 'अहिंसक राज्य' जस शब्दो का कोई मतलब ही नही है।

गाधी न २६ माच १९३१ के 'यग इडिया' मे साम्यवादियो स दो शब्द कहत हुए लिखा है कि "आप साम्यवादी होन का दावा करत हैं परतु साम्य वादी जीवन व्यतीत करत दिखाई नही दत। मैं आपको बता दू कि साम्यवाद शब्द के उत्तम अथ म मैं उसके आदश के अनुसार जीन का भरसक प्रयत्न कर रहा हू। यदि आप देश को अपन साथ ल चलना चाहत है, तो आपम देश का समझा बुझाकर उस पर असर डालन की योग्यता होनी चाहिए। मरी आपसे विनती है कि अपनी बुद्धि पर ताला न लगाइए।"[1]

दरअसल इसी गाधी स नम्बूद्रिपाद और मावसवाद का तीव्र विरोध है। यह एक अजब सयोग है कि एक व्यक्ति पर मार्क्सवाद का ताला जहा एक बार लग गया वह उसी म बद होकर उसी के अनुरूप देखन लगा। इसका फल यह हुआ है कि एक ओर इनका सघष अपन ही दल स है और दूसरी ओर इनका आत्मविरोध गाधी स है। इसी का परिणाम है कि मौलिक रूप स न य भारत की सच्चाइया दख पात हैं न भारतीय जन मानस की कोई सही पहचान द

वाह्य परिस्थितियो म जो परिवतन होते हैं उसका असर समाज के विचारा पर अपन आप हो जाता है, तो फिर इस कभी दखा' नही कि क्या यह भारत के लिए सच भी है। अगर य भारतीय समाज की खास मानसिक अवस्था व उसके सास्कृतिक विकास का अध्ययन करत तो इन्ह पता चलता कि हमारे समाज ने सदियो स अपनी सामाजिक विचारधारा म बुद्धिपूवक परिवतन लाना छोड दिया है। इस समाज की वाह्य परिस्थितिया म चाह जितने परिवतन हो जाए, लकिन समझ-बूझकर वह अपन विचारो म परिवतन नही करता। नई परिस्थिति के अनुकूल वह नए विचार पदा नही करता, न औरा स वह स्वीकार करता है। पुरान विचारा स चिपके रहन की उसकी प्रवत्ति है। यह भारतीय समाज की मानसिक जडता है। इस तोडन क लिए उसके अन करण म चत य पदा करनेवाले व्यक्ति की यहा जरूरत है। राजा राममोहन राय स लेकर टगार और गाधी तक यही सगुण प्रयत्न हुआ है। 'अनासक्त बुद्धि के निष्काम कमयोगी' की अनिवायता है यहा। क्योकि सच्चाई यह है कि हमारे समाज की मानसिक अवस्था यूरोप के मध्ययुगीन या उसस भी पहले के समाज की मानसिक अवस्था जैसी है। यहा के लागा ने अभी आधुनिक यूरोप की सर्वांगीण सामाजिक क्राति की कल्पना या ध्ययो का रहस्य और महत्त्व अभी तक वास्तविक रूप म नहीं समझा है। एसे समाज मे क्राति लाने की इच्छा रखने वाल श्री नम्बूद्रिपाद को यह ध्यान म रखना चाहिए कि समाज के उद्धार म वाह्य परिस्थितिया की अपेक्षा उसकी पिछडी विचारधारा व विकृत भावनाए ही मूल बाधा पहुचाती है।

'गाधी जी और उनका वाद' के लेखक श्री नम्बूद्रिपाद को यह याद रखना चाहिए कि पश्चिमी यूरोप के दशा म राष्ट्रीयता के साथ साथ जनतत्र और उद्योगवाद का जन्म हुआ था। यह राष्ट्रीयता ससार के लिए एक नई वस्तु थी। राज्य और शासनतत्र के स्थान पर इसने राष्ट्र और जनता की प्रतिष्ठा की। जब तक जनता का प्रभुत्व स्थापित नही हुआ अर्थात जब तक राजा और प्रजा का सबध नही बदला तब तक आधुनिक युग की राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा न हो सकी। यह राष्ट्रीयता व्यक्ति के मूल्य और मानवता की एकता म विश्वास करती थी। स्वतन्त्रता इसका बीज मत्र था। इसन जनता का ध्यान राज दरबारो स हटाकर जनता के जीवन, उसकी भाषा और कला पर केंद्रित किया। उन्होन यह प्रयत्न किया कि जन साधारण को जो प्रेरणा प्राचीन काल म धम स मिलती थी वह नए युग म राष्ट्रीयता से मिले। राष्ट्रीयता मान अपने बीज' अपनी धरती के मूल स उगना। परतु यही मूल बात भारतीय साम्यवादियो के लिए 'प्रतिक्रियावाद है।

जब एक विचार एक देश म सफल होता है और नई अथनीति और राज नीति मे परिणत होता है तब अन्य देशा म स्थिति के परिपक्व न होने पर भी

वह विचार फैलने लगता है। और यदि वहा का राजनीतिक जीवन कमजोर है और अर्थनीति नही बदलती है तो इस राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति सास्कृतिक क्षेत्र मे होती है। भारत म ठीक यही हुआ है—इसे देखना चाहिए।

जा व्यक्ति पक्षपात और आग्रह के बिना विचार कर सकता है और अपन समय स ऊपर उठ सकता है, उसकी मातृभूमि कहीं भी नहीं है और सवत्र है—यह है भारत की राष्ट्रीयता की सास्कृतिक अभिव्यक्ति। यह मभ्यता के शाश्वत मूल्य की खोज म और उसकी प्रतिष्ठा म तत्पर है।

भारत मे मावसवाद का योग क्या हा सकता है, इसका प्रसग क्या है, इसका उत्तर अब तक केवल आचाय नरेंद्र दव ने दिया है। काश, उस नम्बूद्रिपाद जस मावसवादियो ने देखा होता

भारत की मनीषा और लक्ष्य आध्यात्मिक और सास्कृतिक क्षत्र म है, राजनीतिक क्षेत्र मे नहीं। हमारी क्राति की परिभाषा है स्वधम को प्राप्त कर लेना और स्वधम का फल है स्वतत्र हो जाना।

तेरहवा अध्याय

राजनीति से राष्ट्रीयता
दीनदयाल उपाध्याय

तिलक गोखले, टैगोर, अरविंद, गाधी, सुभाषचद्र बोस, जयप्रकाश, डा० लोहिया न यहा राष्ट्रीयता को विशेष रूप से फैलाया किंतु उसका भाव अ राजनीतिक था। सामा य 'जन' और उसकी भाषा उस राष्ट्रीयता के प्राण थे। य पुरुष राज्य को कृत्रिम और आगतुक मानते हैं। राज्य के ठीक विपरीत राष्ट्रीयता एक स्वाभाविक, सहज और मौलिक भाव है। इन पुरुषो न राष्ट्रीय जन समाज को मानव और 'व्यक्ति' के बीच की एक महत्त्वपूण कडी माना है। और यह भी माना है कि यह समाज राजनीतिक न होकर सास्कृतिक और आध्यात्मिक है। राष्ट्र देश काल और स्वभाव के अनुसार एक दूसरे स भिन्न होते हैं। प्रत्येक का अपना मापदड होता है। प्रत्येक राष्ट्र समान रूप से पवित्र है। स्वतत्र है। अत उसकी रक्षा होनी चाहिए।

औद्योगिक युग म आते आत राष्ट्रीयता के राजनीतिक स्वरूप की स्वीकृति के फलस्वरूप साम्राज्यो का सगठन हुआ। धीरे धीरे एशिया और अफ्रीका के अनक देश यूरोप के अधीन हो गए। यूरोपीय पूजीवाद का प्रभुत्व सारे ससार पर स्थापित हो गया। भारत म अग्रेजी राज १९वी सदी मे स्थापित हुआ। मुगल साम्राज्य के छिन्न भिन्न होने पर मराठा और सिखा न अपन अपने राज्य स्थापित किए, किंतु अतत अग्रेजा न इ ह हराकर सारे भारत देश को हथिया लिया। आरभ म ईस्ट इडिया कपनी भारतीय जीवन म हस्तक्षेप नही करती थी। उसन केवल जमीन की व्यवस्था मे अदल-बदल किया था। यहा तक कि वह पादरियो को ईसाइ धम का प्रचार नही करने देती थी। जो अग्रेज यहा आते थे व यहा किसी तरह की जायदाद भी नही खरीद सकत थे और यहा बस नही सकत थे। मौलवी और पडित मुकदमो का फैसला करते थे और कपनी की ओर से सस्कृत, अरबी और फारसी की शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। कपनी के अधिकारी डरत थे कि यहा के सामाजिक जीवन म हस्तक्षेप किया नही कि यहा राष्ट्रीय भावना उदित होन लगेगी। उस राष्ट्रीय भाव से यह इतना बिखरा टूटा देश एकता की डार म बध जाएगा और अपने

वतमान पतन, पराजय को पार कर यह अपने महान अतीत से प्रेरणा लेकर अग्रेजो के खिलाफ उठ खडा होगा। इसलिए अग्रेजो ने उस समय के भारत का उसी की कीमत पर बडे आराम और शान म शोषण किया।

किंतु लार्ड बेंटिक के समय से राजकाज की भाषा अग्रेजी हो गई। पादरियो को ईसाई धम का प्रचार करने की स्वतत्रता मिल गई और अग्रेजी शिक्षा का प्रसार होने लगा। इसी के फलस्वरूप जिस राष्ट्रीयता का राजनीतिक प्रभाव सारे यूरोप म फला था, भारत का नव शिक्षित वग उसके सीधे सपक म आ गया। इस तरह पहली बार राष्ट्रीयता का राजनीतिक रूप भारतीयो के सामने आया। फलत राज्य और राष्ट्रीयता एकाकार हो गए तथा राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आदोलनो की शुरुआत हुई। एक लबे अधकार युग के बाद नवजागरण का युग शुरू हुआ। ब्रह्म समाज, दव समाज और प्राथना समाज इसी के फल थे। यह उल्लेखनीय है कि अग्रेज शासको की दृष्टि अपेक्षाकृत आधुनिक थी और व यहा की सामाजिक कुरीतियो को दूर करना चाहते थे। यही कारण है कि काग्रेस के पुराने नेता प्राय समाज सुधार के कार्यों मे दिलचस्पी लेते थे। उनका अग्रेजो के शुभ मतव्यो मे विश्वास था और वे यह भी समझते थे कि व उनसे लडकर कुछ भी नही पा सकते।

सन १८५७ म जो विद्रोह हुआ, उसम जनता ने खुलकर भाग नही लिया। मूलत वह सिपाही विद्रोह था और उसका नेतत्व एक ओर अतिम मुगल बादशाह और दूसरी ओर हिंदू मराठे राजाओ ने किया। मुगल बादशाहो ने स्वप्न देखा कि इस तरह उनकी बादशाही फिर वापस मिल जाएगी। इसी तरह हिंदू और मराठे राजाओ ने स्वप्न देखा था कि उनका राज्य उन्हे वापस मिल जाएगा। मुसलमानी राज्य, हिंदू राज्य, ये दो समानातर स्वप्न यहा देखे जाने शुरू हुए। और यही से अग्रेजो की राजनीति शुरू हुई। अग्रेजो का राज्य और उनकी राजनीति भारतीयो की राष्ट्रीयता और राजनीति—इस प्रकार परस्पर सघष आरभ हुआ। सन १८५७ का विद्रोह यदि सफल हुआ होता तो क्या जनतत्र की स्थापना होती? बिल्कुल नही। वही सामतशाही फिर वापस लौटती या फिर से किसी न किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र की अधीनता म भारत आ जाता क्योकि तब तक हमारे समय और समाज मे स्वतत्रता और समानता के नए भाव नही जनमे थे—जिनका जन्म हमेशा जन आदोलन से ही होता है।

१९०३ ४ म जब जापान ने रूस का पराजित किया तब एशिया म जागति के चिह्न दिखाई दने लगे। खोया हुआ आत्मविश्वास वापस आने लगा। भारत की राजनीति बदलने लगी और काग्रेस मे दो दल हो गए। नया दल (गरम दल) राजनीति म उग्र था किंतु सामाजिक क्षत्र म उतना प्रगतिशील न था। यह वह समय था जब नवजागरण की तेज लहरो के छींटे पूरे देश पर पड रहे थे। भारत के प्राचीन गौरव का बडी तीव्रता म बोध हो रहा था। नए दल

के नेता बाल, पाल, लाल, सावरकर आदि इसलिए भी पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे कि जिससे वे देश की पुरानी संस्कृति को फिर से जिंदा कर सकें। उन्होंने राजनीतिक आंदोलन को सबसे अधिक महत्त्व दिया। इस परिवेश में जब गांधी जी का प्रवेश हुआ अर्थात जब गांधी युग आया तब सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का फिर से प्रयत्न कांग्रेसजन की ओर से आरंभ हुआ। गांधी ने स्वतंत्रता के साथ समानता को कांग्रेस के विधान को जनतांत्रिक बनाकर जनता में जनतंत्र का प्रचार किया और एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का सूत्रपात किया। जनता में, पूरे देश में स्वतंत्रता के साथ समानता का भाव फैलने लगा और राष्ट्रीय आन्दोलन में बहुसंख्यक लोग नई आशा लेकर सम्मिलित होने लगे। एक बड़ी महत्वपूर्ण और स्मरण रखने योग्य बात यह है कि गांधी ने राजनीति के साथ धर्म को एकाकार किया क्योंकि जनता और देश को जगाने और बात करने का और कोई माध्यम ही नहीं था। गांधी के प्रभाव के कारण लोग सब बातों में स्वदेशी होने लगे फलतः पश्चिम की तरफ खुली हमारी मानस की खिड़की धीरे धीरे बंद हो गई। पश्चिम के नए आंदोलनों से हमारा संपर्क बहुत कम हो गया। एक राष्ट्रकर्मी के लिए यह पर्याप्त समझा जाने लगा कि वह रचनात्मक कार्य करता है और देश की स्वतंत्रता के लिए सत्याग्रह के आंदोलन में भाग लेने को तैयार है। संसार के इतिहास तथा अर्थनीति का अध्ययन करने की उसे कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।

मानसिक नींद और रोमांटिक सपने के इसी समय में अंग्रेज अपनी राजनीति की बाजी मार ले गए। वे इस राष्ट्र के मुसलमानों को, हरिजनों को राष्ट्रीय धारा से अलग तोड़ ले जाने में सफल हो गए। मुसलमान अपने आप को हिंदुओं से अलग राष्ट्र समझने लगा। चूंकि राष्ट्रीयता की कोई एक व्याख्या संभव नहीं है, इसलिए अंततोगत्वा यह मानना पड़ता है कि यदि कोई समुदाय अपने को दूसरों से पृथक मानने लगे और अपनी एकता का तीव्र अनुभव करने लगे तो वह एक 'राष्ट्र' का रूप धारण कर लेता है। भारत में यही हुआ। यह कहना ठीक नहीं होगा कि मुस्लिम लीग के साथ अधिकांश मुसलमान नहीं थे और श्री जिन्ना ही केवल अंग्रेजों के एजेंट थे। बंटवारा जरूर देश के आधार पर हुआ न कि धर्म के आधार पर, लेकिन यह स्पष्ट है कि पाकिस्तान के आंदोलन के मूल में इस्लाम धर्म ही था और यह भाव था कि हिंदू और मुसलमान सब बातों में एक दूसरे से भिन्न हैं। हिंदू राष्ट्रीयता बनाम मुसलमानी राष्ट्रीयता की सच्चाई यही है कि मुसलमान अपने को 'पाक' समझने लगा और हिंदू को नापाक तथा हिंदू अपने आपको पवित्र समझने लगा और मुसलमान को अपवित्र।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर० एस० एस०) के संस्थापक डा० केशवराव बलिराम हेडगेवार ने, जिन्होंने १९२१ और १९३० के असहयोग आंदोलन में

सक्रिय भाग लिया था तभी बडी गहराई से यह महसूस किया कि हमारे राष्ट्रीय जीवन म ही कोई बुनियादी कमी आ गई है, जिसके कारण हम इस तरह पराधीनता का मुह देखना पडा है। डा० हेडगवार ने इसके ऐतिहासिक कारणो पर विचार किया और इस नतीजे पर पहुचे कि राष्ट्रीय चतना का अभाव ही हमारे पतन का मुख्य कारण है। डा० हेडगवार ने यह भी महसूस किया कि समाज म राष्ट्रीय चेतना जगाने तथा एकता और चरित्र निर्माण के काय का आधार इस देश की प्राचीन उदात्त सस्कृति ही हो सकती है। यह एक एतिहासिक सत्य है कि अपने सास्कृतिक मूल्यो के साथ हिंदू जीवन सदियो पुरानी अपनी राष्ट्रीयता का आधार रहा है। हिंदू सपूर्ण मानवता के कल्याण की कामना लेकर चलता है और इससे कम का आदश उसे कभी सतोष और समाधान नही दे सकता। " हिंदू शब्द 'अग्रेज' की तरह ही है। अग्रेज शब्द से वास्तव म हमे उस व्यक्ति का बोध होता है जिसम इगलैड के राष्ट्रीय जीवन की मुख्य विशेषताओ की अभिव्यक्ति मिलती है। इसी प्रकार हिंदू शब्द उस व्यक्ति के ब्राह्मण, ईश्वर, उपासना पथ आदि के सबध के विचारो का बोध नही कराता, अपितु एसे व्यक्ति का बोध कराता है जिसम उसके जीवन की विशेषताओ की अभिव्यक्ति हुई है। उसके धम मजहब, धार्मिक मत, सप्रदाय आदि से इसका कोई सबध नही है। ईसाइ अथवा इस्लाम से जहा एक धम, एक सप्रदाय का बोध होता है वहा हिंदू शब्द से राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय सस्कृति का बोध होता है। राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ ने राष्ट्रीय पुनर्जागरण और सगठन का काम उन्ही लोगो के बीच शुरू किया जिन्हे हम हिंदू कहते हैं, क्योकि उनम राष्ट्रीय चेतना जागृत करना ज्यादा आसान था।[१]

डा० हेडगवार के इन विचारो और उनके उत्कट देशप्रेम तथा अपनी सस्कृति और उसके आदर्शो के प्रति गहरी निष्ठा का ही परिणाम था कि १९२५ म विजयादशमी के दिन राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ आर० एस० एस० की स्थापना हुइ। १९२५ से १९४० तक डा० हेडगेवार ने अपनी सारी शक्ति राष्ट्रीय पुनरुत्थान के इस सास्कृतिक सगठन के विस्तार मे लगाई। १९४० मे उनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के पूव उन्होने इस सगठन का काय भार श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर (श्री गुरुजी) को सौंप दिया था। गुरुजी ने अपनी ततीस वर्षो की अहर्निश साधना और गहन कम के फलस्वरूप इस सगठन को राष्ट्रीय स्तर और क्षेत्र दिया।

इसी परिवेश मे दीनदयाल उपाध्याय की भूमिका प्रारभ होती है। राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के प्रचारक के नाते उपाध्याय जी १९४२ म लखीमपुर जिले म नियुक्त हुए। तीन वष के कायकाल मे ही वे उत्तर प्रदेश म राष्ट्रीय स्वय-

१ राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ' सुरुचि साहित्य प्रकाशन पृष्ठ ८९

सेवक सघ के सह प्रातप्रचारक वन गए। सन १९५१ म जनसघ के निर्माण तक वे इसी क्षेत्र म इसी दायित्व से काय करते रह।

भारतीय जनसघ की स्थापना के अवसर पर नई दिल्ली मे २१ अक्तूबर १९५१ को आयोजित अधिवेशन मे अध्यक्ष पद स डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी द्वारा प्रस्तुत घोषणापत्र (भाषण) के अनुसार भारत की राजनीति म काग्रेस की राष्ट्र विघान की अदूरदर्शी नीतियो क फलस्वरूप पाकिस्तान का निर्माण होने के वाद काग्रेस म सत्ता की राजनीति की दौड शुरू हुई। देश के आर्थिक सामाजिक, शैक्षणिक, औद्योगिक सभी क्षेत्रो म गिरावट क आसार प्रकट होन लगे। ऐस क्षणो म राजनीतिक क्षत्र मे नए नतृत्व की आवश्यकता बडी तीव्रता मे महसूस की गई। इसी आवश्यकता की पूर्ति म जव १९५१ म डा० मुखर्जी के नेतत्व मे अखिल भारतीय जनसघ की स्थापना का विचार किया जा रहा था तव दीनदयाल उपाध्याय न २१ सितवर १९५१ को लखनऊ म प्रान्तिक सम्मेलन बुलाकर प्रदश जनसघ की स्थापना की। १९५२ म जनसघ का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन कानपुर म हुआ। इसी अधिवशन मे उपाध्याय जी को जनसघ क अखिल भारतीय महामत्री का पद सौपा गया जिसे उन्होन जनसघ के कालीकट अधिवशन (१९६७) तक बडी सफलता के साथ निभाया। इनके नेतत्व म भारतीय जनसघ काग्रेस के पश्चात दूसरे राजनीतिक दल के रूप मे सामने आया।

उपाध्याय जी मूलत विचारक थे। इनके मौलिक विचारो को देखकर इन्ह तिलक गाधी और लोहिया के क्रम म रखा जा सकता है। राष्ट्रीयता' भारतीय राजनीति, प्रजातन्त्र और 'अथ नीति के बारे मे इनके विचार मौलिक तो हैं ही साथ ही अत्यत महत्त्वपूण और व्यावहारिक है। इनके विचार इनकी बुद्धि के फल नही हैं वरन इनकी आस्था और 'चिति' या चित्त के फल हैं। इनके विचार शुद्ध रूप स भारत की माटी स इसके 'स्व से निकले है।

इन्ह पढकर, देखकर और सुनकर भारत के सामरिक इतिहास म क्राति लाने वाले दो पुरुषो के युग की याद आती है। एक वह कि जब जगदगुरु शकराचाय सनातन धम का सदेश लेकर देश म व्याप्त अनाचार समाप्त करने निकले थे और दूसरा वह कि जव शुद्ध भारतीय अथशास्त्र धारणा का उत्तरदायित्व लेकर सघ राज्यो (रिपब्लिक्स्) म विखरी राष्ट्रीय शक्ति को सगठित कर एक भारतीय साम्राज्य की स्थापना करने चाणक्य चले थे।

आधुनिक भारतीय राजनीति और उसस सवधित विचार और अनेक अवधारणाओ पर प्राय विदेशी धारणाओ की छाया या प्रभाव मिलता है। साथ ही इस क्षेत्र म मानव सवधी अधूरे और अपुष्ट विचारा को हम देखत हैं—जैसे वह केवल बुद्धिविलास हो या अहकार दिखान के उद्देश्य से हो। इस सबस अलग, सवथा सकल्प के स्तर से उपाध्याय जी के विचार सुपुष्ट

भारतीय दृष्टिकोण का नए सिरे से सूत्रबद्ध करते हुए पूरे आत्मविश्वास के साथ हमारे सामने आए। इनका 'एकात्म मानववाद' इस प्रसंग में सदा उल्लेखनीय रहेगा। इसमें नए भारतवर्ष को रचने और यहां के 'व्यक्ति' का मानव बनने में रचने के अपने व्यावहारिक उपाय हैं। भारत के आधुनिक स्व से लेकर राजनीतिक स्व तक का व्यक्ति से लेकर राष्ट्रीयता तक का इन्होंने अदम्य आत्मविश्वास और निर्भीकता से देखा और परखा है।

राष्ट्रीयता की यह अवधारणा आज कितनी मूल्यवान है जबकि हम देखते हैं कि व्यक्तिवादी संगठित शक्ति नहीं बना पाते। केवल राष्ट्रीयता का भाव ही शक्ति का मार्ग है। यह सामूहिक भाव अर्थात राष्ट्रीयता ही वह कसौटी है जिस पर हमारी प्रत्येक कृति, प्रत्येक व्यवस्था ठीक या गलत गिनी जाएगी। उदाहरण के लिए प्रजातंत्र में प्राप्त नागरिकों के अधिकारों को ही लें। वोट का अधिकार है। वोट देते समय यदि राष्ट्र का विचार रहा तो धर्म होगा और यदि व्यक्तिगत विचार से प्रेरित होकर मतदान हुआ तो अधर्म हो जाएगा। राष्ट्रीयता यदि ठीक है तो सब व्यवस्था ठीक गिनी जाएगी और यदि राष्ट्रीयता के विपरीत कार्य हुआ तो श्रेष्ठ व्यवस्था भी गलत सिद्ध होगी। जो लोग राष्ट्रीयता का मखौल उड़ाकर राष्ट्र के विचारों को तिलांजलि देकर विभिन्न प्रकार के 'वादों' के नारों में उलझते हैं वास्तव में वे भूल करते हैं। उनके हाथ से कोई अच्छा कार्य नहीं हो सकता। समाजवाद, पूंजीवाद, प्रजातंत्र अथवा अन्य कोई भी वाद अधिक से अधिक एक रास्ता है, प्रगति का आधार नहीं। व्यक्तिगत, दलगत या वादगत कोई विचार लेकर चलने से प्रगति नहीं हो सकती। राजनीति आखिर राष्ट्र के लिए ही है। यदि राष्ट्र का विचार छोड़ दिया, यानी राष्ट्र की अस्मिता उसके इतिहास, संस्कृति सभ्यता को छोड़ दिया तो राजनीति का क्या उपयोग? राष्ट्र का स्मरण कर कार्य होगा तो सबका मूल्य बढ़ेगा।

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उपाध्याय जी के विचारों में 'मैं' नाम की कोई सत्ता नहीं है। उनका विश्वास है कि व्यक्तिभाव जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व रहता है परम आवश्यक है। मैं के अनुष्ठान से अर्थात व्यक्तिवाद से 'व्यक्ति' के कष्ट दूर किए जाते हैं पर समष्टिवाद से अमरत्व की प्राप्ति होती है। संघ बनाकर उठना ही प्रगति का रास्ता है। एकात्म मानववाद के सिद्धांत का प्रतिपादन कर उपाध्याय जी ने आधुनिक राजनीति, अर्थ व्यवस्था तथा समाज रचना के लिए एक चतुरंगी भारतीय भूमि तैयार की है।

एकात्म मानववाद तक पहुंचने से पूर्व उपाध्याय जी ने क्रमशः राष्ट्र और राज्य, राष्ट्र का स्वरूप, चिति और भारतीय अर्थनीति पर जो सांचा विचारा है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'राष्ट्र जीवन की दिशा' में विचार किया है कि राष्ट्र और राज्य दो अलग अलग सत्ताएं हैं।

राष्ट्र एक जीवनमान इकाई है। शताब्दिया लव कालखड म इसका विकास होता है। किसी निश्चित भूभाग म निवास करनेवाला मानव-समुदाय जब उस भूमि के साथ तादात्म्य का अनुभव करन लगता है, जीवन के विशिष्ट गुणो का आचरित करता हुआ समान परपरा और महत्त्वाकाक्षाआ से युक्त होता है, सुख-दुख की समान स्मृतिया और शत्रु मित्र की समान अनुभूतिया प्राप्त कर परस्पर हित सत्रय म ग्रथित हाता है, सगठित होकर अपन श्रेष्ठ जीवन मूल्यो की स्थापना के लिए सचेष्ट होता है, और इस परपरा का निर्वाह करनेवाल तथा उस अधिकाधिक तजस्वी बनाने के लिए महान तप, त्याग, परिश्रम करनेवाले महापुरुषा की शृखला का निमाण हाता है तब पृथ्वी के अन्य मानव समुदाया स भिन्न एक सास्कृतिक जीवन प्रकट हाता है। इस भावात्मक स्वरूप को ही राष्ट्र कहा जाता है। जब तक यह राष्ट्रीय अस्मिता बनी रहती है राष्ट्र जीवित रहता है। इसके क्षीण होन स राष्ट्र क्षीण हाता है।

इस प्रकार राष्ट्र' एक स्थायी सत्य है। राष्ट्र की आवश्यकताआ का पूण करने क लिए राज्य' पदा हाता है। 'राज्य' की उत्पत्ति के दा कारण बताए जात हैं। यान राज्य' की आवश्यकता दा स्थितिया म होती है। पहली आवश्यकता तब होती है जब राष्ट्र के लागा म कोई विकृति आ जाय। उसके कारण उत्पन्न समस्याआ का नियमन करने के लिए राज्य उपस्थित किया जाता है। इस तरह राज्य बदला जा सकता है किंतु कोई भी प्रजातत्र राष्ट्र को नही बदल सकता। राष्ट्र की एक स्वयभू सत्ता है। वह स्वय प्रकट होती है और अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रो म विभिन्न इकाइयो की स्थापना करता है। ये विभिन्न इकाइया जिनम 'राज्य भी एक है, परस्पर अनुकूल होकर काय करें और राष्ट्र की शक्ति को मजबूत करने के लिए अथक प्रयत्नशील हा, इसके लिए आवश्यक है कि राष्ट्र को सदव जाग्रत रखा जाए। राष्ट्र के सुप्त होने स ही सब प्रकार की खराबिया घर करती हैं।

राष्ट्र के वास्तविक स्वरूप की मूल पहचान के लिए उपाध्याय जी ने राष्ट्र के मूल तत्त्व 'चिति' की महत्त्वपूण खोज की है। 'चिति के आविर्भाव स राष्ट्र का उदय होता है राष्ट्र की धारणा होती है और जिसके क्षीण पडने से राष्ट्र नष्ट हा जाता है। राष्ट्र की प्रकृति, राष्ट्र का 'स्व, इस ही उपाध्याय जी ने चिति की सज्ञा दी है। यही वह मापदड है जिसस हर वस्तु का मान्य अथवा अमान्य किया जाना है। चिति एक तरह स राष्ट्र का जीवन मूल्य है।

इस सदभ मे इनका जन' सबधी विचार महत्त्वपूण है। यद्यपि जन' शब्द का व्यवहार डा० लोहिया ने बडी आस्था से किया। 'जन नामक पत्रिका भी निकाली। पर जन की सही अथवत्ता के विषय म उपाध्याय जी न सोचा, राष्ट्र' स जिस समूह का बोध होता है, उस हम एक जन' कहते है। किंतु

'जन' एक जीवमान इकाई है। जिस प्रकार व्यक्ति पैदा होता है, बनाया नहीं जाता, उसी प्रकार 'जन' भी एक स्वतंत्र स्वयभू सत्ता है।

यही 'जन' अपनी मूल प्रकृति के पोषण के लिए किसी भूमिखड से सबधित होता है। उस भूमिखड से उसका सबध मा और पुत्र के समान रहता है। यह सबध महत्त्वपूर्ण है अन्यथा केवल किसी भूमि को केवल 'कालोनी' समझकर, और भूमि से केवल उपभोग का सबध रखकर कोई वहा का 'जन' या 'लोक' नहीं हो सकता। अंग्रेज इस सच्चाई को भली भांति समझते थे, इसलिए उन्होंने भारत के इस 'एक जन' भाव को नष्ट करने के लिए भारत को 'इडिया' कहना शुरू किया। उनकी यह चाल कितनी सफल हुई है, 'यह तो इसी बात से स्पष्ट है कि हम अपने सविधान में 'इडिया दैट इज भारत' हो गए हैं। दरअसल अंग्रेज की चाल ही यही थी कि इस धरती से यहा के जन का, जन और जननी सबधी बोध समाप्त हो जाय। पर ऐसा नहीं हुआ। हमारे राष्ट्रीय सग्राम का आधार 'भारत माता की जय' रहा। यही भारत मा हमारी राष्ट्रीयता का आधार है। माता शब्द हटा दीजिए तो भारत केवल जमीन का टुकडा मात्र रह जाएगा। इस भूमि का और हमारा ममत्व तब आता है जब माता वाला सबध जुडता है। कोई भी भूमि तब तक देश नहीं कहला सकती, जब तक कि उसमें किसी जाति का मातृक ममत्व, याने ऐसा ममत्व जैसा पुत्र का माता के प्रति होता है, न हो। यही देशभक्ति है अस्तु राष्ट्र का स्वरूप इस 'एक जन' की सामूहिक मूल प्रकृति द्वारा निर्धारित होता है। यही 'चिति' है। जिन जीवन मूल्यो को चरितार्थ करने के लिए राष्ट्र का आविर्भाव हुआ है उनका पालन होते रहने तक 'चिति' विद्यमान रहती है। राष्ट्र में चैतन्य बना रहता है।[1]

'चिति' के आगे उपाध्याय जी ने 'विराट' का विचार किया है। विराट राष्ट्र की वह कर्मशक्ति है जो चिति से जाग्रत एव सगठित होती है। विराट का राष्ट्रजीवन में वही स्थान है जो शरीर में प्राण का है। उपाध्याय जी के सारे कर्मों का लक्ष्य राष्ट्र के इसी विराट को जाग्रत करना था। उन्होंने अपने प्राचीन के प्रति गौरव का भाव लेकर, वर्तमान का यथार्थवादी आकलन कर और भविष्य की महत्वाकाक्षा लेकर विराट को जाग्रत करने की आस्था दी है। राष्ट्र दृष्टि के बाद उपाध्याय जी की अर्थनीति उल्लेखनीय है। सही अर्थों में इन्होंने अपनी पुस्तक 'भारतीय अर्थनीति—विकास की एक दिशा' में भारतीय अर्थनीति का दर्शन दिया है। इन्होंने इस सदर्भ में मर्म की बात पकडी है कि पश्चिम का अर्थशास्त्र तो इच्छाओं को बराबर बढाते जाना और उनकी आवश्यकताओं की निरतर पूर्ति करना ही अपना लक्ष्य मानता है। और अब तो हालत यहा तक पहुच गई है कि जो कुछ पैदा किया जाता है उसका निश्चित रूप से

1 'राष्ट्र जीवन की दिशा' पृष्ठ ६०

उपभोग हो इसके लिए लागो मे इच्छा पैदा की जाती है। जसे मनुष्य नही, कवल उपभाक्ता हो। पहले उत्पादन उपभोग का अनुसरण करना था अब उपभोग उत्पादन का अनुचर है। इस सदम मे उपाध्याय जी ने गभीर चेतावनी दी है कि प्रकृति की मर्यादा न भूलें, प्रकृति स उच्छृखल न हो। पश्चिम की दोना आर्थिक दृष्टियो—समाजवाद और पूजीवाद को उपाध्याय जी ने घातक साबित किया है। उपाध्याय जी के विचार स भारतीय अथव्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिए

(१) प्रत्यक व्यक्ति का न्यूनतम जीवन स्तर की आश्वस्ति तथा राष्ट्र के सुरक्षा सामथ्य की व्यवस्था।

(२) इस स्तर के उपरात उत्तरोत्तर समद्धि जिससे व्यक्ति और राष्ट्र को व साधन उपलब्ध हो सकें जिससे वे अपनी 'चिति' के आधार पर विश्व की प्रगति म योगदान कर सकें।

(३) उपयुक्त लक्ष्या की सिद्धि के लिए प्रत्यक सक्षम एव स्वस्थ व्यक्ति को साभिप्राय रोजगार का अवसर देना तथा प्रकृति के साधनो का मितव्ययिता के साथ उपयोग करना।

(४) राष्ट्र के उत्पादक उत्पादा का विचार कर अनुकूल प्रौद्योगिकी का विकास करना।

(५) यह व्यवस्था मानव' की अवहलना न कर उसके विकास मे साधक हो तथा समाज के सास्कृतिक एव अन्य जीवन मूल्यो की रक्षा करे। यह लक्ष्मण रेखा है जिसका अतिक्रमण अथरचना किसी भी परिस्थिति म नही कर सकती।

(६) विभिन्न उद्योगा आदि म राज्य, व्यक्ति तथा अन्य सस्थाओ के स्वामित्व का निणय व्यावहारिक आधार पर हो।

अथनीति के भारतीयकरण के प्रसग म उपाध्याय जी ने महात्मा गाधी के विचार को एक सास्कृतिक सदम दिया है। पश्चिम का अधिकाधिक उपभोग का सिद्धात ही मनुष्य के दुख का कारण है।'क्योकि उपभोग की लालसा यदि पूरी की जाए तो वह बढती ही चली जाती है। 'मनुष्य की प्रकृत भावनाओ का सस्कार करके उसम अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा सयमित उपभोग की प्रवत्ति पदा करना ही आर्थिक क्षेत्र म सस्कृति का काय है। इसमे ही तीना का सतुलन है।'[१]

आगे इसी सदम मे आर्थिक लोकतन्त्र का उनका विचार भी मूल्यवान है। राजनीतिक शक्ति का प्रजा म विकेंद्रीकरण करके जिस प्रकार शासन सस्था का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार आर्थिक शक्ति का भी प्रजा मे विकेंद्री-

१ राष्ट्र चिंतन पष्ठ ८६

करण करके अर्थव्यवस्था का निर्माण और सचालन होना चाहिए। "राजनीति म व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता का जिस प्रकार तानाशाही नष्ट करती है, उसी प्रकार अर्थ नीति म व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पमानो पर किया गया उद्योगीकरण नष्ट करता है। एस उद्योगो म व्यक्ति स्वय भी मशीन का एक पुर्जा बनकर रह जाता है, इसलिए तानाशाही की भाति एसा उद्योगीकरण भी वर्जनीय है।"[1]

वस्तुत आर्थिक क्षेत्र के जीवन के तीन आयाम है—मनुष्य श्रम और मशीन। इन तीनो का सम वय ही अर्थव्यवस्था का उद्देश्य है। यह बिल्कुल सही है कि जिस अर्थव्यवस्था म यह सम वय नही उसम विषमताए अवश्य होगी। इसी विषमता की देन हे पूजीवाद का 'आर्थिक मनुष्य और इसकी प्रतिक्रिया म साम्यवाद या समाजवाद का सामूहिक मनुष्य'। फलत पूजीवाद और साम्यवाद दोनो कद्रीकरण क हामी ह। इन दोनो पद्धतियो स सवथा अलग और स्वतत्र उपाध्याय जी का विश्वास है कि जब तक एक एक व्यक्ति की विशिष्टता और विविधता को ध्यान मे रखकर उसके विकास की चिंता नही होगी तब तक मानव कल्याण असभव ह। पूजीवाद और साम्यवाद इन दोनो व्यवस्थाओ म मनुष्य निर्जीव मशीन का एक पुर्जा मात्र बना दिया गया है। मनुष्य यानी एक जतु जो आठ घट यत्रवत मजदूरी करे। काय और जीवन के बीच एक दीवार खडी कर ली गई। 'अत हम पूजीवाद और समाजवाद के चक्कर स मुक्त होकर 'मानववाद का विचार करें। इसके लिए विकेंद्रित अर्थ यवस्था चाहिए। स्वयसेवी क्षेत्र को खडा करना होगा। यह क्षेत्र जितना बडा होगा उतना ही मनुष्य आगे बढ सकेगा मनुष्यता का विकास हो सकेगा। आर्थिक क्षेत्र मे स्वतन्त्रता समाप्त होती है तो राजनीतिक क्षेत्र म भी समाप्त हो जाती ह। समाजवाद और प्रजातत्र साथ साथ नही चल सकते।'[2]

अर्थनीति पर उपाध्याय जी क समस्त विचार हमारी बुनियाद स हम जोडते हैं। इनकी सारी अर्थ दृष्टि शुद्ध भारतीय मनीषा का उज्ज्वलतम उदाहरण है। चाणक्य ने कहा—सुखस्य मूल धम, धमस्य मूलमथ। अर्थात सुख धममूलक ह तो धम अर्थमूलक। ठीक इसी परपरा मे उपाध्याय जी न धम और अर्थ की व्यापक अर्थवत्ता दी है। अर्थ का अभाव ही नही अर्थ का अत्यधिक प्रभाव भी धम का नाश करता है—यह भारत का अपना विशेष दृष्टिकोण ह। इसी तरह धम वह है जो विकृति को रोकता है। इसलिए संस्कृति जिस पहली सीढी से चलती है वह धम की ही सीढी है। मनुष्य अपनी प्रकृति

१ राष्ट्र चिंतन पष्ठ ८७
२ वही, पष्ठ ९३ ९४

वे समस्त नियमो का पालन करता रहे और दूसर के साथ ठीक प्रकार की व्यवस्था रखे, यही है धम। धम मजहब नही है, रेलिजन नहीं है। धम माने ग्राचरण।

पजीवाद और समाजवाद के विकल्प म दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद का विचार सभी दृष्टियो स बहुमूल्य है। यह अपने 'बीन और अपन वृक्ष का फल है। 'स्व' के प्रति दुलक्ष्य न करन और आत्माभिमुख बनने की प्रेरणा इसम है। भारतीय सस्कृति के एकात्मवादी स्वरूप म विविधा म एकता अथवा एकता का विविध रूपो म व्यक्तिकरण महत्त्वपूण विचार है जिसे स्वीकार कर विभि न सत्ताग्रो के बीच का सघष लुप्त हो जाता ह।

एकात्म मानववाद महात्मा गाधी, विनोबा राजगोपालाचाय और जयप्रकाश नारायण के 'दृष्टीकोण' के विचार का सपूण अर्थो म भारतीय सास्कृतिक सदभ देता है और उस हमारी धरती स जोडता है और इस सहज ही महत्त्वपूण बनाता है।

उपाध्याय जी के विचारो म स अगर हम हिंदू राष्ट्रवाद' और हिंदुत्ववाद' निकाल दें तो उनके एकात्म मानववाद का व्यावहारिक अथवत्ता मिल जाएगी। 'भारत राष्ट्र' क्या यही पयाप्त नही ह ? जिस नवीन राष्ट्र—क्रातिकारी आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का ज म विकास तिलक दादा भाई गोखले, अरविंद स हुआ उसी का फल है एकात्म मानववाद।

मुसलमान और ईसाई इस भारत देश के एतिहासिक सत्य ही नही धार्मिक सत्य भी है। इसलिए इनकी सस्कृति भी स्वभावत उतनी ही सत्य है। इतिहास का मिटाना महत्त्वपूण नही है उसे स्वीकार कर लेना महत्त्वपूण है। इस एकात्म मानववाद म कौन हिंदू रह जाता है कौन मुसलमान और कौन इसाइ ?

राष्ट्रीयता का उपाध्याय जी न राजनीतिक रूप म न लेकर शुद्ध सास्कृतिक रूप म लिया ह यह महत्त्वपूण है। पर अब तक यह केवल लिखित विचार के रूप म हमारे सामने है, इस पर अब तक कोई प्रयोग नही हुआ है। यह आज की चुनौती है। महात्मा गाधी न जो भी विचार दिए उ ह उन्होन पहले स्वय प्रयोग करके देखा। उ होने कहा है— मेरा जीवन ही मेरा विचार है।' यह सही है कि उपाध्याय जी का जीवन उनके विचारो के अनुरूप था। पर यह निजी बात ह। उपाध्याय जी का विचार पूरे देश के प्रति है—देश के पुर्ननिर्माण के लिए है। और इसका प्रयोग अभी देश के जीवन मे होना है। काग्रेस राज के बावजूद गाधी जस पुरुष के विचारो का प्रयोग यहा नही हुआ। क्या वह समाज जो आर० एस० एस० का अनुयायी और समथक है—वह इस योग्य है कि राष्ट्रवाद की क्रातिकारी आध्यात्मिकता एकात्म मानववाद का प्रयोग स्वय करेगा अपने जीवन म या इस देश मे, वतमान समाज म उसका प्रयोग होने देगा ?

राष्ट्र के परतत्र होने से पूव—एक हजार वष पहले जहा हमने राष्ट्र-

जीवन का सूत्र छोड दिया था—वही से हम उसे आगे बढाए—इस विचार का खडन करते हुए उपाध्याय जी ने माना है कि जीवन का प्रवाह कही रुकता नही। गगा की धारा का लौटाने का प्रयत्न बुद्धिमानी नही होगा।" पर इस दृष्टि के बावजूद उपाध्याय जी गगा को शायद हिंदू गगा ही मानेंगे, जबकि अब यह भारत गगा है, बल्कि गगा है। गगा शब्द मे जो सस्कृति विद्यमान है उसे कौन नष्ट कर सकता है?

भारत की सस्कृति सगमनी की, सगम की सस्कृति है, यहा सब हैं भिन्न भिन्न है पर सब एकात्म हैं। उपाध्याय जी के एकात्म मानववाद का सच्चा अर्थ यही है। इसी बिंदु से देश म चैतन्य का निर्माण सभव है। यह मेरा नही सब का है और इसीलिए राष्ट्र का है।' यही सच्चा राष्ट्रवाद सच्चे लोकतत्र मे सबधित हाता है। उपाध्याय जी का व्यक्तित्व और चरित्र दानो सहज और सरल था। कही भी उनमे चमत्कार, करिश्मा नही था। और यहा का जनमानस चमत्कारी का ही पुजारी है। यह वतमान समाज क्या यह देख सकेगा कि सस्कृति वृक्ष मे जब घुन लग जाता है तब पुरुषार्थी पुरुष रूपी फल उसमे नही लगते। फिर भी यह पुरुषफल हमारे समय के वक्ष म कसे लग गया? आज हमारी ही राष्ट्रीयता नही सारे विश्व की राष्ट्रीयता छिन्न भिन्न हो रही है। भौतिक प्रगति के आगे मानव सस्कृति की प्रगति का सामर्थ्य जैसे चुक रहा है। प्रजातत्र भी धनिक तत्र अथवा राजनीति तत्र बन रहा है। सब महसूस कर रहे है कि इन राजनीतिक वादो से आगे जाने का समय आ गया है किंतु वसा हाथ से किया नही जाता। 'धम जानता हू पर उसम प्रवृत्ति नही है। अधम भी जानता हू पर उसस निवृत्ति नही है।'

उपाध्याय जी का राजनीतिक चरित्र उनकी सास्कृतिक धमनिष्ठ चेतना का फल है। इनका हिंदू इनका 'राष्ट्र बोध वतमान राष्ट्रीय स्वयसवक सघ स बिल्कुल भिन्न है। इनका हिंदू, इनकी राष्ट्र चेतना आर० एस० एस० की तरह औरगजेब कालीन परिस्थितियो के सदभ मे नही, बल्कि इस देश की सनातन मनीषा के व्यापक सदभ मे परिभाषित हुआ है। आर० एस० एस० का प्रतीक—गुरु रामदास के सामने नतमस्तक क्षत्रपति शिवाजी—महत्त्वपूण है। अथात राजशक्ति धम और अध्यात्म के नियमन के ही अधीन है—उससे ऊपर नही उसस स्वतत्र नही। पर अपने आचरण मे आर० एस० एस० ने गुरु रामदास का भुलाकर केवल शिवाजी को स्मरण रखा और महत्त्व दिया। फलत इसम प्राय—हिंदू—सगमनी चेतना जिसकी रक्षा और विकास का यह दावा करता है वह काफी क्षीण है। और एसा लगता है कि आर० एस० एस०, जनसघ हमारी उसी विकल्प बुद्धि का ही फल है। पर निश्चय ही दीनदयाल जी हमारे नव जाग्रत सकल्प बोध के सुफल हैं। नाना जी देशमुख का व्यक्तित्व और कृतित्व इसका जीवत प्रत्यक्ष सबूत प्रस्तुत कर रहा है।

चौदहवा अध्याय

महत्त्वाकाक्षा से अविश्वास इदिरा गाधी

श्रीमती कृष्णा हठीसिंह न अपनी भतीजी इदिरा गाधी की पारिवारिक जीवन-कथा लिखत हुए कहा है कि 'हमारे घर के राजनीतिक वातावरण न इदिरा के बालमन म असामान्य, अनोख विचार पदा कर दिए थे। परिवार म बिल्कुल अकेला बच्चा होन के कारण वह अपनी गुडिया स जलसे-जलूस के राजनीतिक खेल खेला करती। मेज पर वह कभी भडकील और कभी सादे देहाती कपडे पहनाकर गुडिया की एक कतार को लाठी और बदूकधारी गुडडो के सामने खडा कर देती। किसान वेशधारी गुडियो के हाथो म कागज के काग्रेसी झडे होत और इदिरा नता बनी उनके आगे भाषण करती—अपन पिता दादा और गाधी जी को इसी तरह भाषण करत उसन देखा था ।"[1]

बचपन मे इदु पर सबस अधिक प्रभाव उसके दादा जी—मोतीलाल नहरू का ही पडा। लकिन सबस अधिक मैं अपन दादा जी के बडेपन स प्रभावित थी—मेरा मतलब उनके शारीरिक डील डौल म नही, उनके बडप्पन उनकी महानता से है। वह इतन विशाल लगते थे मानो सारी दुनिया को अपनी बाहो मे समेट हुए हो। उनके हसन का ढग भी मुझे बहुत प्रिय था।"[2]

राजनीतिक जीवन के कारण बहुत कमजार और दुबली ' इदिरा की नियमित स्कूली शिक्षा म बराबर बाधा पडती रही। पर घर पर ही पढते पढते कुछ किताबें, पात्र और घटनाए इदिरा को विशेष रूप स प्रिय हो गई थी। जान आफ आर्क' की कहानी उसकी ऐसी ही प्रिय कहानियो म से थी। एक दिन मैंन उस बरामद के जगल क पास खडे देखा—एक हाथ दृढता स पत्थर की मुडर पर रखे और दूसरा हाथ अधर मे इस तरह उठाए हुए मानो अपने श्रोताओ को किसी महान उद्देश्य के लिए प्रेरित कर रही हो। इस घटना का मैंन अपनी पुस्तक 'हम नहरू' म वणन भी किया है। वह कुछ बुदबुदा रही थी

१ इदु से प्रधान मत्री पष्ठ ४० ४१

२ एन इटरव्यू विद इदिरा गाधी, आनाल्ड माइकेलिस।

इसलिए मैंने पास जाकर पूछा, 'यह क्या हो रहा है?' घने काले बालों और चमकती हुई आखों वाले लाल चेहरे को उठाकर मेरी ओर गंभीरता से देखते हुए उसने जवाब दिया, 'जोन ऑफ आर्क बनने का अभ्यास कर रही हू। अभी अभी उसी के बारे में पढ़ रही थी। एक दिन जोन ऑफ आर्क की तरह मैं भी आजादी की लडाई में अपनी जनता का नेतृत्व करूगी।''

लगातार बडो के साथ गरम राजनीतिक वातावरण में रहने के कारण इंदिरा की रुचिया अपनी उम्र के बच्चों से सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। वह काफी प्रौढ हो गई थी। उसके सहपाठियों की पूरी दिलचस्पी खेलकूद में थी, राजनीति से उन्हें कोई मतलब नहीं था। इंदिरा उनमें घुल मिल न पाती, न उसे उनके खेलकूद में भाग लेने की इच्छा ही होती, वह सबसे अलग थलग अकेली रहा करती।

१९३० में जवाहर ने अपनी बेटी इंदिरा प्रियदर्शिनी के नाम, उसके तेरहवें जन्म दिवस पर एक स्मरणीय पत्र लिखा था 'प्यारी बेटी जिस साल तुम्हारा जन्म हुआ, अर्थात सन १९१७ वह इतिहास का एक बहुत प्रसिद्ध वर्ष था। इसी साल एक महान नेता ने, जिसके हृदय में गरीबों और दुखियों के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी कौम के हाथों से ऐसा ऊचा काम करवा लिया जो इतिहास में अमर रहेगा। उसी महीने में जिसमें तुम पैदा हुईं लेनिन ने उस महान क्रांति को शुरू किया था जिससे रूस और साइबेरिया का काया पलट हो गया और आज भारत में भी एक दूसरे महान नेता ने जिसके हृदय में मुसीबत में फसे और दुखी लोगों के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है, हमारे देशवासियों में महान प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है, जिससे हमारा देश फिर आजाद हो जाए और भूखे गरीब और पीड़ित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जाए। भारत में आज हम इतिहास का निर्माण कर रहे हैं। हम और तुम बडे खुशकिस्मत हैं कि ये सब बातें हमारी आखों के सामने हो रही है, और इस महान् नाटक में हम भी कुछ हिस्सा ले रहे है। मैं नहीं कह सकता कि हम लोगों के जिम्मे कौन सा काम आएगा, लेकिन जो भी काम आ पडे हमें यह याद रखना चाहिए कि हम ऐसा कुछ नहीं करेंगे, जिससे हमारे उद्देश्यों पर कलंक लगे और हमारे राष्ट्र की बदनामी हो। सही क्या है और गलत क्या है, यह तय करना आसान काम नहीं होता। इसलिए जब कभी तुम्हें शक हो तो ऐसे समय के लिए तुम्हें एक छोटी-सी कसौटी बताता हू। शायद इससे तुम्हें मदद मिलेगी। कोई काम खुफिया तौर पर मत करो, और न कोई ऐसा काम करो जिसे तुम्हें दूसरों से छिपाने की इच्छा हो, क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलब है कि तुम डरती

'इंदु से प्रधान मंत्री' पृष्ठ ४८-४९ तथा 'वा नेहरू'।

हो और डरना बुरी बात है और तुम्हारी शान के खिलाफ है। प्यारी नन्ही अब तुमसे विदा लेता हूं, और कामना करता हूं कि बड़ी होकर भारत की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो।"[1]

मोतीलाल अपने यहां आनेवाले विशिष्ट मेहमानों को इंदु से अवश्य मिलाते थे। सरोजनी नायडू ने इंदु से कहा था "यू वयर दी प्राउडेस्ट लुकिंग बेबी आई हैव सीन।"

देहरादून जेल से लिखा हुआ जवाहरलाल नेहरू का २ जून १९३४ का एक खत विजयलक्ष्मी पंडित के नाम, इंदु के चरित्र और स्वभाव को समझने का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है "तुम सब लोग निश्चय ही कश्मीर का आनंद ले रहे होगे। मैं अब तक नहीं जानता कि शांति निकेतन कब खुलता है। वहां जाने से पहले इंदु को कुछ दिन कमला के साथ रहना चाहिए। जैसा कि कमला का देहरादून में रहना संभव नहीं है, इंदु यहां न आए कश्मीर से। यह अच्छा है कि वह इम्तिहान में पास हो गई, यद्यपि मैं इसे उतना महत्त्व नहीं देता। कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण मामलों में मैं उससे कतई प्रसन्न नहीं हूं। वह दूसरों के प्रति निहायत 'कजुअल' और 'इंडिफरेंट' है। यह गंभीर दोष है। इंदु अपने आराम, स्वार्थों में रहती है। वह मुश्किल से दूसरों के बारे में सोचती है। जब मैं उससे मिला तो मुझे थोड़ा घबरा-सा लगा। यह कुछ मनोवैज्ञानिक अनुभव सा है, जिसे मैं बयान नहीं कर सकता। यही सब वजह है कि कश्मीर से उसकी वापसी पर मैं यहां उससे मिलना नहीं चाहता। "[2]

इस स्वार्थी, जिद्दी और अहंकारी स्वभाव और चरित्र के निर्माण के पीछे बहुत सारी शक्तियां और परिस्थितियों का हाथ है। दादा मोतीलाल के लाड-प्यार ने, पूरे नेहरू परिवार के दुलार ने और आनंद भवन में आनेवाले तमाम दोस्त मेहमानों ने इंदु के स्वभाव को सही मानों में बिगाड़ा। "उस सख्त अनुशासन में जिसके अंतर्गत मोतीलाल के बच्चे घर में रहते थे, इंदिरा बाहर थी। ऐसी कोई अंग्रेज आया (गवर्नेस) नहीं थी जो इंदु को अनुशासन में रख सके।"[3]

'बंच आफ ओल्ड लेटर्स' में यह स्पष्ट है कि किस तरह और कैसे मोतीलाल नेहरू अपने पुत्र जवाहरलाल नेहरू को उस समय के (१९१७ से १९३१) भारतीय राजनीति के आकाश में सबसे ऊंचे नक्षत्र की तरह चमकाना चाहते थे। महात्मा गांधी की नजरों में जवाहर ही स्वतंत्र भारत में उनके उत्तराधिकारी हों, इस उद्देश्य पर मोतीलाल के सतत प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। ठीक इसी सामंती परंपरा के अनुसार जवाहरलाल ने अपनी एकमात्र बेटी इंदिरा

१ विश्व इतिहास की झलक अथवा पिता के पत्र पुत्री के नाम।
२ मिसेज पंडित्स पेपर्स —नेहरू मिमोरियल लाइब्रेरी तीनमूर्ति, नई दिल्ली।
३ इंदिरा गांधी—ए बायोग्राफी, ज० मसानी, पृष्ठ ६७

गाधी को अपना उत्तराधिकारी बनाने की जो सफल कोशिशें की वे कम उल्लेखनीय नही। फरवरी १६५५ का इदिरा काग्रेस की कार्यकारिणी समिति मे ली गईं। २३ फरवरी १६५८ का यह अपन पिता के स्थान पर सेंट्रल पार्लियामेंटरी बोड की सदस्या बनाई गइ। और १६५६ के फरवरी मास म इदिरा काग्रेस की अध्यक्ष चुनी गइ। पिता की मृत्यु के बाद शास्त्री जी के मत्रिमण्डल मे इदिरा सूचना और प्रसारण मत्री बनी। १६ जनवरी १६६६ को श्रीमती गाधी काग्रस ससदीय दल की नेता चुनी गईं। उस अवसर पर उन्होने अपना पहला राजनीतिक भाषण देते हुए कहा कि मेरा दिन इतना भरा हुआ है कि समझ मे नही आता कि आपको कैसे धन्यवाद दू। आपके सामने खडे होते हुए मुझे अपने महान नेताओ की याद आती है—महात्मा गाधी, जिनके चरणो मे बठकर मैं बडी हुई, मेरे पिता पडितजी और श्री लालबहादुर शास्त्री। शास्त्रीजी और पडित पत ही थे जो आजादी के बाद मुझे राजनीति मे ले आए। और जब कभी मैंन राजनीति से हटना चाहा, उन्होने जोर देकर मुझे ऐसा करने से रोका। मैंने हमेशा अपने को देशसेविका माना है।"[1]

१२ मार्च १६६७ को श्रीमती गाधी ससद मे काग्रेस दल की नेता चुनी गइ और १३ मार्च १६६७ को भारत की प्रधान मत्री बनी। १५ मार्च को राष्ट्र के नाम अपने रेडियो सदेश म उन्होने कहा, "एक बार फिर आपने सरकार चलाने की जिम्मेदारी मुझे सौपी है। मैं जानती हू कि मेरे पचास करोड देशवासी मेरे साथी है। आम चुनाव (चौथा) ने यह सबक दिया है कि देश काम प्रगति और परिवर्तन चाहता है। अब सत्ता और जिम्मेदारी नई पीढी के हाथो मे आ रही है और हमे बुजुर्गों की बुद्धि गभीरता और अनुभव का तथा नौजवानो की कल्पनाओ और चेतना का समन्वय करना है।"

१६ जनवरी १६६६ और १२ मार्च १६६७ के इन दोनो सदेशो मे एक बुनियादी अतर है। पहले सदेश म इनका 'दिल इतना भरा हुआ है' और करीब चौदह महीने बाद सत्ता और जिम्मेदारी से यह भर गइ। इस मानसिकता को समझने के लिए यह देखना होगा कि सत्ता हथियाने के लिए इन्हे क्या कुछ करना पडा। यह वह नई सत्ता राजनीति थी जिसकी शुरुआत जवाहरलाल के जीवन के अतिम चरण म उन्ही के द्वारा हुई थी और इसका विकास श्रीमती गाधी के अपने व्यवहारो और कर्मो से हुआ।

१६५६ की नागपुर काग्रेस म जब ढेबर भाइ के बाद इदिरा जी को एकाएक अगला काग्रेस अध्यक्ष बनाया गया तो काग्रस हाईकमान म भी बहुतो को आश्चर्य हुआ था। अध्यक्ष होनेवालो म केवल श्री निजलिंगप्पा या श्री सुब्रह्मण्यम

१ छोटे कदम लबा सफर पृष्ठ १

का ही नाम निश्चित था। इस फसले स, यहा तक कि लालबहादुर शास्त्री भी आश्चर्यचकित थे। पर आगे चलकर यह भी सच निकला कि इदिरा जी के लिए वह अध्यक्ष पद इतना महत्त्वपूण नही था। इसीलिए काय अवधि पूरी करने स काफी पहले ही उ होने स्वय त्यागपत्र दे दिया। बहाना बनाया गया दुबल स्वास्थ्य का। पर सच्चाई यह थी कि उनकी भावी महत्त्वाकाक्षा को देखत हुए काग्रेस अध्यक्ष पद एक तुच्छ और अथहीन चीज हा गया। उससे जितनी शक्ति प्राप्त करनी थी वह पूरी हो गई। दूसरा कारण यह भी था कि काग्रेस अध्यक्ष का पद तब तक एक शाभापद जसा ही रह गया था। उसमे कोई विशेष सत्ता नही रह गई थी। १९६२ के आम चुनावो से पहले अपनी विदश यात्रा म जवाहर-लाल जी से किसी पत्रकार द्वारा यह पूछने पर कि आपका उत्तराधिकारी कौन है ? जवाब दिया था कि "अगर मैं उसका नाम अभी से बता दू तो उस गरीब को इतने ज्यादा लोगो के ईर्ष्या द्वेष का मुकाबला करना पड जाएगा कि बाद मे उस पद पर पहुचने की उसके लिए नौबत ही नही आ पाएगी।" लोगा न इसका आशय लगाया कि वह 'गरीब' केवल लालबहादुर शास्त्री ही हा सकत है अ य कोई नही। पर जो सच्चाइया अब सामन आ रही हैं उससे स्पष्ट है कि १९६२ के बाद मे लालबहादुर के प्रति नेहरू के भाव मे लगातार परिवतन आता गया था। और इसी के फलस्वरूप इदिरा जी ने शास्त्री जी जैसे आदमी की अवना शुरू की। वह 'गरीव' इदिरा जी थी, लालबहादुर तो केवल नाम-मात्र थे।

अपनी पुत्री के भविष्य के बारे मे नेहरू की अपनी अलग योजनाए थी। इन योजनाओ को लोग काफी स्पष्टता स समझते थे। यह वह समय था जब भारत तथा अ य देशा म लोगो ने यह प्रश्न पूछना शुरू कर दिया था कि नहरू के बाद कौन ?' तरह तरह के अनुमान लगाए जा रहे थे। लेकिन बहुत कम लोग यह जानत थे कि नेहरू स्वय इदु को (जिस नाम स वे प्यार म इदिरा को पुकारते थे) इस बात के लिए तयार कर रहे थे कि वे तीसरी पीढी मे भी नहरू गाथा को आगे बढा सक। यह अकारण ही नही था कि नहरू न इस बात का समथन किया था कि श्री फिरोज गाधी से विवाह के बाद भी इदिरा अपन का नेहरू गाधी कह।

काग्रेस का अध्यक्ष बनने के पहले स ही नहरू ने इदिरा के सावजनिक व्यक्तित्व को ढालना शुरू कर दिया था। जब भी व किसी प्रतिष्ठित भारत-वासी या विदेश से आए हुए मेहमान को घर पर भोजन करने के लिए बुलाते थे, तो इदिरा अलग से उन लोगो का सत्कार करती थी। मसलन जब राकफेलर और रूजवेल्ट नहरू के साथ भोजन करने आए, तो इदिरा ने उ ह एक अनौप-चारिक काफी पार्टी के लिए आमन्त्रित किया। ऐसा करने के दो उद्देश्य थे. एक बाहर वाला से मिलन के लिए इदिरा म आत्मविश्वास पैदा करना, जो

उनम नही था और दूसर, उनका स्वतत्र और पथक व्यक्तित्व स्थापित करना।

ऐसी परिस्थितिया बनाई गइ कि कायकारिणी का सदस्य बन जान क बाद अ य सदस्या न नेहरू स सपक स्थापित करन के लिए और उन तक अपनी इच्छाए और विचार पहुचाने के लिए इदिरा को एक माध्यम के रूप मे इस्तमाल करना शुरू कर दिया। इस प्रकार उ ह दूसरो की तथा स्वय अपनी दष्टि म एक महत्त्वपूण स्थान प्राप्त हो गया। जब व १९५९ म काग्रेस की अध्यक्ष बनी तो नेहरू स्वय उनकी यात्राओ का आयोजित करत थे और यह निश्चित करने के लिए हर प्रयत्न करत थ कि वे यात्राए लाभप्रद हो। इस प्रकार धीरे धीरे, नेहरू के प्रथम निर्देशन म इदिरा न राष्टीय मच पर एक महत्त्वपूण स्थान ग्रहण कर लिया। चीनी आक्रमण के बाद जब नेहरू न उन्ह केंद्रीय नागरिक परिषद का अध्यक्ष नियुक्त किया, तो इदिरा का महत्त्व और भी बढ गया।

लगभग १९५५ तक इदिरा को पार्टी के काय का बहुत कम अनुभव था। लेकिन काग्रेस अध्यक्ष ढेबर ने जब उन्ह कायकारिणी का सदस्य नियुक्त कर दिया तो उ हाने अत्यत सक्रिय रूप से काम शुरू कर दिया। राज्य पुनगठन पर असली रिपोट के बारे म सावजनिक प्रतिक्रिया आकने क लिए उ होन बबई तथा दक्षिण का दौरा किया और अपन भाषणा म पार्टी सबधी विषयो पर अत्यत असाधारण दष्टिकोण प्रगट किए। उ होन कहा कि कोई भी व्यक्ति सत्ता के उच्चतम शिखर तक भल ही पहुच जाए, लेकिन उसका उत्थान मूलत पार्टी द्वारा ही सभव होता है। उ होन यह भी कहा कि रूस म कम्युनिस्ट पार्टी सरकार पर कडी नजर रखती है और उन मत्रिया को पदच्युत कर देती है जो ठीक काम नहा करते। 'भारत म भी हम जितनी जल्द एसा कर उतना अच्छा होगा।

यह ध्यान मे रखने की बात है कि यह दष्टिकोण नेहरू के ससदीय सरकार सबधी इस सिद्धात के विपरीत था कि ससदीय पक्ष की पार्टी तत्र से मुक्त होना अनिवाय है। इस मसले पर कृपलानी ने १९३७ म काग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया था और बाद म उ होने कहा था भ्रष्टाचार और पक्षपात ऊपर के स्तर से आरभ होते है, नीचे से नही। नेहरू निस्स्वाथता के नमून नही है, लकिन कभी-कभी व यह प्रमाणित कर दत है कि उन पर गाधीवादी विचार धारा का प्रभाव है।' लेकिन इदिरा की उन उक्तियो से राजनीतिक दायरा म काइ विशेष खलबली पदा नहा हुई।

इसमे सदेह नही था कि नेहरू अपनी पुत्री को प्रधान मत्री पद के लिए तयार कर रहे थे। यह बात एक खुला रहस्य हो गई जब नागपुर अधिवशन म एस० निजलिंगप्पा के अनौपचारिक रूप से काग्रेस अध्यक्ष चुन जाने के बाद भी इदिरा को अचानक काग्रेस अध्यक्ष चुन लिया गया। लोगो ने बाद म

इंदिरा से नागपुर की इन घटनाओं के बारे में प्रश्न किया। उन्होंने जवाब दिया कि उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं था कि निजलिंगप्पा अध्यक्ष पद के लिए लगभग चुन लिए गए थे। उन्होंने अपने पिता से कह दिया था कि वे अध्यक्ष नहीं बनना चाहती थीं, लेकिन उन्होंने पद इसलिए स्वीकार कर लिया कि ढेबर भाई ने उनसे कहा था कि पद अस्वीकार करने का अर्थ यह लगाया जाएगा कि वे उस पद पर सफलता से कार्य करने के योग्य नहीं थीं। राजनीतिक वर्गों में यह बात अच्छी तरह समझ ली गई थी कि कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया जाना भविष्य में और बड़े पद दिए जाने की पीठिका थी। कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से इंदिरा ने अपने पिता को इस बात पर राजी कर लिया कि बंबई को, भाषा के आधार पर दो पृथक प्रांतों—महाराष्ट्र तथा गुजरात में विभाजित कर दिया जाए। इसके अतिरिक्त उन्होंने केंद्र द्वारा केरल की पहली कम्युनिस्ट सरकार को उसकी तथाकथित 'अजनतांत्रिक' तथा 'अवैधानिक' नीतियों के कारण पदच्युत करवा दिया।

पार्टी में उन्हें अधिक ऊंचे पदों पर नियुक्त कराने के अतिरिक्त और तरीकों से भी नेहरू अपनी पुत्री को उत्तरदायित्व के लिए तैयार कर रहे थे। चीनी आक्रमण के बाद जब नेहरू राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक व्यस्त हो गए तो उन्होंने केंद्रीय मंत्रियों तथा मुख्य मंत्रियों से कह दिया कि वे अपनी समस्याएं इंदिरा द्वारा उन तक पहुंचा दिया करें। ये बातें इंदिरा अपने पिता को भोजन के समय या उनके सोने से पहले बता दिया करती थीं। अधिकांश केंद्रीय मंत्रियों तथा प्रांतीय नेताओं को, विशेषतः उनको जो स्वयं प्रधान मंत्री बनने के ख्वाब देख रहे थे, इस बात से आपत्ति थी और छिपे रूप से वे नेहरू पर यह आरोप लगाते थे कि नेहरू उन्हें अपनी बेटी की दरबारगीरी करने पर विवश कर रहे थे। लोग कहते रहते थे "हमने त्याग किए हैं, तकलीफें सही हैं और तब ऊपर आए हैं। यह (इंदिरा) कौन है?" लेकिन नेहरू सर्वशक्तिमान थे और ये लोग अपनी आपत्ति दूर करने के लिए और कुछ नहीं कर सकते थे। इस अवज्ञा की चरम सीमा तब आई जब १९६२ के आम चुनावों के बाद नेहरू गुरदे की सख्त बीमारी से निष्क्रिय हुए और शास्त्री जी को इंदिरा से बात करने के लिए कमरे से बाहर इंतजार में बैठना पड़ता था। उस सत्ता राजनीति के खेल में लालबहादुर जी को पीछे छोड़ देने और श्रीमती गांधी को ऊपर ले आने के लिए एक तरफ नेहरू ने द्वारिकाप्रसाद मिश्र और उमाशंकर दीक्षित को अपने साथ लिया, दूसरी ओर कामराज योजना के सहारे शास्त्री जी को मंत्रिमंडल से बाहर कर दिया।

शास्त्री जी के निधन के बाद वास्तविक सत्ता राजनीति के संघर्ष का खेल शुरू हुआ। उस खेल में एक ओर श्रीमती गांधी और दूसरी ओर सारे दिग्गज कांग्रेसी नेता थे जो सामूहिक रूप से 'सिंडीकेट' के नाम से प्रसिद्ध थे। उन

दिनो नौ राज्यो की काग्रेस पार्टी पर उसी सिंडीकेट का पूरा नियत्रण था। पर सयाग से काग्रेस ग्रध्यक्ष कामराज स सिंडीकेट का इसलिए मनमुटाव हा गया कि उन्होंने दूसरी बार भी ग्रध्यक्ष वन रहने पर जार दिया ग्रौर उसमे सफल भी हो गए। सिंडीकेट के सदस्य पुरातनपथी थ। व 'राजा' वनाने का काम करत थे। ग्रपनी सत्ता को बनाए रखन के लिए व केंद्र के नेता के रूप म एम कमजार ग्रौर ग्राज्ञाकारी व्यक्ति को चाहत थे, जो पूरी तरह उनकी मुट्ठी म रहे। कामराज भी मूलत उसी सिंडीकेट के ही चरित्र के थ। उधर उम्मीदवार ग्रपने पक्ष म काग्रेसी सदस्यो के बीच जाड-तोड भिडा रहे थे, इधर कामराज 'राजा वनाने वाले' की भूमिका निभा रहे थे। उन्होंने इदिरा के पक्ष म ग्रपनी पूरी ताकत लगा दी। वे समभत थे कि इदिरा उनके हाथ की कठपुतली होगी। ग्रत जिन दस राज्यो मे काग्रस पार्टी की सरकार थी वहा के मुख्य मत्रियो का दिल्ली बुलाकर उन्होने कहा कि ग्रापके यहा के ससद सदस्यो को मेरे उम्मीदवार का समर्थन कर उसी को ग्रपना मत देना हागा ग्रौर इसकी पूरी जिम्मदारी ग्राप लोगो पर है। इदिरा स उन्होने ससद मे काग्रेस पार्टी क नेता के चुनाव म खडे होने के लिए कहा। इदिरा मन से तो यही चाहती थी कि मामला निर्विरोध तय हो जाए, लेकिन जब चुनाव की चुनौती सामने ग्राई तो उस उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया, जरा भी न घवराइ। ग्रौर न वह कामराज क इस पत्र स ही हतोत्साहित हुइ कि उनका चुनाव महज ग्रस्थायी है। उन्होंने लिखा था हम बूढे हो गए ग्रौर तुम दुबारा चुनाव लडी तो मदद के लिए शायद न भी रहे।' लेकिन इदिरा जानती थी कि पार्टी के ये पुरातनपथी कुछ भी क्या न करें जनता उनके साथ है। जब पत्रकारो ने उनसे चुनाव लडने की उनकी रजामदी के बारे मे पूछा तो उन्होंने जवाब दिया, 'मैं वही करूगी जो श्री कामराज कहेंगे।' दूसरे शब्दो म इसका मतलब यह हुग्रा कि ग्रगर कार्यकारिणी के बहुमत ने उसका नाम प्रस्तावित किया तो वह रजामद हो जाएगी।'[1]

प्रधानमत्री बनने के बाद इदिरा जी ने कामराज समेत सिंडीकेट का यह दिखा दिया कि तुम बुड्ढो की राजा' बनाने वाली ताकत ग्रब खत्म हुइ। ग्रब सारी ताकत मेरे हाथो मे होगी। मतलब मैं खुद एक नई पार्टी बनाऊगी ताकि मै उस पार्टी का ग्रपने हित म, देश के हित मे इस्तेमाल कर सकू। दरग्रसल श्रीमती गाधी ने नेहरू काल के ग्रतिम दिनो मे ग्रपनी ग्राखो स यह देख लिया था कि काग्रेस पार्टी मर चुकी है। यह उसकी मृत्यु का ही लक्षण है कि वह राजा बनाने' की मशीन हो गइ है। उस मशीन को नष्ट कर एक ऐसी नई मशीन बनाई जाए जो पूरी तरह मेरी हो बल्कि मेरे इशारे पर चले, यही वह महत्त्वाकाक्षा का मर्म बिंदु है जहा म श्रीमती गाधी एक ग्रार सत्ताधारिणी बनती

१ इदु से प्रधान मत्री पृष्ठ २१४

हैं और दूसरी ओर जहां से वह सब पर अविश्वास करना शुरू करती है। इसी का राजनीतिक फल यह हुआ कि कांग्रेस पार्टी के विभिन्न मंचों पर पहले भी बहसें हुआ करती थीं, लेकिन १९६९ में कांग्रेस के विभाजन के पहले तक हुई बहसें अब केवल सत्ता हथियाने, सत्ता की ओर उन्मुख और सत्ता के आकर्षण से ही बंधी होने लगीं।

इसका जबरदस्त प्रभाव वामपंथी राजनीतिक दलों पर पड़ा। बिल्ली जैसे चूहों के साथ खेल खेलती है वैसा ही खेल १९५३ में प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने खेला था और उस समय की प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को पंगु बना दिया था। ठीक इसी परंपरा में अब प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने एक ही साथ समाजवादी और कम्युनिस्ट इन दोनों दलों को सत्ता देने और क्रांति कर दिखाने के जादूभरे खेल से नष्ट किया। पर यह सच है कि नाश होने की जिम्मेदारी उन्हीं पर है जो नष्ट हुए। श्रीमती गांधी इस अर्थ में निश्चय ही एक विध्वंसकारी शक्ति हैं। और इस प्रसंग में श्रीमती गांधी भारतीय दलीय राजनीति के चरित्र को तोड़ने और नए सिरे से उसे बनाने में एक शक्ति के रूप में याद की जाएगी।

राजनीति में महत्वाकांक्षा के साथ जब अविश्वास का तत्त्व जुड़ता है तब किसी तरह का भी विरोध असह्य हो जाता है। यहीं से सत्ताधारी में एक तानाशाह की तैयारी शुरू हो जाती है। जनतंत्र का नाटक खड़ा करने के लिए उसे विरोधी दल तो चाहिए लेकिन ऐसा लकवा जिसे मार गया हो और जो उसकी मरजी से चलनेवाला हो। उसे गरीबी और पतन भी चाहिए ताकि उसे मिटाने के लिए वह जबदस्त नारे दे सके—यही है श्रीमती गांधी का राजनीतिक चरित्र। श्री नेहरू के चरित्र में इसका बीज था, जिसके खिलाफ डा० लोहिया को खड़ा होना पड़ा था। उसी बीज से एक तानाशाह वृक्ष के रूप में श्रीमती गांधी का स्वरूप बना और इनके खिलाफ जयप्रकाश को खड़ा होना पड़ा।

नेहरू और लोहिया, श्रीमती गांधी और जयप्रकाश ये चारों भुजाएं मिलकर जो आकार देती हैं, दरअसल वही है आधुनिक भारतीय जनतंत्र का चित्र। मतलब, यह केवल तंत्र है। और इस तंत्र से सच्चा तानाशाह भी नहीं आ सका। जबकि इसी तंत्र ने श्रीमती गांधी को एक हद तक तानाशाही आई। यह वही तंत्र था जो इस देश में प्रजातंत्र भी कायम किए था। जिस निर्मूल राजनीति से यह शासन तंत्र यहां उपजा है वर्तमान है उसमें न दरअसल प्रजातंत्र आ सकता है न सच्ची उदात्त तानाशाही आ सकती है—श्रीमती गांधी ने अपने

राजनीतिक प्रयाग से इसका उदाहरण पेश कर दिया है।

इस सत्ता राजनीति क ठोम उदाहरण का आरभ राष्ट्रपति डाक्टर जाकिर हुसन की मृत्यु के बाद स शुरू हुआ। जुलाइ १९६९ की घटना है। सिंडीकेट काग्रेस की तरफ से राष्ट्रपति के लिए श्री सजीव रेड्डी का नाम प्रस्तावित हुआ। इस नाम का बगलौर मे इंदिरा जी ने समथन किया था। लकिन इधर दिल्ली आकर मोरारजी देसाई स उनका वित्त विभाग अपने हाथ म ले लिया और कहा कि मोरारजी भाई पहल की तरह अब भी उप प्रधान मत्री बन रहेगे। श्रीमती गाधी न ऐसी अपमानजनक स्थिति पदा कर दी कि मोरारजी भाइ ने उप प्रधानमत्री पद स त्यागपत्र द दिया। १९ जुलाई १९६९ को चौदह प्रमख भारतीय बकों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी गइ। और इस तथा-कथित क्रातिकारी' कदम का लाभ उठाकर इन्दिरा जी एक नए चतर राज नीतिक खिलाडी के रूप मे राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार श्री सजीव रेड्डी क समथन स इकार कर श्री वी० वी० गिरि के साथ खडी हो गइ। इस 'अतरात्मा की आवाज नाम दिया गया। स्वभावत नया राष्ट्रपति श्रीमती गाधी का व्यक्ति हुआ। और इस भयकर झूठ प्रपच और परस्पर अविश्वास की राजनीति शुरू हुई। काग्रेस दो हिस्सा म बट गई—पुरानी काग्रेस और नई काग्रेस।

दरअसल राष्ट्रपति का वह चुनाव श्रीमती गाधी के व्यक्तिगत सघष की एक सफल परीक्षा थी। यही स व्यक्तिगत सत्ता का श्रीगणेश होता है। और साथ ही यही स श्रीमती गाधी म व्यक्तिगत अविश्वास और असुरक्षा बोध की भी शुरुआत होती है।

व्यक्तिगत सत्ता हथियाने के रास्त पर 'गरीबी हटाओ' क नारा के बीच १९७१ का लाकसभा चुनाव सपन्न हुआ और श्रीमती गाधी के पक्ष की अभूत पूव जीत हुई। पर आग चलकर तब अविश्वास और असुरक्षा बोध म विस्फोट हुआ। जब १२ जून १९७५ का श्री राजनारायण श्रीमती गाधी के खिलाफ चुनाव याचिका म जीत गए। श्रीमती गाधी की यह हार क्या इतनी बडी थी कि इसकी प्रतिक्रिया म २६ जून १९७५ का देश पर आपातस्थिति लागू कर देश क सारे नताओ और समस्त विपक्ष का चुपचाप जेल म डाल दिया गया? हा, यह हार नही अहकार पर चोट थी। यह हार नही व्यक्तिगत असुरक्षा और अविश्वास की दुघटना थी। श्रीमती गाधी द्वारा आपातस्थिति की घोषणा इसी का फल थी।

प्रसिद्ध भारतीय पत्रकार सी० एस० पडित के शब्दों म 'उस दिन भारतीय राजनीति म नेहरू युग समाप्त हो गया।'[1] जे० पी० के शब्दों म "२५ जून १९७५ तक भारत दुनिया का सबस बडा लोकतंत्र था। २६ जून १९७५

[1] एंड ग्राफ एन एरा पृष्ठ १८०

स वह अधिनायक तन्त्र मे परिवर्तित कर दिया गया। २५ जून तक जनता इस देश की मालिक थी, परतु २६ जून स वह अधिकार छिन गया है और लोकशाही क स्थान पर एक व्यक्ति की तानाशाही कायम हो गई है।'

२६ जून १९७५ का देश म अचानक जो आपातस्थिति लागू हुई उसका स्वरूप और चरित्र क्या था ? वह चीज क्या थी ? अनुभव तो सभी न किया। हर स्तर के आदमी, हर तरह क समाज और पूरे देश न। खासकर समस्त हिंदी क्षेत्र और दिल्ली, पजाब, हरियाणा, राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, बगाल ने, और सबसे अधिक दिल्ली ने उस भोगा। जिस तरह स यह इमरजेंसी तानाशाही का भारतीय माडल थी, उसी क अनुरूप उसका माडल कार्यक्षेत्र दिल्ली और समूचा हिंदी क्षेत्र था। १८५७ मे यही क्षेत्र था १९४२ म भी यही क्षेत्र था और अब १९७५ म भी यही क्षेत्र था। यही सबस अधिक कडाई स प्रेस पर प्रतिबध लगाया गया। जनता के मूल अधिकार छीने गए। भयकर ढग से नसबदी हुई। आतक क जितने उपाय हो सकत ह सबके प्रयोग यही हुए। लाखो लोगो को सीखचो म बद कर दिया गया। एक अजब तानाशाही थोप दी गई।

इतना आतक और भय क्यो फलाया गया ? क्या सिफ इसीलिए नही कि श्रीमती गाधी सत्ता की कुर्सी पर बठी रह बल्कि मुख्य रूप स इसलिए भी कि जो जन आदोलन प्रजातान्त्रिक मूल्यो और अधिकारो के लिए हिंदी क्षत्रो स उठकर पूरे दश म फैलता जा रहा था और बहुत तजी स जो सपूर्ण क्राति की शक्ल लेत जा रहा था उसकी बुनियाद को ही खत्म कर दिया जाए ? जे० पी० के विचार एव लोकसघष से मजबूत होत हुए सगठनो को ही दफना दिया जाए ? वह राजशक्ति द्वारा लोकशक्ति को नष्ट करने का एक बहुत ही गहरा षडयत्र था। जून स लेकर अगस्त तक लाखो लोगो को गिरफ्तार कर दश की जनता मे आतक फैलान का उद्देश्य तो इस तानाशाही सरकार का था ही, साथ ही साथ यह देश मे भीतरी और बाहरी सकट का हौवा खडा कर जनता मे भ्रम पदा कर उस अपनी शरण म लन का भी उपाय था ताकि जनता यह समझे कि दश म जो भीतरी और बाहरी सकट खडा हुआ है, उस सरकार ही हल कर सकती है और देश मे आपातस्थिति की घोषणा कर जो दमन की कारवाई हुई ह, वह उसी सकट स निपटन के लिए की गइ है तथा यह दमन की कारवाइ भी देश और समाज के हितो के साथ हुई है। यही कारण है कि समाचारपत्रो म गिरफ्तार आदोलनकारियो के नाम और सख्या की जानकारी नही दी गई। अगर कोई तस्कर पकडा गया, चोरबाजार का माल जब्त किया गया, घूसखोर इसपक्टर मुअत्तल किया गया या किसी 'निकम्मे' अफसर को समय स पहले पेंशन दे दी गई तो उसका खूब ढिंढोरा पीटा गया। स्वभावत ऐसे लोगो के विरुद्ध कारवाई का जनता न स्वागत और समथन किया।

इस शक्ति के खिलाफ जेल के सीखचो के पीछे स, भूमिगत लोगो से

आवाजें उठी तो असलियत का पता चला कि हमारा प्रधान मंत्री कितनी निमम महिला हैं। उन्होंने तानाशाही का भारतीय माडल तैयार किया है। एक तरफ काफी हद तक सामान्य जन के जीवन में पुलिस का हस्तक्षेप नहीं, दूसरी तरफ इंदिरा की तानाशाही का सक्रिय विरोध करनेवाला, मुक्ति चाहने वाले गरीबों तथा किसान मजदूरों के सामाजिक आर्थिक शोषण के खिलाफ आवाज उठाने वालों को सेना की नंगी बबरता का सामना करना पड रहा है, उन्हें जेलों में बंद किया जा रहा है, उल्टा लटकाकर पीटा जा रहा है, पेशाब पीने के लिए मजबूर किया जा रहा है एक-दूसरे की जननेंद्रियाँ को मुंह में रखने के लिए क्रूर व्यवहार किया जा रहा है। उनकी मां बहनों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है। एक तरफ संसद चल रही है, संसदीय प्रणाली के औचित्य की दुहाई दी जा रही है, दूसरी तरफ विपक्ष के नेता जेल में नजरबंद हैं और मजबूर होकर इस्तीफा दे रहे हैं। संसद में कार्यवाही चल रही है और उसका पूर्ण विवरण भी समाचारपत्रों में प्रकाशित नहीं किया जा रहा है। एक तरफ 'गरीबी हटाओ' के नारे की तरह २० सूत्री आर्थिक कार्यक्रम का धुआंधार प्रचार हो रहा है, गरीब किसान मजदूरों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन की दुहाई दी जा रही है बडे बडे उद्योगपति घराने, देश के शोषक, उनके २० सूत्री आर्थिक कार्यक्रम का स्वागत कर रहे हैं? (क्या उनका हृदय परिवर्तन हो गया?) मजदूरों के बोनस और हडताल के अधिकार भी जब्त कर लिया गया है, मजदूरों और मजदूर नेताओं को इंदिरा के घोषित युवराज संजय के गुंडों एवं सेना से पिटवाया जा रहा है, मौत के घाट उतारा जा रहा है।

श्रीमती गांधी की तानाशाही के इस भारतीय माडल की विशेषताएं हमें अच्छी तरह समझनी चाहिए। इस तानाशाही के रचयिता अच्छी तरह जानते थे कि केवल सरकार के दमन से कोई क्रांतिकारी आन्दोलन, जिसने जन जीवन के बुनियादी सवाल उठाए हैं हमेशा के लिए नहीं दबाया जा सकता। इसलिए 'संपूर्ण क्रांति' को समाप्त करने की शक्ति सरकार के साथ साथ समाज के अंदर से भी निकलनी चाहिए ऐसी स्थिति पैदा होनी चाहिए कि संपूर्ण क्रांति समाज के दिलो-दिमाग से ही निकल जाए और वह खुशी खुशी सरकार के पीछे चलने लगे। सरकार की दृष्टि में अनुशासन का यही अर्थ था। इस दृष्टि से दमन के अलावा दो काम और किए गए—एक संगठन और दूसरा प्रचार धुआंधार प्रचार।

शहरों में रिक्शाचालक, गांवों में गरीब किसान से लेकर ऊपर तक लोगों ने महसूस किया—आज इंदिरा सरकार बहुत प्रगतिशील बन गई दिखती है। लेकिन यहां लोगों को यह अनुभव नहीं था कि हर तानाशाही सरकार झूठ और दमन पर टिकी रहती है। लोग सोचने लगे, सत्ताधारियों की तरफ से आज 'समाजवाद' का नारा बहुत जोरों से लगाया जा रहा है, लेकिन यह कोई नई

फिर काग्रेस को तोडना पडा इदिरा नहरू गाधी को। एक बार नही दो दो बार जिसे प्रधान मत्री की पूण सत्ता प्राप्त हुई, जिसे नेहरू से कई गुना अधिक सत्ता शक्ति हासिल हुई, जिसने उन्नीस महीनो तक भारत जसे देश पर ऐसी तानाशाही की, उसे अब भी इतनी सत्ता और महत्त्वाकाक्षा की इतनी भूख क्यो ? दरअसल इसके अलावा इस निर्मूल राजनीति मे और कुछ है भी तो नही। चूकि अपनी सत्ता कुछ नही है, भीतर केवल भय है असुरक्षा है, अहकार है, प्रतिशोध है, अपने और दूसरो के प्रति अविश्वास है तो बाहरी सत्ता के अलावा और विकल्प ही क्या है ? ऐसी स्थिति मे सत्ता हथियाने का एक ही माग है—बाटो, तोडो, खुद टूटो, जो नही हो वह बनो, जो है ही नही वही दिखो—यही है सत्ता राजनीति और इदिरा नेहरू-गाधी इस सच्चाई की अन्यतम उदाहरण हैं।

आपातकाल मे सविधान मे प्राप्त मूल अधिकारो की समाप्ति, प्रेस पर कडा से कडा सेंसर और हजारो को जेल भेजने पर इदिरा गाधी दावा करती नही हारी कि वे "सविधान के अतगत और प्रजातत्र को बचाने के लिए काम करती रही हैं।" और वह आज भी नही हारी हैं, कभी नही हारेंगी क्योकि हार तो उसी दिन हो गई जिस दिन ऐसी राजनीति का उन्हे हिस्सा बनना पडा।

इस सब के बावजूद श्रीमती इदिरा गाधी, आज जब केंद्र मे जनता पार्टी का सपूण शासन है, लोक नेता जयप्रकाश के समातर एक राजनेता हैं। इनमे राजनेता के वे सारे लक्षण है, तत्व हैं, साधन है, जिसे हम भारतीय राज ता कह सकते हैं—भारतीय राजनीति का राजनेता, मतलब चमत्कार कर देने वाला, ध्यान खीचने वाला, चर्चा, गप्प किस्सा कहानी का विषय बनने वाला, और अतत महान् दिखने वाला—विशेषकर अपनी बातो मे चरित्र चाहे जसा हो उसे कौन देखने आ सकता है। जिसका जितना बडा झूठ होगा उसकी उतनी ही बडी राजनीति होगी।

पद्रहवां अध्याय

राजनीति और हम लोग

आज हम जिस राज्य और उसकी राजनीति का देख रहे हैं वह 'इंडिया' की डिमाक्रेसी (पश्चिमी) से उत्पन्न राजनीति है, भारत के लोकतत्र या जनतत्र की राजनीति नही। पश्चिम मे उसकी अपनी डिमोक्रेसी और उसकी राजनीति का चरित्र स्वभावत आधुनिक है। परतु वही चूकि हमारी भारतीय मनीषा और सामाजिक बोध स बमेल है, विपरीत है, फलत उसी राजनीति का चरित्र यहा मध्ययुगीन है। राजमहल या जेल दो ही जगह है जहा हमारे यहा का राजनेता निवास करता है, बल्कि जहा उस निवास कराया जाता है। दोनो स्थानो पर सिपाही का पहरा रहता है। इसकी चरित्रगत विशेषताओ मे आडबर, दरबारी सभ्यता, झूठ और क्रूरता उल्लेखनीय है। मध्य युग मे कही एक तैमूर, एक नादिरशाह, एक बाबर—एक बार लूटकर चला जाता था, अब असख्य छोटे-छोटे तमूर और नादिरशाह लगातार लूटते रहते है।

चाहे कोई सत्तादल म हो या प्रतिपक्ष के किसी भी दल मे, आज की हमारी राजनीति ने सबको अपनी जगह से उठाकर राजमहल की खिडकी के पास खडा कर दिया है। सबको परधर्मी और लालची बनाया है। यह राजनीति मनुष्य को बेहतर बनाने, गरीब की गरीबी मिटाने के नाम पर अपना व्यवसाय करती है। इसे पता है कि इसका अस्तित्व हा निभर है मनुष्य के दारिद्र्य, दु ख, विपत्ति, सकट और उसके अज्ञान पर। यह मात्र बडी-बडी घोषणाए करती है—'गरीबी हटाओ', 'सपूर्ण क्राति', आदि पर वह मनुष्य कहा है जो यह काय करेगा? वह मनुष्य बनने या होने ही न पाए यही ता इसकी राजनीति है। उत्तम मनुष्य क्या, केवल मनुष्य बनने की प्रेरणा, अभिक्रम, उदाहरण और उत्साह ही वहा है?

भारत का राजनता सबस अधिक वाणी या भाषा का उपयोग करता है। वह तीन प्रकार की भाषा इस्तेमाल करता है—आध्यात्मिक भाषा, क्रातिकारी भाषा और बाजारू भाषा। पश्चिम का पत्रकार और राजनयिक इनकी भाषा से आश्चर्यचकित रह जाता है। उसकी समझ मे कुछ नही आता। भारत के

राजनता और व्यापारी मे पूरी तरह स समानता है। अगर असमानता है ता क्वल एक—राजनेता बिना किसी माल के, पूजी के अपना व्यापार करता है—इसीलिए इतनी बाते करता ह—सवा, देशसवा', आदि, और ध्यान रह कि मनुष्य सेवा नहीं, यहा तक कि अपने स्वास्थ्य की सेवा नही, केवल दशसेवा! और व्यापारी माल सामने रखकर अपना व्यापार करता है, और केवल 'लाभ' क लिए चुप्पी साधे रहता है।

इसके इस चरित्र का फल यह हुआ है कि समाज के स्थान पर व्यवस्था शक्तिशाली हो गई है। व्यक्ति की जगह परिवेश दुदम और अजेय हा गया है। लोग व्यवस्था से बिकने के लिए हर क्षेत्र मे 'केरियरिस्ट' बनने के लिए विवश हुए। इसलिए इस राजनीतिक परिवेश मे हर काई 'मेरी मागें' की लिस्ट लिए घूम रहा ह। वही परिवश उत्तरोत्तर अधिक माग, अधिक इच्छा, और अधिक भूख पैदा कर रहा है और वही अपने से सघष का नाटक भी रचाता है। वही दाता है, वही डाकू है, वही नियता है। एक हाथ से लेना दूसरे हाथ से देना। एक ओर माग की स्थितिया पैदा करना, दूसरी ओर दमन करना।

अक्सर हमारी वतमान राजनीति बच्चो के ससार से मेल खाने लगती है। वही रूठना, वही पुरानी बाते न भूल पाना, वही कुट्टी, वही मिल्ली, वही रागद्वेषमय व्यवहार। हर वक्त कुछ लने के चक्कर म। कहीं कोई मुझ से मरी चीज न छीन ले जाए, हर समय यही आशका और भय। तो अपनी चीजो और अधिकारो का रक्षा का केवल एक ही उपाय है—अधिक से अधिक शक्तिशाली होते चलने की महत्त्वाकाक्षा। इसी प्रक्रिया मे अतत श्रीमती इदिरा गाधी की तरह 'डिक्टेटर' हो जाना, और आत्म-प्रवचना यह कि इसे जनता, देश और लोकतत्र की 'सेवा' और 'रक्षा' कहना!

बचपन से चला आता हुआ पिता और पुत्र का वह रागद्वेषमय धसव और उसका जीवनबोध भारतीय राजनीति के चरित्र का महा लक्षण है। जसे बच्चा पिता का सबसे बडा विरोधी है और साथ ही पिता का सबसे बडा समथक और प्रशसक भी है। इस रागद्वष से बधा बच्चा, उम्र से चाह जितना वयस्क हो जाए, वह अपने प्रतिपक्षी से कभी भी पूरी लडाई नहा लड सकता। वह बार-बार उसके विरुद्ध छेडा हुआ अपना सघष अचानक बीच ही म रोक दने क लिए विवश हो जाएगा। क्योंकि वह अपने अवचेतन म उस शक्तिशाली सत्ता क प्रति एक ही साथ प्रेम और विरोध दोनो कर रहा है। अग्रेज सत्ता क खिलाफ गाधी का सघष आदोलन और कुछ समय क बाद उसको रोक दना उसी मनोविज्ञान का माध्य है। गाधी के बाद लोहिया और जयप्रकाश नारा क जवाहरलाल नहरू और काग्रेस सत्ता के खिलाफ सघर्षों म वही एम्बावलेंस रागद्वेषमय अन्तविराध है। एक ही साथ सत्ता क प्रति विरोध

और सत्ता के प्रति आदर यह हमारे राजनीतिक चरित्र की ही मुख्य विशेषता नहीं, यह हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक चरित्र भी हो गया है।

इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि सत्ता का जो विरोधी है, वह विरोध की ही राजनीति में अपनी पूरी क्षमता और अपना पूर्ण व्यक्तित्व दिखाता है। पर अगर उसे सत्ता के पक्ष में, सत्ता चलाने, राज चलाने की जिम्मेदारी मिल जाय तो वहां वह उदास हो जाता है। सत्ता का साथ देने में मानो उसकी सारी अस्मिता मुरझा जाती है। प्रतिपक्ष के प्रसिद्ध भारतीय नेता इसीलिए सत्ता में जाने से घबड़ाते हैं। और अगर सत्ता में चले भी गए तो सत्ता की कुर्सी पर शरमाते रहते हैं। जाने-अनजाने हर वक्त उनका यही प्रयत्न रहता है कि वे सत्ता के विरोध में आचरण करें। दरअसल विरोध की राजनीति करने-वाले और सत्ता चलानेवाले की मानसिकता में एक मूल अंतर है। जो क्रांति करता है वह सत्ता पाकर देश की रचना नहीं कर सकता, यह राजनीति की सीमा ही नहीं, कटु विरोधाभास है।

शक्ति के प्रति उचित सामंजस्य और संबंध न रख पाने की असमर्थता से यह विकार या विरोधाभास पैदा होता है। प्रायः देखा जाता है कि जो जितना ही कमजोर है, वह उतनी ही शक्ति चाहता है। फल यह होता है कि उसके पास जितनी ही शक्ति इकट्ठी होती चली जाती है वह उतना ही अधिक कमजोर बल्कि भयभीत होता जाता है, क्योंकि सच्चाई यह है कि सारी कमजोरी तो भीतर है, बचपन से ही अवचेतन जगत् में इकट्ठी होती गई है। इसलिए बाहर की उसकी सारी शक्ति से उसका कोई संबंध या तारतम्य नहीं है। वह सत्ताधारी है पर खुद शक्तिधारी नहीं है। शक्ति का स्रोत वह खुद नहीं है। शक्ति तो उसके लिए केवल प्रतिक्रिया है जिसकी क्रिया उसके भीतर है, उसके अवचेतन में—आह! मैं कितना निर्बल हूं। कितना अकेला हूं मैं। सारे लोग मेरे दुश्मन हैं! मुझे कोई नहीं समझता। मैं एक-एक से बदला लूंगा—हर शक्तिशाली राजनेता का यही सनातन रुदन है।

हमारे यहां व्यक्ति, समाज और राज्य—यही तीनों बुनियादी इकाइयां रही हैं और यह महत्त्वपूर्ण बात कभी नहीं भूलनी है कि ये तीनों अन्योन्याश्रित हैं और एक दूसरे के निर्माण, संरक्षण और अभ्युदय की उत्तरदायी हैं। व्यक्ति पूर्णतः आत्म व्यवस्थित रहे और सुरक्षित रहे ताकि अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त कर सके इसके लिए समाज अनिवार्य है। समाज व्यवस्थित रहे और सारा लौकिक जीवन (लोक, मानें जो कुछ भी दिख रहा है—अवलोकित है जो कुछ, वही लोक लौकिक है) अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त हो, इसके लिए ऐसे समाज की रक्षा, व्यवस्था के लिए राज्य अथवा शासक की अनिवार्यता है। व्यक्ति समाज और राजनीति के परस्पर तारतम्य को ही धर्म नाम दिया गया। व्यक्ति समाज और राज्य इन तीनों घटकों का

समान लक्ष्य चूंकि अभ्युदय और नि श्रेयस है इसीलिए ये तीनो अन्योन्याश्रित ह। इसीलिए यह धम ह, व्यक्ति से व्यक्ति धम, समाज से समाज धम, राज्य से राज्य-धम। इस प्रकार धम भी वही है जिसके द्वारा अभ्युदय और नि श्रेयस की सिद्धि हो। मतलब जिससे व्यक्ति, समाज, राज्य म परस्पर मर्यादा व्यवस्था बनी रहती है वही धम है। धम वह साधन ह जो मनुष्य के द्वारा अथ और काम, के उपभोग को मर्यादित करता हुआ उसे मोक्ष (फल) की ओर ले जाता है। पर केवल इतना कह देने से मोक्ष फल नहीं प्राप्त होगा—यह सत्य है। इसी-लिए सपूण समाज जीवन की योजना भी इस ढग से की हमने जिसम व्यक्ति के ऊपर मर्यादा रहे। वह अनुशासित जीवन जिए। इसके लिए राज्य या शासक का यह बुनियादी कतव्य था कि समाज म चारो ओर ऐसा वातावरण हो सके कि व्यक्ति ऐसा गुणात्कष कर सके कि वह फल' को प्राप्त हो। आश्रम व्यवस्था वण व्यवस्था और जीवन के प्रत्यक क्षेत्र म 'मर्यादा का विधान कभी इसीलिए बनाया गया था।

परतु जब एक बार 'धम व्यवस्था और मर्यादा के टूटने से समाज म पतन प्रारभ हो जाता है तो वह बढता ही चलता है। ऐसे समय व्यवस्था और मर्यादा बनाए रखने के लिए किसी शक्ति की, अर्थात् राज्य की आवश्यकता होती है। जब राज्य की आवश्यकता सिद्ध हो गई तब राज्य को अपना काय करने के लिए शक्ति की भी आवश्यकता हुई। वह शक्ति दड देने की शक्ति के रूप म राजा या राज्य को प्राप्त हुई। शुक्र नीति से लेकर व्यास चाणक्य और मनु तक राजा की दड शक्ति के बारे में इस तरह कहा गया ह कि राजा काल का समय का कारण है। अथात समाज के अदर अच्छा समय रहता है या बुरा, यह राजा या राज्यकर्ताओं पर निभर है।

पर उल्लेखनीय तथ्य यह है कि वह राज्य सदा समाज के अतगत रहे अथात् समाज के अनुसार उसके अधीन चले यह थी हमारी प्रतिज्ञा। मनु स्मृति में कहा गया है कि राजा को धममय होना चाहिए उसका अथ यही है कि समाज के हित म, समाज को प्रमुख मानकर राज्य का काय चलना चाहिए। तभी राजा को धमराज' की सज्ञा मिली ह। कौटिल्य ने कहा है कि उपेक्षित होने के कारण यदि धम, अधम द्वारा नष्ट किया जाता ह तो वह राजा को, शासनकर्ता को ही मार देता है। हमारे पूवजो ने राजा के धममय होने पर जो इतना बल दिया है उसका अथ और उद्देश्य यही है कि राज्य समाज को नष्ट न होने दे न राज्य समाज पर हावी हो जाए। उनके अनुसार धमराज्य का मूल कतव्य यह है कि जो नियम समाज नियताओ ने बनाए है अथवा जिन नियमो प्रथाओ परम्पराओ का विभिन्न समाजो म पालन होता ह उन्ही अथवा उनकी ही भावना के अनुकूल नियमो को राज्य को मान्यता देनी चाहिए तथा उन्ही को ध्यान म रखकर शासन करना चाहिए। धमराज का यह अथ

कदापि नहीं कि किसी सम्प्रदाय विशेष का राज्य पर प्रभुत्व हो। यह तभी सभव है जब राज्य समाज के अधीन हो। और तभी ऐसे समाज म व्यक्ति का अभ्युदय और नि श्रेयस की प्राप्ति दोनो सभव है।

यहा जो कुछ भी है सब उसी 'फल' की ओर उन्मुख है। यहा की सारी व्यवस्थाए, सारा वाडमय, सारी कलाए विद्याए, मनुष्य के सारे उद्योग और कम उसी चिरतन फल की ओर गतिमान है। अत इस समाज व्यवस्था का सरक्षण और इस बात का ध्यान कि कोई उस भग न करे, सब लोग स्वधम का पालन करे यह दायित्व राज्य का है—इसी को राजा राममोहन राय तिलक, गोखले, टैगोर, अरविंद और गाधी ने 'स्वराज्य' कहा है। प्रकट है कि स्वराज्य का मूल व्यक्ति है क्योंकि 'स्व' का बुनियादी सदभ और प्रसग वही से है। इसलिए स्वराज्य की कल्पना केवल भारतीय कल्पना हो सकती है—पश्चिम की कल्पना म राजतत्र अधिक स अधिक प्रजातत्र ही हो सकता है। क्योकि वहा व्यक्ति नही 'इडिविजुअल' है और वह सामाजिक पशु है—इसीलिए वह राजनीतिक पशु भी है—यह बात उनके पुरखा न मानी और कही है जिनम अरस्तू का नाम ज्यादा उल्लेखनीय है। तभी पश्चिम की डमाक्रेसी प्रजातत्र म राजतत्र इतना प्रबल है अर्थात राजनीति इतनी शक्तिशाली है।

पर हमारे यहा ठीक इसका उल्टा है। हमारे यहा समाज एक आवयविक जीवित सगठन है। समाज नतिक आधार पर खडा है राज्य केवल शक्ति की नीव पर है। समाज साधन और लक्ष्य दोनो है—प्रजातत्र म समाज केवल राजतत्र का साधन है।

हमारे यहा चूकि मूल व्यक्ति है—इसलिए वही स्रष्टा है, इसीलिए वही ब्रह्मा है। और उसका कोमल रूप, विष्णु रूप समाज है और उसी का रौद्र रूप राज्य है। यहा है त्रिमूर्ति की हमारी कल्पना। इस त्रिमूर्ति म सबस अधिक महत्त्वपूर्ण है वही कोमल, विष्णु। रुद्र उसी कोमल की रक्षा के लिए है। राम और कृष्ण उसी कोमल के अवतार है। सारा भागवत धम, सारे मूल्य, सारी कलाए उसी कोमल स निकली है। स्वतत्रता वही कोमल तत्त्व है। व्यक्ति का वही 'स्व' तत्र है। यह स्वतत्रता राज्य या राजनीति का विषय नही, यह सास्कृतिक विषय है। पर जो राजनीति या राज्य व्यक्ति की स्वतत्रता की जिम्मेदारी या अधिकार अपने हाथ म लेता है वह स्वभावत समाज की सत्ता का विनाश करता है और उस खाली स्थान की पूर्ति करना चाहता है व्यवस्था स। जिस दिन स गोरे हमारे बीच स गए उसी दिन स राजव्यवस्था समाज के विनाश म लग गई। यही अनिवार्य था। उस पश्चिमी प्रजातत्र का यही फल था।

हमारे यहा की मिट्टी ही दूसरी है, 'बीज' और 'वृक्ष' दो अलग प्रकार का है। उसके अनुसार राज्य पर समाज का नियत्रण, राज्य तत्र पर लोक तत्र

का नियत्रण हमारी अपनी राजनीतिक विशेषता है। यह राजनीति हमारी सस्कृति का एक पक्ष है, एक आयाम है, इसके अनेक पक्षा और वहु आयामा म स। क्योकि हमारी ता जीवन परपरा ही रही ह गण राज्य या सघ राज्य की जा पश्चिमी डिमाक्रेसी (राजतत्र) से सवथा अलग है। पश्चिम की यह डिमाक्रेसी वहा के कुल तत्र (ओलिगार्की) की परपरा का फल है। हमारे यहा अभी हमार गणराज्य या सघ राज्य के वृक्ष म लोकतत्र या जनतत्र फल' आन की प्रतीक्षा है। गाधी का 'ग्राम स्वराज उसी गणराज्य परपरा मे आनेवाला लोकराज्य अथवा लाक तत्र होता।

गाधी के बाद 'लोक तत्र और 'जन तत्र' के लिए डा० लाहिया और जयप्रकाश ने सारा जीवन लगा दिया पर सहज समुचित फल नही आया। क्योकि इसके लिए लोहिया और जयप्रकाश ने जो भी लडाई की वह केवल राजनीतिक स्तर पर थी। जबकि यह लडाई सास्कृतिक है—समाज और धम अर्थात कामल (विष्णु) स्तर पर सपूण युद्ध, तव लाक्तत्र नही लाक राज्य का 'फल इस देश का मिलेगा।

हमारे यहा लाक का नियत्रण राज्य पर रहा—इस क्रम मे तव तक वाधा नही पडी जब तक अपना राज्य रहा। यवन, हूण आदि आक्राता भी इसे नही तोड सके। यहा तक कि मुस्लिम शासन के अतिम दिना तक जब शिवाजी सिंहासनासीन हुए, तब भी यही क्रम जीवित था। पर जिस दिन से अग्रेजा ने यहा राज्यसत्ता सभाली उन्होने हम हमार आधार स ही अलग कर देने का काय शुरू कर दिया। लोक को राज्य से कुचला। समाज का राजनीति स तोडा। कतव्यनिष्ठा के वदले अधिकार लिप्सा को भरा। अग्रेज चले गए पर उन्होन राजतत्र और राजनीति की जो विष वन लगाई वह बढती चली गई।

हमने पिछल पृष्ठो स देखा है कि धम से विहित जो राजधम है उसके दो लक्ष्य ह— अभ्युदय आर नि श्रेयस। पहल लक्ष्य म भातिक उदय और दूसरे लक्ष्य म आत्मक, भीतरी उन्नति अथात् स्व राज्य। पहले लक्ष्य की प्राप्ति के विना दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति असभव है। और दूसरे के बिना पहला अधूरा और अथहीन है। चाणक्य के अथशास्त्र म अथ का यही अथ है। इसीलिए राजधम के सपूण विचार म वार वार इसी बात पर बल दिया गया है कि राजधम तभी सफल ह, अथवान ह जब धम अथ और काम इन तीना को अयोयाश्रित मानकर समान रूप स विकसित और सिद्ध किया जाए। व्यास स लेकर चाणक्य तक और यहा तक कि ग्यारहवी सदी के आचाय सामदव तक यही विचार है कि धम अथ और काम—इन तीनो म स किसी एक का बल जिस अनुपात म कम हो जाएगा, लाक (व्यक्ति और समाज) उतना उसी अनुपात म विकृत हो जाएगा।

लाक की इसा विकृति स निमूल राजनीति का वृक्ष यहा पनपा और इतन

विकराल रूप मे आज हमारे सामने है। और उस लोक विनाश और विकृति के दो फल इस राजनीति-वृक्ष मे लगे—एकांगिता और निर्वीर्यता।

हमने पहले इस तथ्य को देखा है कि कैसे हमारा जीवन संकल्प से केवल विकल्प के संसार मे परिसीमित हो गया और इसका क्या फल हुआ। हम पराधीन हुए। उस लंबी पराधीनता मे हमारा वही लोक (लोक माने पश्चिम का 'फोक' नही—लोक, अर्थात् लोक्यते जितना भी कुछ दिखता है—तभी हमारे यहां देखने को 'लोकना' कहते है, अर्थात् जितना भी हमारी इन्द्रियों के माध्यम से सशरीर—रूप लोक—दिखता है हम वाङमय के माध्यम से जितना अरूप है, जिसे नाम लोक कहते है और इन सबको मिलाकर जिससे नाकिक बना है) विनष्ट, विकृत हुआ। इसी लोक विकृति से निकली यह विकृत राजनीति। इस तरह विकार का मूल लोक ही है। लोक मानस मे ही पहले वह एकांगिता आई। अर्थ को, धन को, एकांगी रूप मे लिया जाने लगा। संपूर्ण चेतनाओं मे केवल एक चेतना—अर्थ प्रवृत्ति, केवल लेना जैसे भी हो केवल लेना—लोकमानस का यही लक्ष्य बन गया। उन्नीसवी सदी से लेकर आज तक जिस तरह हमारा उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, व्यवसायी वर्ग और इसके कारण शेष नीचे का समाज धन, पद, नौकरी, लाभ और विवेक' की ओर दौड़ा है वह सबके सामने है। इसी एकांगी लोकमानस से स्वभावतः एकांगी लोकनायक निकले—अध्यापक, लेखक, कलाकार, धर्म नेता, विचारक और सुधारक। इस तरह बुनियादी तौर पर लोक को पहले लोकनायकों से उतना नही मिला कि उसकी विकृति समाप्त होती। फलतः एकांगी लोकचेतना के अनुरूप लोकनेता—अर्थात् राज-नेता—अर्थात् राजनीति करनेवाले मिले।

उस विकृत लोकचेतना को सुकृति मे बदलने के लिए धर्म, दर्शन विचार, सुधार, नवजागरण, नवचेतना, राष्ट्रीय जागरण और पुनर्निर्माण के स्तर पर विवेकानंद दयानंद, राजा राममोहन राय, तिलक, गोखले, टैगोर, अरविंद और महात्मा गांधी ने जो कार्य किए उसी का फल था कि तिलक से लेकर गांधी तक की राजनीति संस्कारित, सुकृत लोकचेतना के ही अनुरूप और उसी अनुपात मे सुकृति की राजनीति थी। पर यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि भारत की इतनी लंबी पराधीनता और इतने बड़े विकल्पजीवी जीवन के कारण जितने गहरे और व्यापक स्तर पर हमारा लोक विकृत हुआ उसे सुकृत करने मे विवेकानंद से लेकर गांधी तक जितना लोक संस्कार और लोक जागरण का काम हुआ है, उससे चौगुने कर्म और प्रयत्नो की दरकार थी।

पर ठीक इसके विपरीत गांधी के बाद आज तक लोक संस्कार और लोक जागरण का वह कार्य ही रुक गया। इसके नाम पर जो कुछ भी हुआ, वह राज्य या सरकार की ओर से हुआ। डा० लोहिया और जयप्रकाश की ओर

से जो लाक परिष्कार और लोक जागरण का काम हुआ उसका मूल चरित्र राजनीतिक था, इसलिए यह एकागी था। दर असल यह कम राजनीतिक नही सास्कृतिक है। यह एकागी नही सपूण है। इस सच्चाई का तिलक और गाखले न पकडा था तभी गाधी न उन्ह अपना पथप्रदशक और गुरु स्वीकार किया। जितना भी लोक गाधी के सपक म आया उसम पुन धार्मिक आस्था क्यो जग गई वह फिर से स्व राज्य स्वाधीनता के लिए क्यो तडप उठा इसका मूल कारण यही था कि गाधी ने वह कम धार्मिक आध्यात्मिक अर्थात् शुद्ध सास्कृतिक चरित्र से किया। पर ठीक इसके विपरीत नेहरू लाहिया और जयप्रकाश के कम मे जो लोक उनके सपक म आया उसम अधिकार के प्रति भूख और सत्ता प्राप्ति के प्रति लिप्सा पैदा हुई। समाजवादियो मे अपवाद आचाय नरेंद्र देव ही ऐसे पुरुष थे जो गाधी के उस काय को उसी स्तर और चरित्र से कर सकते थे। पर लोक चेतनाहीन परिवेश म राजनीति किस तरह सस्कृति का धक्के मारकर एक किनारे कर देती है इसके उदाहरण है आचाय नरेंद्र देव।

निर्वीयता इस राजनीति का दूसरा फल है। इस राजनीति से जो राज तत्र निकला है वह मनुष्य को बेइमान तिकडमी भूठा और प्रपची बनाता है—क्योकि अगर ये तत्त्व या गुण मनुष्य म नही है तो वह इस राज तत्र और इसकी व्यवस्था म विनष्ट होकर रह जाएगा। क्योकि इस राजतत्र न अपने पास इतना अपार बल (व्यक्ति और समाज दोनो के बल हरण कर लिए गए है।) सचित कर लिया है कि उसका सदुपयोग ही यह भूल गया है। ठीक इसके विपरीत राजधम म बल का धम या विवक के अनुसार जो प्रयाग होता था और जिसकी सना थी दडशक्ति, उसका डर राजा समाज और व्यक्ति इन तीनो इकाइयो पर समान और निष्पक्ष रूप म था। तभी उस समाज म इतनी सगति थी तारतम्य था फलत इतनी सुख शाति थी। पर राजनीति के राजतत्र म उस दडशक्ति के स्थान पर शक्तिशाली और बलवान के प्रति पक्षपात है कायरता है और निबल क प्रति क्रूरता और अन्याय है।

चूकि लोक म साहस, हिम्मत और सकल्प नही है इसलिए इस राजनीति म भी फलत साहस, योग्यता ('गटस') और सकल्पशक्ति (विल) नही है। चारो तरफ महगाई और भ्रष्टाचार को रोकने से लेकर शाति और व्यवस्था की स्थापना तक इसम दड शक्ति का इस्तमाल करन की अक्षमता और निर्वीयता प्रकट है। इसी राजनीति म एक ओर यह भूठ फैला है कि शक्ति बुरी चीज है और दूसरी ओर यह असत्य फैला है कि जो सत्ताहीन है वह कुछ नही है।' सत्ता और शक्ति क बीच जो अतर्विरोध और असामजस्य वह इसी राजनीति का अपूव फल है। जिसके पास सत्ता है वह भी दुखी वह भी वचन और

भयभीत और जिसके पास वह सत्ता नहीं है वह भी दुखी बेचैन और भयभीत। जिसके पास सत्ता है उसके दुःख बेचैनी और भय का मूल कारण यह है कि वह बेहद डरा हुआ है कि किसी भी क्षण उसकी सत्ता छिन जाएगी, क्योंकि उसने खुद किसी से छीनकर इसे लिया है। वह उसकी आत्म-प्राप्ति नहीं है। और जिसके पास सत्ता नहीं है वह इसलिए दुखी, बेचैन और भयभीत है कि वह अपनी तुलना उसी सत्ताधारी से करने को मजबूर है। जिसके पास शक्ति है, बल है वह उसका प्रयोग नहीं जानता तथा जिसके पास नहीं है वह शक्ति और बल को पाप (ईविल') समझता है। इसलिए अनंत शक्ति दाता के लिए पाप और अपराध है। जबकि वास्तविकता यह है कि शक्ति ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है इस जीवन और जगत का।

सत्ता और शक्ति के प्रति इसी अंतर्विरोध के खट्टे फल है डा० लोहिया और जयप्रकाश। सत्ता और शक्ति के प्रति दुरुपयोग के कड़ुए फल हैं जवाहर-लाल नेहरू और श्रीमती गांधी। सत्ता और शक्ति का दुरुपयोग करें हम और हमीं यह फैसला दे दें कि सत्ता और शक्ति पाप है, इस राजनीति की मूल राजनीति यही है। इस राजनीति का फल यह है कि सारा लोक इस पाप का अपार कष्ट और पीड़ा भोग रहा है और सारा राजतन्त्र और राजनेता वर्ग इस पाप से अपार सुख सुविधा का उपभोग कर रहा है। राजनेता किसी भी राजनीति प्रकार का हो वह सुख सुविधा और मजे का हकदार होगा। इसीलिए इस राजनीति के संसार में हर राजनीतिक कार्यकर्ता जो अच्छा कार्यकर्ता नहीं है, नेता बनने की वसंत्री और होड़ में लगा है। उसे क्या मतलब देश क्या है, नीति और नैतिकता क्या है जीवन मूल्य क्या है, उसके उद्देश्य क्या हैं? क्योंकि वर्तमान लोक में ही इन तत्त्वों और मूल्यों का कोई मतलब या संबंध नहीं है। लोक का भी सिर्फ यही मतलब है कि चाहे जैसे भी हो उसकी अपनी इच्छा पूरी हो जाए। जैसे आज हर यूनियन वाला यही चाहता है कि देश चाहे भाड़ में जाए उसकी मांग पूरी हो, ठीक उसी तरह हर राजनीतिक दल का यही प्रयत्न है कि चाहे जैसे भी हो सत्ता उसके हाथ में आ जाए। इसी-लिए जो वर्तमान पिंड में है स्वभावतः वही राज्य रूपी ब्रह्मांड में है और सब से ज्यादा विरोधाभास इस राजनीति का यह है कि इच्छा किसी की यहां नहीं पूरी हो सकती, सत्ता यहां किसी को नहीं प्राप्त हो सकती। एक इच्छा पूरी होते ही यह राजनीति हम में दूसरी इच्छा पैदा कर देती है। फिर शुरू होती है प्रतियोगिता। समझौते होने लगते हैं और लोग बिकने लगते हैं। मूल्य और आदर्श दांव पर चढ़ाए जाने लगते हैं।

जो हमारे लोक में है वही होगा हमारी राजनीति में। मैकाले की शिक्षा और उसी की विरासत में हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में शिक्षित विद्वान्, राजनेता आदि राजनीतिक भ्रष्टाचार को आयोगों द्वारा दूर करना चाहते हैं,

जहा ¯सका उद्गम है, स्रात ह, उधर किसी का ध्यान ही नही। माता पिता, गुरु, अध्यापक, लेखक, पत्रकार सेठ-साहूकार, क्लाकार, सत साधु, योगी, विचारक, सुधारक सब राजनेता का मुह निहार रह ह और राजतत्र के सामन हाथ जाडे, सिर झुकाए खडे ह। यह राजनीति लाक जल की वह मछली है जा अपनी पूछ की तरफ से स्वय को ही खा रही है।

इस राजनीतिक मेल से एक विचित्र कल्पना लाक का निर्माण हुआ है—जा अपनी प्रकृति म शिशु जगत-सा है। कोई बच्चों जैसा स्वप्न दखता है कि गरीबो मिटा देग।' कोई कहता है सिहासन खाली करा कि जनता आती है। लाहिया कल्पना लोक से कहत है कि प्रजातत्र नही जनतत्र', 'गरीबा का राज। जयप्रकाश उसी कल्पना लाक म दखत ह सपूण क्राति। लाहिया कहते है 'सारी व्यवस्था बदल दो।' ज० प्र० का विचार ह— सारी व्यवस्था खत्म करा।

ऐसे कल्पनालोक के राजनीतिक शब्द क्या गाधी के मुख स कभी निकले थ? नही कभी नही क्याकि वह राजनीति नही कर रह थे। बल्कि इस प्रकार की राजनीति के गाधी सबस बडे शत्रु थे। इसीलिए किसी तरह यह राजनीति अपने ससार से उसी गाधी का बाहर निकालकर आराम से रहना चाहती है। वह लोक को जगा रहे थे, उसे सस्कार दे रह थे। वह कह रह थ कि लाक से, 'मेरा देशप्रेम मेरे धम द्वारा नियत्रित है। मैं भारत से उसी तरह बधा हू जिस तरह कोई बालक अपनी मा की छाती से चिपटा रहता है क्याकि मैं महसूस करता हू कि वह मुझे मेरा आवश्यक आध्यात्मिक पाषण देता है। यदि किसी कारण से मरा यह विश्वास हिल जाए या चला जाए ता मरी दशा उस अनाथ के जैसी होगी जिसे अपना पालक पाने की आशा हा न रही हा।' ('यग इडिया, ६-८ २१)

गाधी का सारा युद्ध लाक विकृति के खिलाफ चला था। वह उसे विकृति स सुकृति की आर ल जा रह थे आर इस प्रक्रिया म वह स्वय अपन अधकार से प्रकाश की आर बढ रह थ। वह दाहरा फल था उस कम म। पर इस राजनीति म दोहरा दुभाग्य दोहरी निष्फलता है। विकृत लाक स विकृत राजनीति फिर इस राजनीति स उस लाक का कई गुना विकृत बनाना आर बनात चले जाना, और अत म उस लाक का समूल नष्ट कर नीच स ऊपर तक उसके स्थान पर व्यवस्था का दल का राजतत्र का एक जाल फला दना। इस तरह इस राजनीति की एक ही चरम परिणति है—तानाशाही, डिक्टेटरशिप, अधिनायकवाद। साम्यवाद और पूजीवाद य दानों रास्ते उसके लिए समान हित और साधन के हैं। काल मार्क्स म नही लकिन साम्यवाद म ता व्यक्ति है ही नही, लाक नगण्य है वहा कवल वग ह और वर्गों म परस्पर द्वष, घृणा और सघष उत्पन्न कर अत म कवल एक राज्य, कवल एक दल और कवल

राजनीति ही लक्ष्य है।

वतमान राजनीति के अतगत भारतीय लाक का समभने का एक महत्त्व-
उदाहरण हम १६७५-७६ के आपातकालीन समय म मिला। साये हुए
क म अचानक क्राध और निषेध का भाव कहा से अचानक पैदा हा गया?
सकी एकागी वृत्ति स्वाथ आर निर्वीयता पर चोट लगी ता प्रतिक्रियावश
ोध जागा। जसे कोई बखबर सो रहा हा और दूसरा काइ आकर उसकी
ाक मे सीक घुसेड द ता साने वाला हडबडाकर जागगा आर सीक घुसेडने
वाले का प्रतिक्रियावश एक झापड मारकर फिर सो जाएगा। भारतीय
लाक न इस तरह उमे विघ्न डालन वाली राक लगान वाली श्रीमती
इदिरा गाधी का व्यवस्था को क्रोध म आकर वदल दिया और फिर वह
लोक अपनी उसी गहरी निद्रा म सो गया। इस पूरी घटना या दुघटना का
हम इस तरह भी देख सकत ह कि जहा सारा लोक लूट रहा था एक दूसरे
का वहा उस सामूहिक लूट पर प्रतिबध लगाकर केवल एक' लूट उसके
विरुद्ध सारा क्राध और असताप था लाक का।

इस तरह लाक द्वारा राज सत्ता म वदलाव हुआ पर परिवतन नहीं
हुआ। सत्ता नाममात्र मे वदली, पर राजव्यवस्था वही की वही रही। ठीक
जैसे १६४७ म हुआ—सत्ता अगरेजा के हाथ से भारतीया के हाथ म
हस्तातरित' हुई, पर वह भारत की अपनी लाकसत्ता नहा हा सकी।
जवाहरलाल नहरू के खिलाफ राममनाहर लोहिया की सारी लडाई का यही
मुद्दा था। और वही मुद्दा अब तक ज्या का त्यो ही नही तब से आज और
विकराल रूप म सामन है। कहने का यह जनता सरकार है पर कहीं नहीं
है 'जनता'। जनता आज भी केवल वाट', प्रदशन' भीड और 'रली' के
हो लिए है। पहले काग्रेसी सरकार और उसकी राज व्यवस्था के खिलाफ
समाजवाद, जनसघ आदि का इतना जबदस्त प्रतिपक्ष था। इससे भी ऊपर
सर्वोदय विनाबा और जयप्रकाश का उतना नतिक भय था आज काई भय
नहीं काई प्रतिपक्ष नहीं। विनाबा जसे रह ही नहीं, जयप्रकाश वतमान
व्यवस्था के अग हो गए आर सारा लाक फिर अपनी उमी 'एकागिता' और
निर्वीयता' मे आकठ डूब गया।

लवी गुलामी आर अपनी कुछ व्याधिया के कारण हम अपन भारतीय
आधार से अलग हाकर वहन' के लिए मजबूर हुए। ऊपर मे इस राजनीति
न उस 'व्यक्ति' चेतना का मारकर उसके स्थान पर व्यवस्था का समादत
करना चाहा है। व्यक्ति का इडिवीजुअल' म बदल दन की साजिश का यही
मम है। इसलिए व्यक्तिगत दायित्व के स्थान पर निजी भाग' स्वतत्रता की
अभिव्यक्ति के स्थान पर 'अभिव्यक्ति की स्वतत्रता' पर आज इतना आग्र
है। क्योकि ये दाना चीजें केवल उसी छाट से वग के लिए मतय हैं जिस

गाधी के बाद गाधी की लोक नीति या गाधी नीति का क्या हो गया कि वह भी सवथा निस्तेज हो गई। क्या कोई एकांगिता गाधी म स्वय थी? हमन देखा है कि विरोध की अवस्था म गाधीवाद के बारे म जो स्वरूप रहता ह सरकार की अवस्था म उसका वह स्वरूप सवथा बदल जाता है। ऐसा माक्सवाद म नही है। नम्बू द्रिपाद के माध्यम से माक्सवादी विरोध की अवस्था मे और माक्सवादी सरकार की अवस्था म, दानो म इतना गुणात्मक परिवतन या अतर नही होता जितना गाधीवाद म। क्यो? सब कुछ के बावजूद गाधी का जगत एक श्रेष्ठतम मन' का, भावना' का ही जगत है। यह विरोध म ही खिलता ह। सघष म ही पनपता ह। पर समाज रचना राज्य रचना मन या भावना से अथात अहम्' से नही होती। यह रचना होती है 'इदम्' मे, सकल्प जिसका स्वरूप ह। और इसम सहार और विनाश कम उतना ही अनिवाय और अपेक्षित है जितना कि निमाण। गाधी अपन विरोध म भी केवल निमाण थे। वे हमारी सस्कृति और धम के केवल ब्रह्मा और विष्णु पक्ष थे। त्रिमूति शिव के बिना खडित थी अपूण थी। शिव के बिना विष्णु की रक्षा न हो सकी। निर्माण हुआ गाधी के व्यक्ति से (ब्रह्मा) परतु उसका सरक्षण और नवनिर्माण न हो सका शिव के बिना।

गाधी म इस शिव पक्ष के अभाव के ही कारण स्वय महात्मा म और उनके दोनो उत्तराधिकारी जयप्रकाश और लोहिया म राज्य के प्रति अव्यवहारिक यहा तक कि असामाजिक रवैया है। इन तीनो की विचारधारा (मूलत गाधी की) तत्त्वत राजसत्ता विरोधी विचारधारा है। दरअसल जब हम राज्य या समाज या लोक के समकक्ष या उससे स्वतत्र मानने लगते है तो प्रकारातर से हम रज्य को लोक से बडा और शक्तिशाली मानकर निरकुशता और तानाशाही को न्योत रहे होते ह। शायद इसी विरोधाभास के कारण गाधी जयप्रकाश, लोहिया और आचाय नरेंद्र देव जसे पुरुष राजसत्ता म आने से सदैव बचते रहे। इन्ह पता था कि राजसत्ता से अलग रहते हुए ही य अहिंसा और सत्याग्रह की नतिक शक्ति पर चल सकते थ, राजसत्ता म आते ही इन्ह अपनी अग्नि-परीक्षा देनी होगी। और, हम साधारण लोग अपनी अग्नि परीक्षा दे ही नही सकते, क्योकि हम व्यक्ति' तो रहे नही, हम तो इडिविजुअल' हो गए। पूरी काग्रेसी राजसत्ता और राजनीति की एकांगिता और निर्वीयता का यही कारण है। स्वभावत काग्रेस के प्रतिपक्ष म भी जितने विरोधी दल है और उनकी रजनीति ह उन सब म इन तीस वर्षो म यही एकांगिता और निर्वीयता सवत्र उजागर है।

व्यक्ति और समाज के बिना लोक' नही है, लोक के बिना राष्ट्र नही है, और इनके बिना राज्य नही है। इसी का मम खुलता है हमारे यहा के प्राचीन सगीत और साहित्य मे—विशेषकर नाटय मे, नाद विद्या म, जहा

स्वरो और रस का सृजन और निष्पत्ति खा जाने के लिए नही, बाटने के लिए नही, वरन् विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो मे एक आतरिक रिश्ता कायम करने (समाज बनाने) के उद्देश्य से की जाती थी। कला-साहित्य का धर्म ही यही था कि व्यक्ति की मानसिकता के अतर्विरोध की सकीर्णता को काटकर उसे सामाजिक, सहज और सुसगत बनाए। हमारे यहा शास्त्र ही शस्त्र है, जो अधकार को काटता है। जयप्रकाश जब यह कहते है कि राज्य का यह पिरामिड उल्टा खडा है इसे उलटकर सीधा कर दो, तो उनका लक्ष्य यही है कि जो आधार है—व्यक्ति और समाज उसी की स्वयभू शक्ति पर राज्य सत्ता, उसकी राजनीति निर्भर हो। आज राज्य की राजनीति का वृक्ष उल्टा खडा है इसे उलटकर इसके आधार पर रोप दें तो इसमे 'स्वराज्य' का फल विकसित हो सकेगा।

परतु यह काम आसान नही है। इस काम का शुभारभ हमारे वर्तमान मे महात्मा गाधी ने किया। परतु इसी काम को रोकने का कार्य दुर्भाग्यवश जवाहरलाल नेहरू द्वारा हुआ। इनके राज्यकाल मे समाज के, लोक के, राष्ट्र के अनुपात से राज्यसत्ता इतनी विकराल और पथभ्रष्ट हुई कि उसके खिलाफ सघर्ष मे डा० लोहिया, जयप्रकाश, जे० बी कृपलानी आचार्य नरेंद्र देव नम्बूद्रिपाद आदि के इतने कर्म इतनी तपस्याए समुचित और सहज फल नही दे पाईं।

गाधी के द्वारा आरभ किए गए कर्म को अब कैसे आगे बढाया जाए? जनता सघ (चार सगठित राजनीतिक दलो का एक सगठन) ने काग्रेस राज्य को हराकर जयप्रकाश के नेतृत्व मे महात्मा गाधी की समाधि पर पहला सकल्प यही लिया था "महात्मा जी ने जिस कार्य का शुभारभ किया उसे हम पूर्ण करेंगे। लेकिन कैसे?

जनता सघ परिस्थितियो की देन है। इसे हम अपना सृजन, आत्मनिर्माण बना लें। सघ शक्ति गण शक्ति को उदय दे। जिन कारणो से यहा का व्यक्ति इन्डिविजुअल बनने को विवश हुआ है उन्हे धीरे धीरे मिटा दें ताकि फिर से व्यक्ति अपने 'आधार' को प्राप्त हो सके। इडिविजुअल होकर हमारा 'हम' 'मै' मे खो गया। अपने अपने अहकार मे बट गया। अपने 'मैं' के स्वार्थ के सामने न समाज रह गया न देश, न राष्ट्र चेतना। इसके लिए शिक्षा मे बुनियादी परिवर्तन हो। साथ ही घर मे, पडोस मे, मुहल्ले मे लगातार ऐसे कार्यक्रम किए जाए जहा एक दूसरे के सपर्क मे हमारा 'मैं' आए। सामाजिक सस्कार पाते ही 'मै' 'हम' हो जाएगा क्योकि हमारे भीतर हमारा बीज' मरा नही है—सघ का बीज, सगमनी का बीज। एकात्म बोध हमारे भीतर सुषुप्त पडा है इसे जगाकर चैतन्य मे परिवर्तित कर देना है। फिर धीरे धीरे प्रजा से अनुसिंचित विनय और शील से अनुप्राणित उदात्त लोक-चेतना उत्पन्न

होगी। लोकतन्त्र की हमारी जड़ें हमारे समाज में ही हैं। पर जब पश्चिम की 'डिमोक्रेसी' प्रजातन्त्र ने धीरे-धीरे उल्टे हमारे व्यक्ति और हमारे समाज को ही नष्ट कर डालना चाहा तो स्वभावतः हमारी लोकतान्त्रिक प्रकृति ही विकृत हुई। इस विकार को फिर से संस्कार देकर ('मैं' को सामाजिक बना कर) इस पश्चिमी प्रजातन्त्र के स्थान पर हम अपना लोकतन्त्र लाए। वर्तमान प्रजातन्त्र में, राज्य व्यवस्था में जिसका आधार 'इंडिविजुअल' है इसमें गांधी के कार्य को पूरा करना था। क्या इसे आगे बढ़ाना ही असंभव है। यह प्रजातन्त्र यह वर्तमान राज व्यवस्था निर्मूल राजनीतिक वृक्ष का निर्वीय बीज रहित फल है।

जिस समता बोध (संघवृत्ति) सामाजिक मूल्य (परिवार मेला—लीला बाग) और अंततः जिस लोक मानस, एकात्म मानववाद' के लिए हमारे पुरखे सदा प्रार्थना करते रहे हैं कि—साथ चलें विचार वचन और कर्म में समता हो साथ हो, सब के संकल्प का चित्त भी एक जैसा हो—इसके लिए हम अपने समय में भी प्रार्थना और कर्म करें। हमारे पुरखे इसके लिए जितने प्रयत्न किया करते थे, आज विज्ञान के सहारे उतने ही प्रयत्नों से हम सफल' होंगे। यद्यपि तब से हमारी परिस्थितियां अत्यधिक संश्लिष्ट और परस्पर विरोधी हो गई हैं।

यह याद रखना है कि कर्म और भोग (या अनुभूति) अतीत में नहीं होता, केवल वर्तमान में होता है—अब, इसी क्षण। इसलिए स्वतन्त्रता में रहना और जीना व्यक्ति की चरम अनिवार्यता है। इसीलिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाज का, राज्य का और अंततः व्यक्ति का सर्वोत्तम मूल्य और आदर्श है। पर ध्यान रहे एक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पूंजीवाद की है, जो निरंतर अधिकाधिक व्यक्तिगत मुनाफे पर आधारित है, तथा दूसरी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम्युनिस्टों की है, जिनका लक्ष्य यह है कि जब मैं दुर्बल हूं तब मैं तुम से स्वतन्त्रता मांगता हूं क्योंकि यह तुम्हारा सिद्धांत है, परंतु जब मैं बलवान हूं तब मैं तुम्हारी स्वतन्त्रता छीन लेता हूं क्योंकि यही मेरा सिद्धांत है।

स्वतन्त्रता में रहने और जीने का एक ही साक्ष्य है—हर क्षण वर्तमान में जीना। इस जीने का भी एक ही लक्षण है—उल्लास में रहना, और उल्लास-मय होने का अर्थ है जाग्रत रहना। जो जगा है, सचेतन है वह सबके साथ है—सबसे एकात्म है।

मध्ययुग के वैष्णव संतों ने इसी 'उल्लास तत्त्व' को, जो हमारे जीवन से अलग हो चुका था फिर से हमारे जीवन से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उसके बाद आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, कांग्रेस, गांधी साम्यवाद, समाजवाद, सर्वोदय, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जनसंघ आदि के आंदोलनों और कार्यक्रमों में अन्य सब कुछ था पर यही 'उल्लास तत्त्व' गायब था। बिना उल्लास के जैसे यह जीवन मरघट समान है, ठीक वैसे हमारे सारे आंदोलन, सारी राजनीति

निष्प्राण है। हमारी सारी संस्कृति, समूचे जीवन का 'बीज' ही है 'उल्लास'। इसी उल्लास वृक्ष के पुष्प हैं अनुष्ठान, पूजा गुरु-भक्ति, मातृपूजा, शांति भाव, लीला साहित्य, संगीत और कला का महाभाव, और इसी का फल है मुक्ति या मोक्ष।

हमारा यह राष्ट्रीय सांस्कृतिक वृक्ष जिस धरती पर उगा और खड़ा है उसका आधार ही है—समता अभ्युदय और निःश्रेयस। यही आधार तो नष्ट हुआ हमारी गुलामी में अंग्रेज़ों की राजनीति में और कांग्रेस राज्य में। इसने हमें हमारी धार्मिक बुनियाद से ही 'धर्मनिरपेक्षता' के नाम पर उखाड़कर फेंक दिया। इसकी शिक्षा नीति ने धर्म के प्रति, धार्मिक संस्थाओं और संस्कारों के प्रति और अंततः संपूर्ण जीवन के प्रति प्रतिक्रिया का भाव पैदा किया।

व्यक्ति और समाज का कोमलतम सारतत्त्व है धर्म। जब भी व्यक्ति और समाज में धर्म, अर्थ काम—इन तीनों में से किसी एक के प्रति एकांगिता का भाव पैदा होता है तो उससे उत्पन्न विकार से सबसे पहले नष्ट होता है यही धर्म, अपनी कोमलता और अति संवेदनशीलता के कारण। स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद से लेकर स्वामी दयानंद, तिलक और गांधी तक जब अंग्रेज़ों ने यह देखा कि ये महापुरुष राजनीति नहीं धार्मिक नवजागरण और धार्मिक परिशुद्धि के लिए इतने कार्यरत हैं तो वे घबरा गए। अंग्रेज़ों ने बदनाम करना और अनेक तरह से दबाव डालना शुरू किया कि ये राजनीति में धर्म घुसेड़ रहे हैं पर इन महापुरुषों ने भारतवर्ष की मूल समस्या को पकड़ लिया था और जीवनपर्यंत उसी धार्मिक चेतना को नए सिरे से प्रज्वलित करने का अथक प्रयत्न किया। इन महापुरुषों ने हर तरह से एक ही मर्म की बात कही है कि धार्मिक चेतना का सतत निरंतर परिशुद्धि और परिष्कार नहीं किया जाए तो यही चेतना सबसे जल्दी और सबसे पहले विकार से ग्रस्त हो जाएगी जब कि यही चेतना संपूर्ण जीवन का उत्स है केंद्र और आधार है। जो मूल उत्स से बहेगा वही तो सारे जीवन में चरितार्थ होगा। इसलिए उत्स परिशुद्ध, परिष्कृत होकर प्रज्वलित हो जाए तो पूरा समाज, राज्य और राजनीति, जीवन और व्यक्ति की सारी कलाएँ सारे उद्योग सहज ही शुद्ध और परिष्कृत हो जाएँगे। हमारे इतिहास में यह संकल्प जब-जब हुआ है तब तब भारत चेतना के ऊँचे शिखर पर पहुँचा है। इतिहास में इसका पहला साक्ष्य हमें अशोक में मिलता है। 'धर्म समभाव', धर्मों का जब संगम होता है तब राष्ट्र जगता है और देश का उत्थान होता है। अर्थात् जब प्रत्येक 'स्व' को स्वधर्म प्राप्त होता है और सारे स्वधर्मों के संगम से राष्ट्र को जो चिति प्राप्त होती है फिर उसी में सबका अभ्युदय होता है। 'स्व' का अभ्युदय अर्थात् राष्ट्र का अभ्युदय। 'स्व' का निःश्रेयस की प्राप्ति अर्थात् पूरे देश का निःश्रेयस की प्राप्ति। हमारे समय में यही संकल्प महात्मा गांधी का था। पर इसके ठीक

विपरीत जवाहरलाल नहरू की तथाकथित 'धमनिरपेक्ष' राजनीति थी जिसका कुफल आज हम भोग रह ह ।

हम यह नही भूलना चाहिए कि राज्य स्वय किसी 'रेलिजन' विशेष का पक्ष नही लेगा, वरन् राज्य सार 'रेलिजम' का विकसित होन देगा—यह है पश्चिम की धम निरपक्षता। इसीलिए पश्चिम के प्रजातत्र क इतिहास म 'रलिजन' का सबसे अधिक विकास हुआ ह । परतु हमार यहा धम-निरपेक्षता के नाम पर धम के प्रति, धार्मिक चेतना के प्रति धार्मिक सस्थाओ के प्रति ग्लानि का, घणा आर अपमान का जा भाव इन तीन दशका म पैदा हुआ वह भयकर है इस दश के प्रति, और विश्वासघात है इस राष्ट्र के प्रति ! महात्मा गाधी की यह बात कि "चूकि मैं धार्मिक हू तभी राजनीति म हू" सदैव याद रखनी होगी ।

शक्ति कहा स आती ह ? पद स, सत्ता स, कुर्सी से जनता मे अखबारो से, रैली आर जय-जयकार स ? जी नही । शक्ति का स्रात ह अपने भीतर—'स्वधम' म, 'स्वराज्य' म । जा आत्मधम मेरे भीतर है वही जब नायक के राजनता के कर्म म, व्यवहार म, चरित्र म प्रकट हो जाए तभी ता सारा रूपक सफल होगा अन्यथा नही, यही ह हमारा सास्कृतिक चित्त । जो लोक म ह वही जिस नायक म अभिव्यक्त हा जाए वही है हमारा लाकनायक जसे बुद्ध, रामकृष्ण परमहस, महात्मा गाधी । बुद्ध को लाकनायक कहते हुए नागाजु न ने लोकनायक क स्वरूप का बताया ह वदताम् वरम्, अनाथानाम नाथ नोकानाम लोकनायक । ऐस लाकनायक थे गौतम बुद्ध जिसके फल थे सातवाहना के राज्य । जब ऐसा लोक था ता उसका फन था वह राजधर्म जिसका साक्ष्य ह चाणक्य ।

इस लाक का निमाण, अथवा लाकादय, हमार पुरखा न आत्मदशन और ब्रह्मदशन के दा ध्रुवो का एक बिदु रूप म परिणत करके किया था—हमार समय म जिसके ज्वलत उदाहरण ह विवेकानद, स्वामी दयानद अरविंद, गाधी । आत्मदशन और ब्रह्मदशन के बीच म जा कडी है कम की राजनीतिक कम भी इसी भाव स लना हागा, तभी यह फल का प्राप्त हागा । यह राजनीति तभी लोकनीति होगी जब इसके नतागण यह देखे और सकल्प लें कि व स्वय अपने कम के कता ह, भाक्ता ह इसलिए उनका प्रत्यक कम उनका हाते हुए भी दूसर के प्रति दान ह उनका प्रत्यक व्यवहार अपन प्रति हाते हुए भी समाज के प्रति जप है और उनका प्रत्यक आचरण आर भाग अपने प्रति होते हुए भी देश के प्रति तप है । यही धर्म है । धम मान सपूण आचरण । तभी हमार यहा प्रत्यक दान प्रत्यक जप, प्रत्येक तप के अत म यह सकल्प अनिवाय है 'न मम'—यह अब मेरा नहीं ।

हमार यहा एक अत्यत प्रचलित लोककथा है एक सुगना था जा किसी वृक्ष स अमृतफल अपनी चोच म दवाए कहा किसी को देन जा रहा था ।

वह आकाश म उडा जा रहा था और पीछे मे लगातार आवाज आ रही थी—सावधान ! मुडकर पीछे दखा ता उसी क्षण जनकर राख हो जाओग !

भारतीय मानस बार-बार अपन अतीत मे इतना क्यो जाता है ? वह दर असल अपने उस मूल की ओर, अपन 'बीज', अपन आदिस्रात की ओर खिचकर जाता है उससे जुडन के लिए। एक बार मूल से जुड जाए ता स्वभावत वह अपन वतमान मे रहगा, अपने पूण 'स्व' और अपने पूण ऐतिहासिक गौरव के साथ जिएगा और सुफल होगा।

□ □